मूक माटी : चेतना के स्वर

लेखक

प्रोफेसर डॉ भागचन्द्र जैन 'भास्कर'

एम ए (संस्कृत पालि-प्राकृत प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति व पुरातत्त्व) पी-एच डी (श्रीलंका) डी लिट (पालि-प्राकृत) डी लिट् (संस्कृत)
साहित्याचार्य साहित्यरत्न शास्त्राचार्य आदि
अध्यक्ष पालि-प्राकृत विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय

ज[illegible]ानी चेरिटेबल ट्रस्ट

एवं

आलोक प्रकाशन

(सन्मति रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डॉलाजी)

१९९५

प्रकाशक

जेजानी चैरिटेबल ट्रस्ट - द्वारा ऋषभ कुमार जेजानी फोन नं ४२७०८

जेजानी सदन भाजी मण्डी, इतवारा नागपुर - ४४०००२

[illegible]

एवं

आलोक प्रकाशन

सन्मति रिसर्च इन्स्टीट्यूट आफ इण्डालाजी फोन नं [illegible]

न्यू एक्सटेंशन एरिया सदर नागपुर - [illegible]

१८६० अधिनियम के अन्तर्गत रजिस्टर्ड - महाराष्ट्र [illegible]

मूक माटी चेतना के स्वर

डॉ भागचन्द्र जैन भास्कर

प्रथम संस्करण - [illegible]

मूल्य - पचास रूपये

मुद्रक

[illegible]

[illegible]

नागपुर-४४०००८

Mooka Mati Centana ke Swara

ISBN NO 81-85783-25-X

Price Rs 50/-

रत्नत्रय के संसाधक, चारित्र-चूडामणि



महाकवि आचार्य श्री विद्यासागरजी

एवं उनके साधनारत संघ को

सादर समर्पित

प्रकाशकीय निवेदन

आचार्यश्री विद्यासागरजी जैन श्रमण साधना के मूर्तिमान साधक और तपस्वी हैं। उनका समूचा संघ तीर्थंकर महावीर का संघ जैसा दिखाई देता है। इस संघ की साधना बेजोड़ है। समूचा संघ ज्ञान, ध्यान और तपस्या में लीन है, स्व-पर कल्याण में आगरूमान है।

हमारा परिवार एक लम्बे अरसे से आचार्यश्री का परम भक्त रहा है। उनकी अनमोल कृति 'मूक माटी' पढ़कर लगा कि यह हिन्दी का एक अनूठा महाकाव्य है। पर इस समझने के लिए ऐसी ही एक व्याख्या कृति की भी आवश्यकता महसूस की जो उसके निमित्त-उपादान की व्याख्या भलीभाँति कर सके। इस आवश्यकता की पूर्ति कर दी ससम्मान्य डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर' ने जो स्वयं कवि हैं और जैन-बौद्ध संस्कृति के अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान और लेखक हैं। सन् १९९२ में उनकी कृति 'मूक माटी एक दार्शनिक महाकृति' हमने अपने जेजानी चैरिटेबल ट्रस्ट से प्रकाशित की थी जिसपर उन्हें इक्कीस हजार का राष्ट्रीय स्तर का रामपुरिया पुरस्कार भी प्राप्त हुआ था।

इस अनुपम कृति की माग बहुत समय से थी। द्वितीय संस्करण निकालना अनिवार्य हो गया। हमने डॉ. भास्करजी से निवेदन किया कि इसे अब एक और नये आकार-प्रकार में प्रस्तुत किया जाये। उन्होंने हमारे आग्रह को स्वीकार किया और उसे इतना परिमार्जित - परिवर्धित कर दिया कि वह दुगुनी-सी हो गई। उसमें अनेक अध्याय और नई उद्भावनाये जुड़ गई। इसलिए लगभग नई कृति होने के कारण अब हम इसे 'मूक माटी: चेतना के स्वर' शीर्षक से अभिनव कृति मानकर प्रकाशित कर रहे हैं। आशा है पाठक गण इसे स्वीकार करेंगे। हम सभी डॉ. जैन के कृतज्ञ हैं।

इस प्रकाशन में हमारे पूज्य पिताश्री बाबूलालजी जजानी का विशेष उत्साह रहा है। वे स्वयं एक प्रतिमाधारी साधक हैं, सरल स्वभावी हैं। उनकी निस्पृहता का समादर हमारा समूचा परिवार करता है। उनके अतिरिक्त इस प्रकाशन के लिए बाहुबलि ट्रेडिंग कम्पनी अनाजबजार नागपुर के प्रसिद्ध व्यवसायी उदारमना श्री मोतीलाल जैन तथा पेपर व्यापारी महेन्द्र ट्रेडर्स सन्स के मालिक श्री नरेन्द्र कुमार दिलीप कुमार के आभारी हैं जिनके आर्थिक सहयोग से यह प्रकाशन और भी सरल हो गया। आचार्यश्री जैसे महान् राष्ट्रसन्त की कृति पर प्रस्तुत समीक्षात्मक ग्रन्थ प्रकाशित करने का जो सौभाग्य हमें मिला है उसे हम अपना अहोभाग्य मानते हैं।

नागपुर
दि. [illegible]

ऋषभकुमार बाबूलाल जेजानी
जेजानी चैरिटेबल ट्रस्ट
इतवारी, नागपूर ४४०००२

आत्मनिवेदन

आचार्य श्री विद्यासागरजी जैन श्रमण साधना के परम वीतरागी दिगम्बर साधक हैं और हैं एक ज्ञानाराधक जिन्होंने 'मूक माटी' जैसे अनुपम हिन्दी महाकाव्य का सृजन किया है। निश्चय और व्यवहार की अर्थवत्ता को सार्थकता और प्रभावकता के साथ प्रस्तुत करना इस काव्य की विशेषता रही है। उसने इस विधा को काव्यात्मक प्रस्तुति में स्वयं को एक बेजोड़ महाकाव्य के रूप में प्रस्थापित भी कर लिया है।

पूज्य ऐलकश्री अभयसागरजी के आग्रह पर मैंने सन् १९९१ में 'मूक माटी' पर एक समीक्षात्मक कृति लिखना प्रारम्भ किया था जो १९९२ में 'मूक माटी एक दार्शनिक महाकृति' शीर्षक से जैजानी चेरिटेबल ट्रस्ट से प्रकाशित हुई थी। इसे १९९३ में रामपुरिया पुरस्कार से सम्मानित भी किया गया था। मूक माटी को बाद में हमने जब-जब भी पढ़ा लगा कि इस पर और भी लिखा जाना चाहिए। इसलिए हमने पुनः लिखना प्रारम्भ किया। फलतः इसमें तीन अध्याय नये जुड़े और दो अध्यायों में आमूल परिवर्तन हुआ। इसलिए इसने लगभग एक नयी कृति के रूप में जन्म लिया है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर अब इसे "मूक माटी चेतना के स्वर" शीर्षक से प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है सुधी पाठक इसे स्वीकार करेंगे। इसमें हमारा प्रयत्न यह रहा है कि मूक माटी को जैन अध्यात्म और दर्शन की ही आँखों से न देखा जाये बल्कि उसे आधुनिक हिन्दी काव्य साहित्य के क्षेत्र में कलात्मक दृष्टि से भी मूल्यांकित किया जा सके। इसलिए हमने यथास्थान इसकी तुलना महाकवि प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी वर्मा आदि कवियों से की है। कहाँ तक हम उसमें सफल हो पाये हैं इसका निर्णय हम पाठकों पर छोड़ते हैं।

भाई ऋषभकुमार जैजानी स्वयं एक प्रबुद्ध धार्मिक नवयुवक हैं। आचार्यश्री के प्रति उनकी और उनके समूचे परिवार की अटूट भक्ति है। 'मूक माटी' महाकाव्य की महत्ता और गुणवत्ता को उन्होंने समझा है और उदारचेता भाई मोंजीलाल जी तथा श्री नरेन्द्र कुमार दिलीप कुमार जैन के सहयोग से उन्होंने इस 'मूक माटी चेतना के स्वर' कृति को प्रकाशित करने का स्तुत्य बीड़ा उठाया है। मैं इन सभी धर्म प्रेमी महानुभावों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ और आशा करता हूँ कि भविष्य में भी वे इसी तरह साहित्यिक अभिरुचि बनाये रखेंगे।

प्रस्तुत कृति को तैयार करने में हमें अपनी पत्नी डॉ. पुष्पलता जैन रीडर एवं विभागाध्यक्षा हिन्दी विभाग, एस. एफ. एस. कालेज नागपुर से तो सहायता मिली ही है, पर साथ ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से और भी जिन विद्वानों के ग्रन्थों का उपयोग इस ज्ञानयज्ञ में हुआ है हम उन सभी विद्वज्जनों के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

कस्तूरबा वाचनालय के पास
सदर, नागपुर - ४४०००१

डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर
फोन नं. : ५४१७२६

अनुक्रमणिका

प्रथम परिवर्त

आचार्यश्री विद्यासागर : व्यक्तित्व और कृतित्व

व्यक्तित्व की कसौटी उसकी प्रतिभा और चरित्रनिष्ठा हुआ करती है। उसका कृतित्व और उसकी रचनाधर्मिता भी इन्हीं सद्‌गुणो मे खिलती है, पलती-पुसती है। आचार्यश्री विद्यासागरजी ज्ञानी, ध्यानी और तपस्वी महत्मा है, वीतराग-पथ पर वेदाग ससघ चलने वाले मूक साधक हैं। उनका अध्ययन, मनन और चिन्तन काव्य प्रतिभा से अनुस्यूत होकर व्यक्ति और समाज को नया परिवेश देने का सकल्प करता है और व्याख्यायित करता है ऐसी श्रमण सस्कृति को जो विशुद्ध समतावादी और मानवतावादी है। आचार्यश्री का सारा सघ भी आचार-विचार का धनी है। उनका समूचा शिष्य-परिकर ज्ञानध्यान-साधना मे अविरल निरत है। वीतरागता की प्राप्ति मे उनका चिन्तन और मनन एक आदर्श सूत्र बन गया है। इस की पृष्ठभूमि में महर्षि आचार्यश्री विद्यासागरजी का महनीय योगदान है। उनकी अपार विद्वता और पुनीत साधना के सदर्भ मे महानीतिज्ञ चाणक्य की निम्न उक्ति बिलकुल सार्थक और सटीक लगती है -

शैले शैले न माणिक्य मौक्तिक न गजे गजे ।
साधवो न हि सर्वत्र, चन्दन न वने वने ॥

वृद्ध पीढी को सस्कारित करना सरल नही है। उसे मोड़ा अवश्य जा सकता है। आज यह माना जा रहा है कि नई पीढी आध्यात्मिकता से शून्य है, वह भौतिकता के राग-रगो मे अधिक रची-पची है। पर यह भी सोच पूर्णत सही नही माना जा सकता। वस्तुत नई पीढी को आदर्श परिवार का आदर्श भरा यथार्थ आचरण चाहिए है जिसमे कोई मुखोटा और धोखा भरा व्यवहार न हो। युवा पीढी मे अध्यात्म चेतना और दायित्व धारणा की कमी नही है। उसमे आत्मविश्वास, श्रद्धा और आचरण के सुसिञ्चित बीज प्रसफुटित हैं, सामुदायिक चेतना और एकसूत्रता की नियोजन शक्ति है, अनुशासन का सूत्र सवलित है, आत्मनिर्माण की दिशा पाने की उत्कट इच्छा है, पर उसे वैज्ञानिक रीति से धर्म के यथार्थ स्वरूप की न निकटता मिल पा रही है और न मिल पा रहा है मानवीय चरित्र से आपूरित जैनधर्म और सस्कृति का वास्तविक परिवेश। आचार्यश्री

और उनका सघ, लगता है, इस कमी को भलीभाति समझता है, जानता है, इसलिए वह नई और पुरानी पीढी के सामने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आधार शिला पर बैठकर समाज और राष्ट्र के बीच नई चेतना के निर्माण मे जुटा हुआ है। 'मूक माटी' महाकाव्य इस दिशा मे साहित्यिक अवदान लेकर दीपस्तम्भ के रूप मे हमारे सामने प्रस्तुत हुआ है जिसका सही मूल्यांकन अभी भी शेष है।

आचार्यश्री विद्यासागरजी द्वारा रचित यह 'मूक माटी ' महाकाव्य आधुनिक हिन्दी साहित्य की एक अनुपम दार्शनिक महाकृति है। मूल्यांकन करते समय उसकी निमित्त - उपादान की दार्शनिकता को समझे बिना उसके साथ न्याय करना सभव नहीं होगा। यह महाकाव्य व्यक्ति की उपादान शक्ति पर विश्वास करता है और उसको उन्मेषित करने के लिए निमित्तो की आवश्यकता स्वीकार करता है। निमित्त और उपादान के सवलित प्रयत्नो से व्यक्ति का व्यक्तित्व रूपान्तरित होता है और सन्तो की सगति से हेयोपादेय विज्ञान प्रस्फुटित होता है।

ससार एक महासागर है जिसमे ढेर सारे रत्न भरे हुऐ हैं। ये रत्न कीमती तो हैं ही भैतिकता की दृष्टि से, पर आध्यात्मिक चितन भी उनसे उन्हे मिलता है जो वासनाओ की प्रताडना से मुक्त होकर वीतरागता के पथ पर आरूढ होना चाहते हैं। ऐसे साधक जीवन की पोथी को बडी सावधानी से पढते है और ऐसी शिक्षा को आत्मसात करते हैं जो उन्हे भीड से दूर रहकर अकेले रहने का साहस जुटा देते है। अकेला वही रह सकता है जिसने अपने आपको जान लिया हो और पर पदार्थों से मुह मोड लिया हो। निर्भयता के साये में पली-पुसी एकत्व और अन्यत्व की अनुभूति ममकार का विसर्जन करा देती है और मैत्री-प्रमोद कारुण्य - उपेक्षा के ऐसे बीज बो देती है जिनसे निर्वाण रूप महावृक्ष खडा हो जाता है। मूक माटी ऐसा ही महावृक्ष है जिसके नीचे खडे होकर पथिक अध्यात्म के प्रति आस्था और जागरूकता पैदाकर लेता है चेतना के विभिन्न स्वरों मे अपना स्वर मिलाकर नयी क्रान्ति उत्पन्न कर लेता है और पा लेता है उपशमन के उस साधन को जो विवेक चेतना को जाग्रत कर स्वस्थ दृष्टिकोण को गहरा देता है।

महाकाव्यकार और उनके प्रतिभा प्रसून

अनुपम महाकाव्य 'मूक माटी' के रचयिता आचार्य विद्यासागरजी बाल्यकाल के नटखटी विद्याधर हैं, जिनका जन्म आश्विन शुक्ल १५, संवत् २००३ (शरद

पूर्णिमा), तदनुसार १० अक्टूबर, १९४६ दिन गुरुवार रात्रि साढे ग्यारह बजे सदलगा (जिला बेलगाँव, कर्नाटक) गाँव में हुआ। उनके पिताश्री मल्लप्पा अष्टगेऔर माताश्री श्रीमती दिगम्बर जैनधर्म के आचार-विचार में रचे-पचे सद्गृहस्थ थे। दोनों दम्पति प्रकृति से दयार्द्र और सरल थे, अक्किवाट (ऋद्धिधारी मुनि भट्टारकविद्यासागर का स्मारक) के उपासक थे और वे अत्यन्त शान्त, कर्तव्यपरायण, स्वाभिमानी धार्मिक चिन्तक। उनकी दस सन्तानों में से छ सन्तानें ही जीवित रह सकीं, जिनका क्रम है — महावीरप्रसाद, विद्याधर, शान्ता, सुवर्णा, अनन्तनाथ, और शान्तिनाथ। समृद्ध और दानशील इस परिवार के सम्यक् शिक्षण और आचरण के वातावरण ने बालक विद्याधर को आचार्य विद्यासागर बना दिया। प्रारम्भ से ही कुशाग्र प्रतिभा और अध्यवसाय ने बालक को शाला की सीढियों पर अधिक चढने की आवश्यकता महसूस नहीं होने दी और मोड दिया उसे विरागता के पथ पर, जिसका सस्कार मिला था आचार्य शान्तिसागर जी के मधुर प्रवचन से, मात्र नौ वर्ष की अवस्था मे।

ये सस्कार दृढतर होते गये और विराग का स्वर गंभीर होता गया। एक दिन चल पडे वे जयपुर (राज) की आध्यात्मिक यात्रा पर, जहाँ उन्हें आचार्य देशभूषणजी का सान्निध्य मिला और कुन्दन-सा उनका व्यक्तित्व निखरने लगा। रात-दिन स्वाध्याय, मनन और चिन्तन में वे लीन हो गये, ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया और अग्रिम आध्यात्मिक पथ को पाने की तैयारी करने लगे। सघ के साथ सन् १९६७ में हुए श्रवणबेलगोला के मस्तकाभिषेक महोत्सव में भी वे सम्मिलित हुए, पर उन्होंने वहाँ अधिक रुकना उपयुक्त नही समझा और फलत सीधे वे अजमेर (राज) पहुँचे, जहाँ निकटवर्ती मदनगज (किशनगढ) मे आचार्य पूज्य ज्ञानसागरजी अपनी तपोसाधना में लीन थे। युवक विद्याधर उनके चरण–कमलों में बैठकर पूरे मनोयोग से अध्ययन और साधना में लीन हो गये। आचार्यश्री ने युवक विद्याधर में प्रतिभा, क्षमता, कर्मठता और निरतिचारपूर्वक चारित्र का परिपालन देखकर आसाढ सुदी ५ वि स २०२५, तदनुसार ३० जून १९६८ रविवार के दिन सीधे मुनि दीक्षा दे दी और इसी क्रम में उन्होंने उन्हें नसीराबाद (राजस्थान) में मृगसिर कृष्ण द्वितीया, बुधवार यानी २२ नवम्बर १९७२ को आचार्यपद से विभूषित कर दिया।

ज्ञानी, ध्यानी, चारित्र-निष्ठ महायोगी आचार्य विद्यासागरजी, आज आचार्य शान्तिसागर जी की शिष्य परम्परा को पूरी कुशलता के साथ आगे बढा रहे हैं। उन्होंने अपने संघ का चतुर्मुखी विकास किया है, लगभग पैतालीस उच्च सुशिक्षित युवकों को मुनिदीक्षा, ऐलक-क्षुल्लक दीक्षा देकर आध्यात्मिक क्षेत्र में नये धार्मिक

वातावरण का निर्माण किया है, काफी विद्यालयों की स्थापना कर समाज एवं महिला वर्ग में अभूतपूर्व धार्मिक चेतना का जागरण किया है एवं लगभग सत्ताईस ब्रह्मचारिणी बहिनों को आर्यिका दीक्षा देकर नारी वर्ग में भी चेतना के स्वर फूंके हैं। और पिसनहारी मढिया जैसी दसों सस्थानों के जीवन-संचार में नया प्राणदान दिया है। कुण्डलपुर, नैनागिरि, थूबोनजी, अहारजी, पपौराजी, मुक्तागिरि जैसे क्षेत्र उनके चतुर्मासों से जिसप्रकार लाभान्वित हुए हैं, वह अपने आप में एक बेहद बडी मिसाल है। उनका ही एक ऐसा साधु सघ है जिसमें ज्ञान, चारित्र और तप की त्रिवेणी अपनी पूरी आस्था और उत्साह के साथ प्रवाहित हो रही है और आधुनिकता की निदाघ से सतप्त समाज उसके स्वच्छ और ठडे जल से सिञ्चित होकर सतोष का अनुभव कर रही है।

आचार्यश्री का संघ मात्र ज्ञान और तपोसाधना में नहीं, बल्कि साहित्य-साधना के क्षेत्र में भी काफी आगे बढा हुआ है। उनके सघ में तन्त्रज्ञ, कला स्नातक, कवि, आगम-मर्मज्ञ, बहुभाषाविज्ञ और कुशल उपदेशक हैं। आचार्यश्री के नेतृत्व में उनके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हो रहा है। इसलिए समाज से उन्हें अगाध आत्मीयता और श्रद्धामूलक सम्मान मिल रहा है। समाज भी उनके उपकार से अपने आपको गौरवान्वित महसूस कर रहा है।

आचार्यश्री के चिन्तन, लेखन और प्रवचन में सरस्वती उतरती दिखाई देती है। उनका चिन्तन जब भी शब्दों का आकार लेता है, वह एक अनूठी काव्य-श्रृखला बन जाती है। वे यद्यपि मूलत: कन्नडभाषी है, पर मराठी, हिन्दी, सस्कृत, प्राकृत, बगला और अग्रेजी भाषाओं पर भी उनका समान प्रभुत्व है। इन भाषाओं में रचित उनका साहित्य उनकी प्रतिभा के सुगंधित प्रसून हैं, जिनकी महक सहृदयी काव्य चेताओं और आस्थावान् श्रोताओं में एक ऐसा साधारणीकरण उत्पन्न कर देता है जो उन पर अमिट छाप छोडे बिना विराम नहीं लेता। उनकी साहित्यिक चेतना को हम सरसरी निगाह से यों देख सकते हैं।

१) शतक साहित्य : आचार्यश्री का सस्कृत तथा हिन्दी शतक साहित्य उनकी कल्पना और गंभीर चिन्तन का परिणाम है। उनके शतकों में मुक्तक शतक निजानुभव शतक (हिन्दी), निरंजन शतक, परिषहजय शतक, भावना शतक तथा सुनीति शतक, और श्रमण शतक ने सस्कृत काव्य जगत में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। आचार्यश्री ने इन पाँचों संस्कृत शतकों का हिन्दी भाषानुवाद करके हिन्दी-शतक परम्परा को भी समृद्ध किया है। इन शतकों पर डॉ. आशालता मलैया ने अपना पी-एच डी शोध प्रबंध "संस्कृत शतक परम्परा

और आचार्य विद्यासागर के शतक" लिखकर उनकी विशेषताओं पर सुन्दर प्रकाश डाला है। अत इस शतक साहित्य पर कुछ लिखना मात्र पुनरुक्ति होगी।

फिर भी कतिपय विशेषताओं पर प्रकाश डालना आवश्यक- सा लग रहा है-

१) श्रमण शतकम् - श्रमण शतकम् (वि स. २०३१, अजमेर) का सन्दर्भ जैन साधु की आचार-प्रक्रिया तथा विचार-मन्थन से है जो उसे मोक्ष-पथ प्राप्ति की ओर आगे बढाता है। विशुद्ध परिणति और निजानुभव उसकी थाती है, रागादि भाव उसके स्वभाव नहीं हैं, पर-भाव हैं, इन्द्रिया और शरीर उसके लिए परावलम्बन हैं। इसलिए मुमुक्षु साधक संसार में रहकर भी उसी प्रकार उससे विरत रहता है जिस प्रकार जल में रहकर भी जलज जल से भिन्न रहता है -

स्वानुभवकरणपटवस्ते तान्विकतपस्तनूकृततनवः।
विविक्तपटाश्च गुरवस्तिष्ठन्तु हृदि मे मुमुक्षवः ।।११।।
जलाशये जलोद्भवमिवात्मान भिन्नं जलतो ऽनुभव ।
प्रमादी मा ऽ ये भव भव्य विषयतो विरतो भव ।।३३।।

२) भावना शतकम् · यह शतक वि.स.२०३२ में श्री महावीरजी में लिखा गया। इस शतक में तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करने वाली सोलह भावनाओं का मधुर वर्णन है - दर्शनविशुद्धि, विनय-सम्पन्नता, सुशीलता, अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग, सवेग, दान, तप, साधुसमाधि, वैयावृत्त्य, अर्हद्भक्ति, आचार्य भक्ति, बहुश्रुत भक्ति, प्रवचनभक्ति, अवश्यकापरिहाणि, मार्गप्रभावना और प्रवचन-वत्सलत्व। यह शतक भी आर्याछन्द में निबद्ध है। ये भावनायें सवेग और विशुद्ध परिणति को सुस्थिर बनाये रखती हैं तथा साधक के सवर और निर्जरा तत्त्व को उभारकर मोक्ष के मार्ग को प्रशस्त करती है।

चञ्चलचित्तसवरं कलयति च कुरुते ऽयं विधिसंवरं ।
विमद-मलीमसंवर गता मुनय आहु: संवरम्।।२७।।

इस काव्य में मुरजबन्ध का प्रयोगकर कवि ने चित्रालकार का प्रयोग किया है।

३) निरञ्जनशतकम् निरञ्जनशतकम् (वी.नि स २५०३, कुण्डलपुर) द्रुतविलम्बित छन्द में निबद्ध है जिसमें चेतना की विशुद्धावस्था पर गहन चिन्तन

किया गया है। उस निरञ्जन आत्मा का ज्ञान इतना विराट और महिमाशाली होता है कि विशाल आकाश भी अणुवत् प्रतीत होता है।

सति—तिरस्कृत—भास्कर लोहिते,
महसि ते जिन? वि सकलो हिते ।
अणुरिवात्र विभो ! किमु देव न !
वियति म प्रतिभाति तदेव न ।।२।।

सजल मेघ की गम्भीर ध्वनि से जिस प्रकार मयूर हर्षित होता है, उसी प्रकार निरञ्जन प्रभु की गुरु गम्भीर ध्वनि से कवि प्रसन्न हो रहा है।

मुदमुपैमि मुनि र्मुनि भावतो,
मुखमुदीक्ष्य विभो! सुविभावत !
जलभृत जलद जलदा ध्वनि,
किल शिखीव गत सुगुरु ध्वनिम् ।।३३।।

श्रमण शतकम् और भावनाशतकम् के समान इस शतक में भी भाषा लालित्य है। उसका प्रसाद गुण अलकारो से दब नही पाया बल्कि शब्दो के पीछे वह दौड-सा लगाता दिख रहा है। इसमें यमक, श्लेष, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलकारों की छटा देखते ही बनती है।

४) परीषहजयशतकम् परीषहजयशतकम् (वी नि स २५०८, कुण्डलपुर) द्रुतविलम्बित छन्द में निबद्ध एक आध्यात्मिक काव्य है जिसमें बावीस परीषहों का हृदय-हारी वर्णन है। उदाहरण के तौर पर रोग परीषह के विषय में कहा है कि शारीरिक रोगों का आक्रमण मुनियो के मनको विचलित नही कर सकता। क्योंकि मुनिजन आत्मिक आरोग्य के लाभ में लीन रहते है। आन्तरिक आरोग्य के समक्ष दैहिक रोगों की शक्ति स्वयमेव क्षीण हो जाती है।

बुधनतः स मुनिप्रवरो गत,
समयता नितरा भवरोगत. ।
न हि बिभेति सुधीस्तनुरोगतः,
स्तुतिरतो जिन ! ते गतरोगत ।।६७।।

इस शतक में भी अलंकारों की भरमार है पर उससे रोचकता और सरसता में कोई कमी नही आयी। यहां भी शान्तरस का प्रवाह हर पद में दिखाई देता है।

५) **सुनीतिशतकम्** - सुनीति-शतकम् (वी.नि स २५१०, ईसवी)उपजाति वृत्त में बधा नीतियो का अनुपम सग्रह है जो अपेक्षाकृत सरल पर गभीर है और हृदयावर्जक है। उदाहरणार्थ - पूर्ण विरागता की साधना गृहस्थ के लिए असम्भव है। जिस प्रकार आर्द्रता के कारण ईंधन में से धूम उत्पन्न होता है, वहीं शुष्क इधन से निर्धूम ज्वाला निकलती है। सरागता का कुछ अश गृहस्थ जीवन में अनिवार्य रूप से रहता है। अत वीतरागता का पूर्ण अनुभव सन्यासी ही कर सकता है।

> **धूम्र प्रसूति र्ज्वलतो यथास्या**
> **दार्द्रेन्धनात् सा नियदेह दृष्ट्या**
> **विरागदृष्टे र्नहि पुष्टि तुष्टी**
> **स्यात्ता गृहे सा तु सरागव सृष्टि ॥४॥**

इस काव्य में आध्यात्मिक नीतियों का ही समावेश हुआ है जिनमें आत्मोत्थान, निर्विषयात्मकता और ससार मुक्ति के विषय पर अधिक बल दिया गया है। इसमें भी प्रसाद गुण और शान्तरस ही प्रधान होकर सामने आया है।

वस्तुतः सभी शतकों में शान्तरस ही प्रधान रस के रूप में प्रयुक्त हुआ है। कवि का कथन है कि जिस प्रकार तिलक के बिना चन्द्रमुखी सुशोभित नही होती, उद्यम के बिना किसी भी देश की शोभा नहीं होती, सम्यक् दृष्टि के बिना मुनि का चरित्र सुशोभित नहीं होता, उसी प्रकार शान्तरस के बिना कवि का काव्य भी शोभायमान नही होता।

> **विनात्र रागेण वधूललाटो,**
> **विनोद्यमेनापि न भातु देशः ।**
> **दृष्ट्या विना सच्च मुने र्न वृत्तं,**
> **रसेन शान्तेन कवे र्न वृत्तम् ॥ सुनीतिशतक ॥२०॥**

तभी तो कवि ने अपने सभी शतकों की आधारशिला शान्तरस को बनाया है। इसीलिए तो भावनाशतक में उसे सत्काव्य को शोभित करने वाला तत्त्व कहा है (पद्य

३०)। निरञ्जनशतक में शशि-बिम्ब से निसृत शीतलता से भी अधिक आल्हादकारी माना है (पद्य ७९), और श्रमणशतक में उसे अलौकिक आनन्ददायक चित्रित किया है (पद्य २६)।

ये शतक मात्र आध्यात्मरस के ही आवाहक नहीं है बल्कि इनमें यमक, श्लेष, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विरोधाभास, आदि जैसे विशिष्ट अलकारों का प्रयोगकर विषय को अधिक गम्भीर और प्रभावक बना दिया है। इसके बावजूद कही भी भाषा बोझिल नही हो पायी है । कल्पनाओं की अनूठी दौड में प्रसाद गुण सदैव साथ रहा है।

२) अनुदित साहित्य आचार्यश्री एक कुशल काव्यानुवादक हैं। कुशल अनुवादक होना सरल नही है। मूल लेखक के भावों की तह तक पहुचकर समरसता पूर्वक उसके शब्दो को अपने शब्दों में अनुकृत करना सफल अनुवादक की पहिचान है। पाठक को ऐसे अनुवाद में यह आभास नहीं हो पाता कि वह अनुवाद पढ रहा है। आचार्यश्री ने यह सिद्ध-हस्तता प्राप्त कर ली है। उनके पद्यानुवादों में उल्लेखनीय हैं - **इष्टोपदेश** (वसततिलका एव ज्ञानोदय छन्द में अलग-अलग) **गोमटेश थुदि, द्रव्यसंग्रह** (वसत तिलका एव ज्ञानोदय छन्द में अलग-अलग) **योगसार, समाधि-तन्त्र, एकीभाव स्तोत्र** (मन्दाक्रान्ता छन्द में), **कल्याणमन्दिर स्तोत्र** (वसततिलका छद में), **देवागम स्तोत्र, पात्रकेशरी स्तोत्र** (जिनेन्द्र-स्तुति), **वृहद् स्वयंभूस्तोत्र-समन्तभद्र की भद्रता** (ज्ञानोदय छन्द में), **रत्नकरण्ड श्रावकाचार**- (रयण मञ्जूषा), **समण सुत्तम्**(जैन गीता, वसन्ततिलका छन्द में), **समयसार कलश** (निजामृत पान), **आत्मानुशासन** (गुणोदय-ज्ञानोदय छन्द में), **अष्टपाहुड, द्वादश-अनुप्रेक्षा, नियमसार, प्रवचनसार, समयसार** (कुन्दकुन्द का कुन्दन), (वसततिलका छन्द में), **पञ्चास्तिकाय** (सस्कृत तथा हिन्दी में) **नन्दीश्वर भक्ति** (ज्ञानोदय छन्द में), आदि। ये अनुवाद कहीं शब्दश. हैं और कहीं भावात्मक हैं। दोनों स्थितियों में शब्दों के चयन और उनके सयोजन ने हर अनुवाद को एक नया आयाम दिया है और उसमें मूल भावों की प्राण-प्रतिष्ठा की है।

उदाहरणार्थ :— **जैनगीता** 'समण सुत्तम्' का अनुवाद है। आचार्य विनोबा भावे की प्रेरणा से जैनों का यह सर्वमान्य ग्रन्थ तैयार होकर सर्व सेवा सघ से १९७५ ई में प्रकाशित हुआ था । इसमें ७५६ गाथायें हैं जो चार खण्डों में विभक्त हैं-ज्योतिर्मुख, मोक्षमार्ग, तत्त्वदर्शन और स्याद्वाद। आचार्य श्री ने इन गाथाओं का अनुवाद वसन्ततिलका

छन्द में किया जो 'जैनगीता' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस सम्पूर्ण अनुवाद को पढने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुवाद में कविने विषय को सुस्पष्ट करने के लिए यथावश्यक ऐसे शब्दों को जोड दिया है जिन के संयोजित हो जाने से पाठक सरलता पूर्वक विषय की गहराई तक पहुच जाता है। इसलिए इसे भावानुवाद कहा जा सकता है। परन्तु यह उल्लेखनीय है कि इसमें कहीं भी विषय से हटकर कोई भी विचार नही जोडा गया है। उदाहरण के तौर पर —

जावन्त अविज्जा पुरिसा, सव्वेते दुक्ख-सभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा ससारम्मि अणन्तए ।।५८८।।

इसका अनुवाद इस प्रकार हुआ है ।।

अल्पज्ञ मूढ जन ही भजते अविद्या,
होते दुःखी, नहिं सुखी, तजते सुविद्या।
हो लुप्त गुप्त भव में बहुवार तातें,
कल्लोल ज्यों उपजते सर में समाते ।।५८८।।
जैनगीता पृ १८८

'निजामृतपान' आचार्य अमृतचन्द्र सूरि द्वारा रचित 'नाटक समयसार कलश' का हिन्दी पद्यानुवाद है हरिगीतिका छन्द में। नाटकसमयसारकलश की भाषा और भाव कठिन होने के बावजूद आचार्य श्री ने उसका सफलता पूर्वक अनुवाद किया है। उसका वह शब्दानुवाद न होकर भावानुवाद अवश्य है। जैसे —

रागद्वेष-विमोहानां ज्ञानिनो यदसंभव ।
तत् एव न बन्धोस्य तेहि बन्धस्य कारणम्।।१९।।

इसका अनुवाद इस प्रकार हुआ है -

ज्ञानी जनके ललित भालपर रागादिक का यह लाछन
संभव हो न असंभव ही है वह तो उज्ज्वलतम कांचन।
वीतराग उन मुनिजन को फिर प्रश्न नहीं विधिबन्धन का।
रागादिक ही बन्धन कारण कारण है मन स्पन्दन का ।।१९।।

यह अनुवाद मूल भावों को अधिक स्पष्ट करता है। शब्द सटीक हैं। भावव्यंजक हैं और सही हैं। इसी तरह अन्य सभी अनुदित ग्रन्थों के विषय में भी कहा जा सकता है। इसी के साथ ही सस्कृत शतकों के अनुवाद को भी इसी कोटि में रखा जा सकता है। उनको उद्धृतकर हम अनावश्यक रूप से कलेवर को नही बढाना चाहते हैं। हाँ, इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि आचार्यश्री के ये सारे अनुदित काव्य ग्रन्थ आजके अनुवाद विज्ञान की दृष्टि से भी खरे उतरते हैं। वस्तुत अनुवाद करना सरल नहीं होता पर सतोष का विषय है कि आचार्यश्री उसमे सिद्धहस्त हैं। उनका भाव, भाषा और विषय तीनों पर समान अधिकार है।

आचार्यश्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा विरचित गोम्मट्टेसथुदि का पद्यानुवाद आचार्यश्री ने किया है। वह कितना भावानुकूल है इसका रस लीजिए -

विसट्ट कंदोट्ट दलाणुयारं
सुलोयण चद-समाण-तुण्डं।
घोणाजिय चम्पय पुप्फसोह
त गोमटेस पणमामि णिच्चं ।।१।।

इसका अनुवाद इस प्रकार हुआ है।

नीलकमल के दल-सम जिनके,
युगल सुलोचन विकसित हैं,
शशि-सम मनहर सुखकर जिनका,
मुखमण्डल मृदु प्रमुदित है।
चम्पक की छवि शोभा जिनकी,
नम्र नासिका ने जीती,
गोमटेश जिन-पाद-पद्म की,
नित पराग मम मति पीती ।।२।।

३) प्रवचन संग्रह प्रवचन और आचरण में अविनाभाव सम्बन्ध होना चाहिए। प्रवचनकर्ता का आचरण यदि प्रवचन से बिलकुल भिन्न हो तो उसके प्रवचन का प्रभाव श्रोताओं पर नही पडता। आचार्यश्री जो बोलते हैं उसे पहले वे आचरण मे उतारते हैं।

इसलिए समाज पर उनका गहन प्रभाव है। समाज को उन पर आस्था और विश्वास है। उनके प्रवचनों में दर्शन और सस्कृति का सुन्दर विश्लेषण हुआ है। अभी तक जो प्रवचन सग्रह प्रकाशित हुए हैं, उनमें प्रमुख हैं - **आत्मानुभूति ही समयसार है, आदर्श कौन? गुरुवाणी, जयन्ती से परे, जैनदर्शन का हृदय, डबडबाती आखे, तेरा सो एक, न धर्मो धार्मिकै विना, प्रवचन पारिजात, प्रवचन प्रदीप, प्रवचन प्रमेय, ब्रह्मचर्य-चेतन का भोग, भक्त का उत्सर्ग, भोग से योग की ओर, मर हम .. मरहम बने, मानसिक सफलता, मूर्त से अमूर्त की ओर, व्यामोह की पराकाष्ठा, सत्य की छाँव में, अकिंचित्कर, प्रवचनामृत, प्रवचन पचामृत, प्रवचन पर्व** आदि

प्रवचन सग्रहों की इस लम्बी श्रृ खला पर दृष्टिपात करने से यह पता चलता है कि आचार्य श्री की प्रवचन शैली बडी प्रभावक है। उनमें कथाओ की भरमार नही रहती, विषय का विवेचन रहता है और वह विवेचन कभी कथा का आधार लेकर होता है तो कभी लाक्षणिक शैली में होता है। और धीरे - धीरे विषय का विवेचन गम्भीर होता चला जाता है। फिर भी श्रोता बोर नही होता। क्योंकि उसे प्रचलित उद्धरण और बोधकथाये सुनने मिल जाती हैं और बीच-बीच में विनोदी भाव । इन सब को मिलाकर प्रवचन पाण्डित्य पूर्ण होने के साथ ही हृदयग्राही बन जाता है। "क्या मिथ्यात्व अकिञ्चित्कर है?" जैसे विवादास्पद विषय को भी प्रवचन का विषय बनाकर लोगों के गले उतार दिया जाता है। ऐसे प्रवचनो में आचार्यश्री का बहुश्रुतत्व और चिन्तन की गहराई प्रतिबिम्बित होती है। तर्कणा शक्ति की प्रगाढता प्रमाणों की प्रस्तुति से बढती जाती है और शब्दो की सश्लिष्टता और विश्लेषणता के माध्यम से वे अलग ही छाप छोड देते हैं श्रोता पर।

पुराने प्रवचन सग्रह की चर्चा छोडकर यदि हम नये प्रवचनों की ओर अपना ध्यान लगायें तो हमें वहां आचार्यश्री के विशिष्ट चिन्तन की झांकी मिलती है। उदाहरणत अमरकण्टक (२९ ८.९३) में हुए एक प्रवचन में उन्होंने कहा था -

दृश्य को पाने के पहले दृश्यको देखने से भी सुख प्राप्त होता है। इसी को आस्था कहते हैं। . . . विवेक के साथ प्रत्येक घडी बिताने का नाम ही वास्तव में जीवन है। . . सत्य और अहिंसा का बहुत गहराई से सम्बन्ध है। यदि हमारे एक हाथ में

सत्य है तो दूसरे में अहिंसा होनी चाहिए। दोनों मिल जाते हैं तो बडे से बडे राष्ट्रो की रक्षा की जा सकती है, उनका विकास किया जा सकता है। **(कर विवेक से काम)**

अभी २१ जुलाई १९७४ को रामटेक (नागपूर) में चातुर्मास कलश स्थापन के दिन प्रवचन हुआ और उसके बाद हुई चर्चा में अनेक राष्ट्रीय यक्ष प्रश्नों पर उन्होंने अपने विचार व्यक्त किये। लोकमत समाचार समूह के संपादक और नियामक श्री विजय दर्डा के अनेक प्रश्नों के उत्तर में आचार्यश्री ने विदेशी ध न के लिए पशुधन की हत्या, भ्रष्टाचार, प्रतिभा सम्पन्न छात्रों को आरक्षण के कारण शैक्षणिक और प्रशासनिक क्षेत्रों में स्थान न मिलना, सात्विकता की कमी, लोकतन्त्र का दुरुपयोग, वितरण की अव्यवस्था, वर्तमान चुनाव प्रणाली की कमिया आदि विषयो पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि जैन सम्प्रदाय अपने सदाचार और सौमनस्य के बल पर राष्ट्र का निर्माण करते रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे। उन्होंने अपनी इन पक्तियों से अपनी बात पूरी की --

दोष रहित आचरण से, चरण पूज्य बन जाये।
चरण धूल तक सिर चढे, मरण पूज्य बन जाये॥

४) **स्फुट रचनायें** आचार्यश्री की रचनाओं में कुछ स्फुट रचनायें भी हैं, जो सस्कृत, हिन्दी, प्राकृत और अग्रेजी में हैं। उदाहरणार्थ — **आचार्यश्री शान्तिसागर स्तुति, आचार्यश्री वीरसागर स्तुति, आचार्यश्री शिवसागर स्तुति, आचार्यश्री ज्ञानसागर स्तुति, शारदा स्तुति (संस्कृत तथा हिन्दी), अनागत जीवन, अब मैं मन मन्दिर में रहूंगा, अहो! यही सिद्ध-शिला, आत्माभिव्यक्ति, चेतन निज को जान जरा, परभाव त्याग तू बन शीघ्र दिगम्बर, बनना चाहता यदि शिवांगना-पति, भटकन तब तक भव में जारी, मोक्ष ललना को जिया कब वरेगा? विज्जाणुवेक्खा (प्राकृत), जम्बू स्वामी चरित्र, समकित लाभ, My Self, My Sent** , अर्थ अनर्थेर मूल (बगला) नदीर शीतल जल (बगला), कन्नड कवितायें, तीर्थकर ऐसे बनो!! आदि।

यहां हम आचार्यश्री की प्राकृत भाषा में निबद्ध विज्जाणुवेक्खा तथा अग्रेजी में लिखित **My Self** को उद्धृत करना चाहेंगे।

विज्जाणुवेक्खा

पणमिय पढमं पढमं पुण पुण्णापुण्णपइचत्तं
पुण्णं पुराणपुरिसं परम परमगइ सुपत्तं ।।१।।
ववगयणियमयरयमयमयपचयं गदं च गुणणिलय ।
वत्थु पस्सदि वंदे पडिसमयठिदिवयजणणमयं ।।२।।
जिणवयणं सिवअयण वत्थुसहावावलोयणे णयण ।
णिद्दिट्ठं उवणयण तम्हा वर मणो त णयणं ।।३।।
खाणि णु गदाणि दमण कुणंति दाणियणियत्थाणणुगमण ।
समणं करेमि णमण जादु लय तेण भवभमण ।।४।।
फलदि खलु समयसार लहुणयदि विप्पलयं च संसार ।
णिच्छामि सग्गसारं वोच्छामि सुभावणासारं ।।५।।
गोद णिच्चमणिच्चं चित्त पचेंदियसुहा ण णिच्चं।
णियचित्त खलु णिच्च इदि चिंतह चित्तेण णिच्च ।।६।।
वयसील खलु सग्गं सुहो सलिलकण च गदं कुसग्ग ।
ससार तु समग्ग जाणतो ति जादु समग्ग ।।७।।
भवभीदवुहमहिदेहिं पडिभावाण भवाहिमुक्केहिं।
भणिय पडिणियद त अहिणवभावेणं भवण हि ।।८।।

इन अनुप्रेक्षा में ससार पर अनेक तरह से चिन्तन किया गया है और उससे मुक्त होने के लिए रत्नत्रय की आवश्यकता बताई गई है।

इसी तरह निम्नलिखित अंग्रेजी गीत में आत्मा की मूल प्रकृति पर विचार करते हुए उसकी तात्त्विकता पर चिन्तन करने का आह्वान दिया है आचार्यश्री ने -

My Self

Oh| passionlessness which is my nature.

So I am myself certain best teacher.....

Anent consciousness of imperfection,

I have no eternal and real relation
Objects of pleasure are like sharp razor
Whereby the soul deviates into danger.
My nature is free from deceitfulness
Because filled with sure uprightness.
I am the store of asset of knowledge.
So I am free from attachment and rage

इन स्तुतियो में कितनी भावप्रवणता है इसे देखिये महावीरभगवान की स्तुति मे -

क्षीर रहो प्रभु नीर मैं, विनती करु अरवीर ।
नीर मिला लो क्षीर मैं, और बना दो क्षीर ।।
अबीर हो तुम वीर भी, धरते ज्ञान शरीर।
सौरभ मुझ में भी भरो, सुरभित करो समीर ।।
नीर निधि से धीर हो, वीर बने गभीर।
पूर्ण तैर कर पा लिया, भवसागर का तीर ।।
अधीर हू मुझे धीर दो, सहन करु सब पीर।
चीर चीर कर चिर लिखू, अन्दर की तस्वीर ।।
'ही' से 'भी' के ओर ही बढ़ें सभी हम लोग ।
छह के आगे तीन हो विश्व शान्ति का योग।।
मरहम पट्टी बाधकर वृण का कर उपचार ।
ऐसा यदि न कर सके, डडा तो मत मार ।।
तन मन को तप से तपा, स्वर्ण बनू छवि मान।
भक्त बनू भगवान को, भजू बनू भगवान ।।

५ काव्य सग्रह आचार्यश्री मूलत विद्वान कवि है। भावो को उकेरने की उनकी शक्ति अप्रतिम है। उनकी अभिव्यञ्जना शक्ति को उनके इन काव्यों में देखी जा सकती

है — चेतना के गहरावमे (सचित्र प्रतिनिधि काव्य सकलन), डूबो मत, लगाओ डुबकी, तोता रोता क्यों? दोहा - दोहन, नर्मदा का नरम कंकर, मूकमाटी (महाकाव्य)।

१. चेतना के गहराव में · — आचार्यश्री की कविताओं का यह एक महत्त्वपूर्ण सकलन है, जो पाँच खण्डों में विभाजित है प्रकृति की गोद से, लहराती लहरें, चेतना के गहराव में, चेहरे के आलेख और जीने की विधा। इन खण्डों में सकलित कविताओं में व्यक्ति की प्रकृति और उसकी आत्मा की विविध अवस्थाओ का चित्रण है। दार्शनिक तत्त्वों के साथ भावपक्ष और कलापक्ष का उसमें सुन्दर प्रतिबिम्बन हुआ है। कहीं-कही कवि ने आत्म-पीडा को भी शब्द दिये हैं। धर्मयुग, चुनाव, मेरा वतन, जैसे शीर्षकों में व्यग तो है ही, पर उसके साथ अध्यात्म की व्याख्या भी जुडी हुई है। कवि प्रकृति से जब तादात्म्य करता है तो वह अपना सम्बन्ध परमात्मतत्त्व से स्थापित कर लेता है और कर्तव्य की सत्ता में डूब जाता है।

उदाहरणार्थ —

यह एक / नदी का प्रवाह रहा है
काल का प्रवाह बह रहा है
और बहता बहता ।।
कह रहा ।।।

जीव या अजीव का
यह जीवन
पल पल इसी प्रवाह में
बह रहा, बहता जा रहा है ।

यहा पर
कोई भी स्थिर ध्रुव चिर
न रहा न रहेगा न ही
रह रहा
बहाव, बहना ही ध्रुव ।

रह रहा यहा
सत्ता का यही
रहस रहा विहस रहा

२ नर्मदा का नरम कंकर' — इसका प्रारम्भ सहज, शुद्ध, अनन्त धर्मो-गुणों से युक्त आत्मन् के सबोधन से होता है और एकाकी यात्री कवि मानस दर्पण में समर्पण के द्वार पर स्वय खडा होकर निरभिमानी हो, जागरण की देहली-प्राप्ति से उसका अन्त करता है। इस लम्बी यात्रा में कभी वह इदु समान तीर्थंकर महावीर का पादप्रक्षालन करता है, तो कभी चेतना की गहराई में उतरकर मगरमच्छ जैसे शक्तिशाली मिथ्यात्व के आक्रमण को असफल करने मे लग जाता है। माया, कषाय आदि विकार भावो से बचकर वह सुरक्षित दशा मे बाहर आ जाता है। मन को नियत्रित कर मोक्ष के महल सोपान पर आरुढ हो जाता है और विनम्र प्रार्थना करता है कि तीर्थंकर से कि वह इस नर्मदा के नरम ककर को सुन्दर-सुडोल शकर का रूप प्रदानकर उसमें अनन्त गुणो की प्राण-प्रतिष्ठा कर दे। मात्र क्रियाकाण्ड में व्यस्त साधु-सन्यासियो की स्थिति पर वह दो आसू बहाता है और उन्हें समयसारमयी शुद्धात्मानुभूति के सागर में अवगाहन करने का आवाहन करता है।

उदाहरणार्थ

युगो युगो से
जीवन विनाशक सामग्री से
सघर्ष करता हुआ
अपने मे निहित
विकास की पूर्ण क्षमता सजोये
अनन्त गुणो का
सरक्षण करता हुआ
आया हू
किन्तु आजतक
अशुद्धता का विनाश
हास शुद्धता का विकास
प्रकाश
केवल अनुमान का
विषय रहा-विश्वास
विचार साकार कहा हुए?
बस । अब निवेदन है
कि
या तो इस ककर को
फोड फोड कर
पल भर में
कण कण कर।
शून्य मे उछाल

समाप्त कर दो
अन्यथा इसे
सुन्दर सुडौल
शकर का रूप प्रदान कर
अविलम्ब उसमे
अनंत गुणो की
प्राणप्रतिष्ठा
कर दो
हृदय मे अपूर्व निष्ठा लिये

यह किन्नर
अकिंचन किंकर
नर्मदा का नरम ककर
चरणों मे
उपस्थित हुआ है,
हे विश्व व्याधि के प्रलयकर
तीर्थंकर !
शकर ।
- नर्मदा का नरम ककर ।

३ **डुबो मत, लगाओ डुबकी** — इस सकलन मे कवि ने ससारी प्राणी को चेतावनी दी है कि वह ससार-सागर मे डूबे नही, बल्कि डुबकी लगाकर आत्मानुभूति को जाग्रत करे। वीतरागी सन्त कवि अपार सागर मे तैरता हुआ आस्था के साथ भोर की ओर निहारता है समता रस म आपूरित होकर परम शान्ति की वाट देखता है, परनिरपेक्ष अन्तर्निहित शान्ति का उद्घाटित करने का प्रयत्न करता है और मन की भूख-मान से मुक्त होकर विकल्पो से पूणत मुक्त होना चाहता है। यही वह प्राकृत पुरुष बनकर स्व-पर पहिचान् की ओर मुड जाता है और विभाव से मुक्त होकर स्वभाव की प्राप्ति म सचेष्ट हो जाता है। इस तथ्य का अवगाहन कीजिए इन पक्तियो मे।

रति, रति-पति के प्रति
मति मे रति भाव
हो न सके प्रादुर्भाव
बस! इस मति की रति
विषय विरति मे
सतत निरज रहे ।
डुबो मत, लगाओ डुबकी - मन्मथ मथनी

४ **तोता रोता क्यो ?** — श्रम की महिमा को स्पष्ट करता हुआ यह काव्य जीवन के सगीत की पहिचान कराता है मन की खटिया पर बैठी आशा मे मुक्त होने का

पथ प्रशस्त करता है, शैतान की व्याख्या करते हुए निराकुल होने की आराधना करता है और श्रमण क स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ यह इगित करता है कि धन-काचन की आशा वाला वक्ता गिरगिट-सा रग बदलता है। सन्याम उसकी दृष्टि में मात्र सबसे नाता तोडकर वन की ओर मुख मोडना नही है, बल्कि सन्याम का सही स्वरूप वह है, जिसमें साधक सभी के माथ समता का नाता जोडता है और स्वय को विश्व-सेवा की आर मोड देता है। **पेट से पेटी, कैंची नहीं सुई बनू, गीली ऑखे, रगीन व्यग्य, मन की मौत, गिरगिट, कम-बख्त** आदि शीर्षक कविताये एक ओर जहाँ चौकाती हैं, वही दूसरी ओर पाठक को सोचने के लिए भी विवश कर देती है । एक वानगी देखिये —

> **इस युग के दो मानव**
> **अपने आपको खोना चाहते हैं**
> **जिनमे एक**
> **भोग राग को मद्य पान को**
> **चुनता है और एक**
> **योग त्याग को**
> **वन्द्य- ध्यान को**
> **चुनता है कुछ ही क्षणो मे**
> **दोनो होते विकल्पो से मुक्त**
> **फिर क्या कहना ,**
> **एक शव के समान**
> **पडा है और एक**
> **शिव के समान**
> **भरा है (खरा उतरा है)**
>
> \- शव नही शिव बनू

इन काव्य सग्रहो मे म भिन्न-भिन्न शीर्षक देकर **निजानुभव शतक, चेतना के** गहराव मे और **दोहा थुति** सग्रह तैयार किये गये है । इन सभी सग्रहो मे कवि आन्तरिक द्रष्टा बनकर पाठक के सामने आया है । उसे बाह्य जगत से कोई मतलब नहीं । वह तो विभावो को गतिविधियो को बड हो मनोरजक ढग से प्रस्तुत करता हुआ

यथार्थण वादी बनता दिखाई देता है। उसका यथार्थवाद स्वानुभूति पर आधारित है और शुद्धोपयोग की प्राप्ति का साधन है। **निजानुभवशतक** में ऐसी अनेक अनुभूतियो का प्रतिबिम्बन हुआ है। जिनमे सत्य शिव और सुन्दर के दर्शन होते है।

आकाश सदृश विशाल विशुद्ध सत्ता
योगी उसे निरखते यह बुद्धिमत्ता।
सत्य शिव परम सुन्दर भी वही हे
अन्यत्र छोड उसको सुख ही नहीं है ।। वृत्त १५

इसी तरह सारे सामाजिक सम्बन्ध ससार को ही बढाने वाले है। उनमे कोई भी शरणदायी नही है -

दारा नहीं शरण है, मनमोहिनी है।
देती अतीव दु ख है, भववर्धिनी है।
ससार कानन जहा वह सर्पिणी है
मायाविनी अशुचि है कलिकारिणी है
।। वृत्त ।। ६२।।

दोहदोहन' मे आध्यात्मिक दोहे है जिनमे कही नाथ कृपा की कल्पना है तो कही अनेकान्त की प्रशसा कही विश्रामागार बनने की प्रेरणा है तो कही निर्भय बन जाने का भाव। इन दोहो मे सरलता है विदग्धता है और साथ ही आलकारिक छटा भी। रूपक का प्रयोग यहा देखिए -

शुभ्र सरल तुम बाल तव, कुटिल कृष्णतम नाग।
तव चिति चित्रित ज्ञेय से किन्तु न उसमे दाग ।। पृ १०।।

५ मूक माटी का मूल्याकन - 'मूक माटी' महाकाव्य दर्शन और काव्य का समन्वित रूप है। इसमे माटी अपनी उपादान शक्ति तथा कुम्भकार आदि निमित्तों के बल से किस प्रकार वह शिखर पर सुशोभित होनेवाले मगलकलश तक की स्थिति में पहुंचती है इस तथ्य को महाकवि ने प्रतीकात्मक ढग मे बडी कलात्मकता के साथ प्रस्तुत किया है। चार खण्डो मे विभाजित यह महाकाव्य अपनी बेजोड रचना धर्मिता को लिये हुए है। लगता है, सन्त महाकवि ने अपनी सपूर्ची प्रतिभा को इसमें

उडेल दिया है। इस तथ्य को सुधी पाठक प्रस्तुत पुस्तक के अध्ययन से भलीभाँति समझ लेंगे।

आधुनिक हिन्दी साहित्य एवं आचार्यश्री द्वारा रचित साहित्य के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण करने के बाद 'मूक माटी' का मूल्यांकन करना और भी सहज हो जाता है। हिन्दी की उपर्युक्त सभी विधाओं और प्रवृत्तियों में विशुद्ध आध्यात्मिकता कहीं भी नही दिखाई देती। छायावादी प्रवृत्ति मे रहस्य भावनात्मकता अवश्य है पर उसके मूल में अतृप्त और भटकती हुई यौनवासना है। उसकी आध्यात्मिकता वस्तुत ओढा हुआ रूप है जो वास्तविकता से कोसों दूर है, जबकि मूकमाटी महाकाव्य विशुद्ध वीतरागी प्रवृत्ति को लेकर चलता है, सम्यक् आचरण की प्रस्थापना करता है और समाज के बीच सम्यक् आदर्श को प्रस्तुत करता है। अथ से इति तक उसका हर शब्द व्यक्ति के व्यक्तित्व-निर्माण की सही दिशा का अवधारण करता है सस्कारों का सृजन करता है जो पूर्वोक्त काव्य मे उल्लिखित आतकवाद के कथन में प्रतिबिम्बित हुआ है —

हे स्वामिन् समग्र ससार ही ! दु:ख से भरपूर है – ,
यहाँ सुख है, पर वैषयिक, और वह भी क्षणिक।
यह --- तो ------ अनुभूत हुआ हमें,
परन्तु,
अक्षय सुख पर
विश्वास ही नहीं रहा है,
हाँ ! हाँ !! यदि
अविनश्वर सुख पाने के बाद
आप स्वय
उस सुख को हमें दिखा सको, या
उस विषय में , अपना अनुभव बता सको, तो
संभव है , हम भी आश्वस्त हों
आप जैसी साधना को, जीवन में अपना सकें।
तुम्हारी भावना पूरी हो, ऐसे वचन दो हमें,
बडी कृपा होगी हम पर। (पृष्ठ ४८४-८४)

"मूक माटी" महाकृति इसी वचन/प्रवचन से पाठक को आश्वस्त करती है और श्रमण-साधना का प्रारूप प्रस्तुत करती है। वह सन्त समागम की सार्थकता को स्पष्ट

करते हुए (पृ.३५२) सामुदायिक चेतना का आह्वान करती है (पृ.४६७) और पाणिपात्री बन जाने की प्रेरणा देती है (पृ.३३५) । कवि की भी यही भावना है कि वह यथाकार बन जाये —

मैं यथाकार बनना चाहता हूँ
व्यथाकार नहीं।
और, मैं तथाकार बनना चाहता हूँ
कथाकार नहीं।
इस लेखनी की भी यही भावना है —
कृति रहे, संस्कृति रहे
आगामी, असीम काल तक
जागृत ---- जीवित --- अजित
सहज प्रकृति का वह, श्रृंगार-श्रीकार
मनहर आकार ले, जिसमें आकृत होता है।
कर्ता न रहे, वह, विश्व के सम्मुख कभी भी
विषम-विकृति का वह, क्षार-दार संसार
अहंकार का हुँकार ले, जिसमें जागृत होता है
और हित स्व-पर का यह
निश्चित निराकृत होता है। (पृष्ठ २४५)

आचार्यश्री की "नर्मदा का नरम ककर", "डूबो मत, लगाओ डुबकी", "तोता रोता क्यों?" आदि काव्यकृतियाँ कभी की प्रकाशित हो चुकी हैं। सोचता था, आधुनिक हिन्दी साहित्य के साथ इन कृतियों की भी तुलना करते हुए "मूक माटी" का मूल्या कन किया जाये, परन्तु मुझे मात्र "नर्मदा का नरम ककर" कृति उपलब्ध हो सकी, जो अध्यात्मपिपासु के लिए सही दिशाबोध देने का सकल्प करती है। बाद में अन्य काव्यकृतियाँ तथा स्फुट साहित्य भी ऐलक अभयसागरजी के माध्यम से उपलब्ध हो गया। परन्तु समय और प्रस्तुत पुस्तक की सीमा अपना बाँध तोड चुकी थी। उसे और तोडकर फिर जोडने का साहस नहीं हुआ। फिर भी आचार्यश्री के समग्र साहित्य का अध्ययन करने के उपरान्त इस तथ्य ने मन को अवश्य प्रभावित किया कि कवि ने अपनी सारी रचना-धर्मिता में 'समय' को ही अपने चिन्तन, लेखन और प्रवचन की आधारशिला बना रखी है। उसके लिए "समयसार" ग्रन्थ आत्मानुभूति कारक रहा है और यह आत्मानुभूति उसे इतनी गहरी हो गई कि रसास्वादन करते-करते मानो वह

सिद्धालय को पार कर गया है (पृ.४४) इसी में उन्होंने "जीवित समयसार" की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए निमित्त और उपादान का भी विश्लेषण किया है (पृ.५४.) यह विश्लेषण लगभग वैसा ही है जैसा "मूकमाटी" में हुआ है।

मूकमाटी का दार्शनिक कवि आचार्य कुन्दकुन्द और समन्तभद्र के ग्रन्थों से अधिक प्रभावित दिखाई देता है। निमित्त-उपादान के सन्दर्भ में प्रस्तुत माटी-कुम्भ का उदाहरण इन ग्रन्थों में पारम्परिक रूप से प्राप्त होता है। उसी उदाहरण को आचार्यश्री ने अपनी काव्य-प्रतिभा से संवारा है और हिन्दी जगत को दिया है एक ऐसा अनुपम, मौलिक और अलौकिक महाकाव्य जो दार्शनिक चिन्तन देकर ही अपनी इतिश्री नहीं समझता बल्कि पाठक को यह प्रतीत कराने का यथाशक्य प्रयत्न करता है कि वह अपनी उपादान शक्ति पर विश्वास करे तथा सम्यक् आचरणपूर्वक सत्संगति और निमित्त का भलीं-भाँति उपयोग करे ताकि वह अक्षय सुख पा सके (पृ ४८७)।

प्रतिस्फुट रचनायें

आचार्यश्री प्राच्य भारतीय भाषाओं के तलस्पर्शी पण्डित तो हैं ही साथ ही आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी उन्होंने गहन आध्यात्मिक रचनायें की हैं। कन्नड उनकी मातृभाषा है बेलगाव सक्रान्ति क्षेत्र होने के कारण मराठी भी मातृभाषा जैसी ही है। अभी तक उनका कार्यक्षेत्र और कर्मक्षेत्र प्रायः हिन्दी क्षेत्र ही रहा है। बिहार और बंगाल में विहार के दौरान उन्होंने बंगला में भी दक्षता पा ली और अंग्रेजी का अध्ययन है ही। उनका यह बहुभाषाविद् व्यक्तित्व उनकी स्फुट रचनाओं में प्रतिबिम्बित हो रहा है।

यहां हम आचार्यश्री की कतिपय उन हिन्दीतर रचनाओं को विशेष रूप में मूल रूप में उद्धृत कर रहे हैं जो संख्या में तो बहुत कम हैं पर चिन्तन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसी रचनाओं को हमने प्रतिस्फुट रचनाओं की संज्ञा दी है। इनमें बंगला और कन्नड में लिखी प्रतिनिधि रचनायें सम्मिलित हैं। प्रेस की सुविधा न होने से हम ऐसी रचनाओं को नागरी लिप्यन्तरण में भी प्रस्तुत कर रहे हैं। इसी के साथ ही प्राकृत में लिखी तिरुक्कुरल का हिन्दी अनुवाद भी दे रहे हैं।

१. आचार्यश्री विद्यासागर महाराज द्वारा रचित बंगला कविता, हिन्दी उच्चारण तथा अर्थसहित

□ অর্থই অনর্থের মূল
তাহার ত্যাগ
পরমার্থের কূল
তাই সুজনের জন্য
সে সদা ধূল ॥১॥

अर्थ इ अनर्थर मूल
ताहार त्याग परमार्थर कूल
ताइ सुजनेर जन्य
स सदा धूल ।।१।।

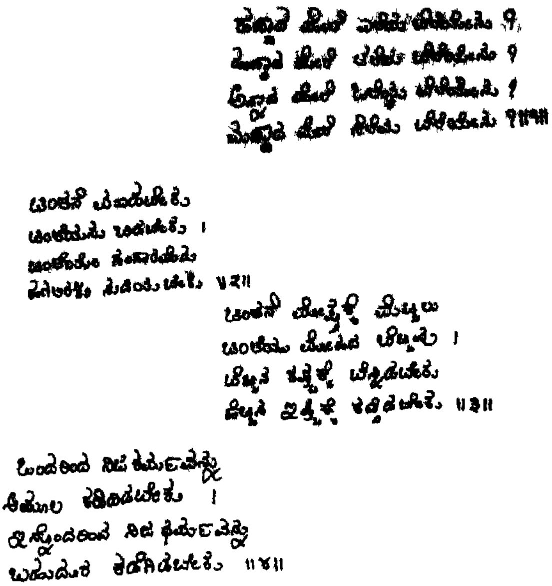
अर्थ है अनर्थ का मूल
अर्थ का त्याग ही
परमार्थ किनारे का पाना है
सज्जनों के लिए यह अर्थ
सदा धूल के समान व्यर्थ है ।।१।।

□ রে মন ও মন
নদীর জীবন জলকূল
রে মন হে মন
মানব জীবন গুরু পাদমূল ॥২॥

रे मन ओ मन
नदीर जीवन भाल कूल
रे मन हे मन
मानव जीवन गुरु पादमूल ।।२।।

नदी का जीवन दो तट हैं
वैसे ही हे मन ! तेरा जीवन भी।
गुरु-चरणों की संगति से ही
उन्नति की ओर जावेगा ।।२।।

२. आचार्यश्री विद्यासागर महाराज द्वारा रचित कन्नड कविता का उच्चारण



हण्णाद मेल्न एलय बेलेयेनु
हुण्णाद मेल तलय बेल्लेयनु ।
अन्नाद पेल आलय बेलेयनु
मण्णाद मल्ले नलय बलयेनु ।।१।।

चिन्तन माडबकु
चिन्तयनु बिडबकु ।
चिन्तेय समारवन्दु
ऋगलिमक्कु नुडियबेकु ।।२।।

चिन्तन मांशक्क मेहलु
चिन्तयु माहद बद्दत्नु ।
बेह्रिन काटक्क वेंत्रिडबकु
हेंच्चिन इप्पके कणिणडबकु ।।३।।

वन्दरिद निजकर्मवन्नु
आमूल कडेदिडबकु।
इन्नोन्दरिन्द निज धर्मवन्नु
बहुदूर कडेगिडबकु ।।४।।

कन्नड़ कविता का हिन्दी अर्थ

पकने के बाद पके का क्या महत्त्व ?
मदान्ध होने पर बुद्धि का क्या महत्त्व
रसोई बन चुकने के बाद चूल्हे का क्या महत्त्व
मरण हो जाने के बाद ज़मीन आदि का क्या महत्त्व ।।१।।

चिन्तन करना चाहिए
चिन्ता छोड़ना चाहिए
चिन्ता ही ससार है
ऐसा दिन रात सोचना चाहिए । ।।२।।

चिन्तन मोक्ष का सोपान है
चिन्ता मोह रूपी पर्वत है
ऐसे पर्वत सम कष्ट की ओर पीठ करके
परमोत्कृष्ट अभीष्ट की ओर दृष्टि रखनी चाहिए । ।।३।।

एक से अपने निजी कर्मों को
आमूलचूल काटना चाहिए
तो दूसरे चिन्तादिक परधर्म से
निजधर्म स्वरूप को दूर रखना चाहिए ।।४।।

३ प्राकृत रचना

विज्जाणुवेक्खा (हिन्दी अनुवाद)

आचार्यश्री संस्कृत के समान प्राकृत भाषा के भी निष्णात विद्वान हैं । उन्होंने शौरसेनी प्राकृत में 'विज्जाणुवेक्खा' की रचना की है जिसे हम पीछे उद्धृत कर चुके हैं। पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ हम उसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं -

१. सर्व प्रथम मैं उन पूर्ण पुरुष तीर्थंकर आदिनाथ को प्रणाम करता हूँ जिन्होंने पुण्य - अपुण्य सब कुछ नष्ट कर दिया है और परम गति स्वरूपा मुक्ति को प्राप्त कर लिया है।

२ जिन्होंने निज कर्म-रज के उपचय (संग्रह) को विनष्ट कर दिया है जो गुणों के आगार हैं और जो प्रतिसमय उत्पाद - स्थिति - व्यय सहित वस्तु को जानते देखते हैं, उस सर्वज्ञ को मैं प्रणाम करता हूँ।

३ मैं उन्हीं सन्तों को सही मानता हूँ जिन्होंने कल्याणकारी मुक्तिदायक वस्तुस्वभाव - प्रतिपादक आगमिक शिव रूप नयन प्रदान किये हैं जो उपकरणात्मक और नयात्मक हैं।

४ जिन्होंने क्षणभर में इन्द्रिय-दमनकर इन्द्रिय वासनाओं पर विजय प्राप्त कर निजस्थान का अनुगमन किया है और संसार के जन्म-मरण रूप भ्रमण को दूर किया है, उन श्रमण को मैं नमन करता हूँ।

५ समयसार जिसकी अन्तिम परिणति है संसारचक्र को जो शीघ्र ही समाधि की ओर ले जाता है, उस भावनासार (मुक्ति) की मैं इच्छा करता हूँ, स्वर्ग की नहीं।

६ नित्य-अनित्य क्या है यह भी भलीभांति समझ लिया है, नीच-ऊँच गोत्र भी शाश्वत नहीं है चित्र-विचित्र है यह भी ध्यान में आ गया है। अपनी चित्तधारा नित्य है इसी तथ्य को सदैव सोचते रहना चाहिए।

७ स्वर्ग सुख नष्ट होने वाला है। वह तो वैसा ही है जैसे सलिलकण धोखे से कुशाग्र भाग पर पहुँच जाता है। समग्रता तो वह है जहाँ संसार को पूर्ण रूप से जाना जा सके।

८ संसार से भयभीत पण्डितों द्वारा और संसार-सागर से पार हो जाने वाले ऋषियों द्वारा जो प्रतिभासित है उसकी मैं प्रतिदिन भावना भाता हूँ। यही भावना संसार-सागर से पार कराने वाली है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्यश्री ने आप्तपरीक्षा की सोपज्ञवृत्ति का गद्य में कन्नड अनुवाद भी किया है जो अभी तक प्रकाश में नहीं आ पाया। इसी तरह पञ्चास्तिकाय प्राभृत का हिन्दी-संस्कृत पद्यानुवाद भी उन्होंने किया था जो किसी की असावधानीवश गुम गया। प्रवचन सार का पद्यानुवाद पूर्णोदयशतक सर्वोदयशतक तथा जम्बूस्वामिचरित नेमी रचनाएं भी प्रकाशन की राह पर खड़ी हुई हैं।

द्वितीय परिवर्त

आधुनिक हिन्दी काव्य के परिप्रेक्ष्य में मूक माटी

मूक माटी एक दार्शनिक महाकृति है जो आधुनिक सन्दर्भ में भी बेजोड़ शाश्वत मूल्यों को प्रस्थापित करती है। आज के उद्वेलित समाज में प्रस्फुटित विचारों के नये अंकुरों में विज्ञान अपनी पैठ जमा रहा है और भारतीयता के परिवेश में जीवन मूल्यों को परखने के लिये हमारी देहली पर दस्तक दे रहा है। आज की नई पीढी में एक सवाल उभर रहा है कि क्या आध्यात्मिकता आधुनिकता के वैचारिक धरातल पर अपने आप को युगीन और कालबाह्य सिद्ध कर सकेगा ? या यों कहें कि क्या आध्यात्मिकता की उपेक्षा हमारे जीवन की यथार्थता को समझने के लिए घातक सिध्द नहीं होगी ? यदि इस प्रश्न को उत्तरित करने में हमारा मन विधेयात्मकता की ओर झुकता है तो फिर प्रश्न उठेगा कि वह कौन-सा रूप हो सकता है जो हमें जीवन-मूल्यों की अर्थवत्ता को तर्कसंगत और बुद्धिसंगत बना दे और सहजता पूर्वक प्रतिभासित करा दे कि जीवन की इयत्ता भौतिकवादी मनोवृत्ति में नहीं बल्कि उससे प्रतिमुक्त त्याग के परिवेश में पनपी वीतरागी सद्वृत्ति में है । मूकमाटी महाकाव्य इसी सद्वृत्ति को अंकुरित और प्रतिष्ठित करनेवाले दर्शन को अपने अनुपम अभिव्यञ्जना शिल्प के माध्यम से प्रस्तुत करता है और साहित्य-जगत में कालजयी सिद्ध होने के लिए दावेदार बन जाता है।

आधुनिकता : परम्परा और प्रयोग

“आधुनिक” शब्द काल सापेक्ष और विचार सापेक्ष है, कालमुक्त भी है और कालबद्ध भी, इतिहास का मध्ययुगीन जीवन धर्म पर अधिष्ठित था। उसमें विनय, प्रेम, सद्भाव, श्रद्धा, भक्ति, नैतिकता आदि जीवन-मूल्य साध्य स्वरूप स्वीकार किये गये और शरीर और समाज को साधन के रूप में देखा गया। पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती में यूरोप में विज्ञान का उन्मेष हुआ, जिससे सारे परम्परागत जीवन मूल्यों में एक जबर्दस्त भूकम्प आया और आधुनिक युग प्रारम्भ हो गया। दर्शन के हर पक्ष को विज्ञान की पृष्ठभूमि में मूल्यांकित करने का शोध यहाँ बढ़ने लगा। विज्ञान के कारण पुराने मूल्य धराशायी होने लगे और नये मूल्य उभरने लगे। इन सबके बावजूद शाश्वत मूल्य अपराजित बने रहे। मानवीय चेतना विज्ञान के प्रत्ययों और निष्कर्षों से प्रभावित अवश्य हुई, पर जीवन की यथार्थता को वह ढँक नहीं सकी। परम्परा की स्वस्थता और गतिशीलता समाज और धर्म के लिए एक विशिष्ट

निधि होती है, पर उसके कुछ तत्व जड़ और भ्रष्ट बनकर रूढ़ि बन जाते है , जो आधुनिकता के साथ सघर्ष को जन्म देते है। आधुनिकता की यह एक गत्यात्मक प्रक्रिया है। इस सन्दर्भ में रामधारी सिंह दिनकर ने ठीक ही लिखा है—

"आधुनिकता एक प्रक्रिया का नाम है। यह प्रक्रिया अन्धविश्वास से बाहर निकलने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया भौतिकता में उदारता बरतने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया बुद्धिवादी बनने की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया धर्म के सही रूप पर पहुँचने की प्रक्रिया है। आधुनिक वह है जो मनुष्य की ऊँचाई, उसकी जाति या गोत्र से नहीं, बल्कि उसके कर्म से नापता है। आधुनिक वह है, जो मनुष्य-मनुष्य को समान समझता है।" [१]

आधुनिकता परम्परा की विच्छेदिका है, यह साधारणत माना जाता है, परन्तु मीमांसा करने पर ऐसा लगता है कि उसकी प्रक्रिया परम्परा का पूर्णत निषेध नही करती ,बल्कि भौतिकतावादी प्रवृत्ति में आसक्त होने के कारण वह उसकी वास्तविकता और यथार्थवत्ता को समझ नहीं पाती। आधुनिकता का सघर्ष धर्म के बाह्य प्रतीको के साथ नासमझी के कारण अधिक होता है। चाहे वह वर्गचेतना का परिणाम हो या फैशन का, वह एक क्षणिक प्रभाव है जो वैज्ञानिक और तकनीकी विकास के कारण आया है। इस प्रभाव ने उपभोक्ता सस्कृति को जन्म दिया, अनुशासन को ध्वस्त किया, प्रामाणिकता और आध्यात्मिकता पर प्रश्नचिन्ह लगाया, पूजीवादी मनोवृत्ति को पनपाया, परिवारों को विघटित किया, नियति और पुरुषार्थ रूपान्तरित होकर सामाजिक विघटन के कारण बने, हिंसा का प्रारूप खडा हुआ, अतीत और भविष्य के सूत्र कटने-से लगे और मुखौटा सस्कृति का विकास होने लगा। इस सामाजिक अव्यवस्था में मध्यकालीन धार्मिकता की विद्रूपता ने भी काफी साथ दिया है, जिससे हमारे परम्परागत मूल्यों का अवमूल्यन हुआ है।

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि आधुनिकता काल सापेक्षता के साये में पनपती अवश्य है, पर वह पारम्परिक आध्यात्मिक मूल्यों को सुखा नही पाती। बौद्धिक सक्रियता,,भावनात्मक तनाव, औद्योगिक विकास के कारण सामाजिक विश्रृखलता, आचरण चेतना का अध·पतन, सदेह और द्वन्द्व का उद्भव जैसे तत्त्व गतिशील अवश्य हो जाते हैं , पर वे समाज को एकदम बहिर्मुखी नहीं बना पाते। उसमे विद्यमान सुधारोन्मुखी चेतना धर्म-दर्शन की ओर झुकाती रहती है और आध्यात्मिक जाग्रति अप्रासगिक नहीं हो पाती। नगरीकरण और तकनीकी विकास ने भी आधुनिकीकरण के पैर जमाने में अह भूमिका अदा की है, पर आध्यात्मिक सन्तों ने मनुष्य में सुप्त स्वतन्त्रता प्राप्ति की यथार्थ भावना को भी उसी उत्साह के साथ

[१] आधुनिक बोध, दिनकर, पृष्ठ ३६- ३७

जाग्रत किया है प्रवचन और साहित्यिक सृजन के माध्यम मे, और रेखांकित किया है अपने सांस्कृतिक स्वर को, जिससे समाज को आधुनिक घात-प्रतिघात से बचाया जा सके।

यह बात सही है कि आधुनिकता एक सक्रान्ति-काल होता है, जहाँ विचारो में अतर्द्वन्द्व और टकराव बना रहता है। पर यही अन्तर्द्वन्द्व वस्तुत आध्यात्मिक विकास की एक चिंगारी है जो दर्शन और विज्ञान में समन्वय संस्थापित कर एक नयी आस्था जाग्रत करती है, आचरण को प्रतिष्ठित करती है और मानवीय सृजनात्मकता मे नये आयाम जोडती है। अज्ञानजन्य सशय को समाप्त करने के लिये रूपक, प्रतीक और निजधरी कथाओं के माध्यम से साहित्य वही काम करता है,जो प्रवचन के माध्यम से सन्त अपना चिन्तन व्यक्त करता है। सन्त और साहित्यकार का यह मानवीय उत्तरदायित्व है कि वह सस्कृति-बोध की प्रतीति को विकसित करे।

आधुनिकता समकालीन परिवेश और वर्तमानबोध से सपृक्त रहती है। भौतिक क्षेत्र मे मार्क्सवाद, पूँजीवाद, मानवतावाद, प्रजातन्त्रवाद और आर्थिक क्षेत्र में औद्योगीकरण जैसे तत्त्व सामने आये। इसे रिनेसा युग (पुनर्जागरण या प्रबोध युग) कहा जाता है। १८ वी शती मे इग्लैण्ड मे औद्योगिक क्रान्ति तथा फ्रान्स की प्रजातान्त्रिक बूर्ज्वा क्रान्ति हुई, जिसमे मनुष्य की जगह व्यक्ति को महत्त्व दिया गया और यही से मानव-मूल्यो का पतन होना प्रारम्भ हो गया। भारत मे इस आधुनिक युग का प्रारम्भ ब्रिटिश काल से होता है, जिसमे भोगवाद का जन्म हुआ, हिंसा, क्रूरता, आत्मपीडन, यौन-विकार, मदिरापान, उच्छखलता आदि जैसे घृणित तत्त्व विकसित हुए। फलत भारत में ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसाफिकल सोसायटी आदि जैसे सुधारवादी आन्दोलनो ने जन्म लिया।

मूकमाटी : समसामयिक हिन्दी साहित्य के संदर्भ में

उपादान आत्मशक्ति है, सौन्दर्य-शास्त्र की प्रतिभा है, जो निमित्त और अध्यवसाय से रूपान्तरित हो जाती है। माटी का रूपान्तरण मगलकलश के रूप मे हो जाना, इसी उपादान-निमित्त का परिपाक है। उसकी मूकता आत्मा के चिरन्तन स्वभाव की द्योतिका है और बीच की प्रक्रियाये लक्ष्य तक पहुँचने के सन्दर्भ मे विशिष्ट भूमिकाये हैं। "मूक माटी" इन समग्र भूमिकाओ का सम्वलित रूप है जो जीवन-दर्शन है उस यथार्थ सत्य को पाने का, जिसका स्वरूप मिथ्यात्व और अज्ञान से आवृत है। अध्यात्म की चिरन्तन सम्यक् साधना और वीतरागी प्रवृत्ति से उपजी

शाब्दिक आराधना का फल है "मूकमाटी" महाकाव्य का सृजन, जो सर्जक दृष्टि से भी मौलिक और अलौकिक है (पृ ४३६) । इसकी मौलिकता और अलौकिकता की जाँच करने के लिए आधुनिक हिन्दी साहित्य का सक्षिप्त सर्वेक्षण करना नितान्त आवश्यक है, ताकि इसका आधुनिक हिन्दी साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे सही मूल्यांकन किया जा सके।

आधुनिक हिन्दी काव्य: एक सर्वेक्षण

हिन्दी साहित्य मे आधुनिक काल का प्रारम्भ 'भारतेन्दु युग' से होता है। जिन्होंने जीवन को वास्तविकता से जोडने का सफल प्रयत्न किया है। हिन्दी गद्य में यह प्रयत्न दिखाई देता है परन्तु हिन्दी कविता पुरानी परम्परा से ही बधी रही है। उसका अधिकांश भावबोध पुराना ही रहा है। वस्तुत भारतेन्दु युग एक सक्रान्तिकाल था, जिसमे नवीन और प्राचीन विधाओ मे द्वन्द्व हुआ है। भारतेन्दु, प्रेमधन, अबिकादत्त व्यास, श्रीधर पाठक आदि कवि इस युग के प्रधान कवि रहे है। इस युग को हम भारतेन्दु युग (सन् १८६८ से १९०३ तक) कह सकते हैं। इस युग मे काव्य की विषय-वस्तु रही - राजभक्ति, बाल-विवाह जैसी कुरीतियो का खण्डन, नारी-स्वातन्त्र्य आदि। जन-जागरण करना ही इस युग के कवियो का मुख्य लक्ष्य था। इसके बाद आधुनिक युगीन कविता का द्वितीय चरण आया जिसे 'द्विवेदी युग' (सन् १९०३ से १९१६) कहा गया । इस युग मे खडी बोली का स्वरूप निश्चित हुआ और हिन्दी कविता को रीतिकालीन परम्परा से मुक्त कर दिया गया। इस युग की पुनरुत्थानवादी कविताओ पर सामन्तयुग तथा पूजीवादी युग की छाप है। उसमे स्थूलता, शुद्धता और इतिवृत्तात्मकता है। श्रृगारिक सौन्दर्यवादी भावना से कविता को दूर रखा गया है। विचार-स्वातन्त्र्य के प्रभाव से प्राचीन परम्पराओ और मूल्यो मे क्रान्ति आयी, मानव-मूल्यो का प्रस्थापन हुआ, राष्ट्रप्रेम जागृत हुआ, शोषित नारी के उत्थान का पथ निर्धारण हुआ और खडी बोली का सरल रूप काव्यधारा का माध्यम बना।

हिन्दी कविता ने फिर छायावादी युग (सन् १९१६ से १९३६) मे प्रवेश किया, जिसमे व्यष्टिमूलक चेतना को सूक्ष्मता, स्वच्छन्दता, ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता और प्रतीक विधान के माध्यम से व्यक्त किया गया । प्रकृति और नारी को योरोप के रोमाटिक आन्दोलन के प्रभाव मे अपने प्रणय को व्यक्त करने का माध्यम बना लिया गया । इस काल की कविता मे वैयक्तिकता, स्वच्छन्दता, निराशा, पलायन, विद्रोह, रहस्यात्मकता, प्रेमभावना, प्रतीकात्मकता, आलकारिक शैली, अन्योक्ति पद्धति, सस्कृत शब्दो का प्रचुर प्रयोग, प्राकृतिक चित्रण, भाव-सौन्दर्य,

स्वगत प्रवृत्ति, उपदेशात्मक प्रवृत्ति का अभाव, कल्पना-प्रवणता, अभिव्यञ्जना का प्रयोग आदि जैसी विशेषतायें दिखाई देती हैं।

इस युग में दार्शनिक बोध का विकास अधिक हुआ रोमांटिसिज्म के आधार पर। जयशंकर प्रसाद इसके प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं। उन्होंने लाक्षणिकता और उपचार वक्रता को स्वानुभूति की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। उनकी सन् १९३५ में छपी "कामायनी" छायावाद युग की प्रतिनिधि रचना है, जिसमें उन्होंने वैदिक आख्यान और अनुश्रुतिजन्य कथा को अपनी कल्पनाशीलता से परिमार्जित किया है। उसमें आधुनिकता से उत्पन्न प्रश्नों को उत्तरित किया गया और आध्यात्मिक रहस्यवाद और आनन्दवाद को प्रस्थापित किया गया। वैयक्तिक तथा ईश्वरोन्मुख प्रेम विविध प्रतीकों के माध्यम से व्यञ्जित हुआ है। सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" और महादेवी वर्मा ने भी छायावादी युग की कविता को प्रतिष्ठित किया है।

सन् १९३६ मे प्रकाशित महाकवि निराला की "राम की शक्तिपूजा" विशेष उल्लेखनीय है, जिसमें राम-रावण युद्ध-वर्णन के बहाने व्यक्ति और समाज के उदात्त जीवन-मूल्य को अभिव्यञ्जित किया गया है। यह एक ऐसी सशक्त रचना है, जिसमें कवि ने काव्य-सौष्ठव द्वारा पौराणिक आख्यान को पल्लवित करके उसे एक नूतन परिवेश मे प्रस्तुत किया है। उसमें साधना और तपश्चर्या के द्वारा मानव के बाह्य तथा आन्तरिक जगत की शक्ति-सम्पन्नता को सुन्दर अभिव्यक्ति मिली है। जनवादी और जनविद्रोही शक्तियो के सघर्ष की भयानक स्थिति को तीखी शब्दावली मे कवि ने प्रस्तुत किया है। प्रतीकात्मक व्यञ्जना के कारण औदात्य और अन्त सघर्ष का चित्रण बडे ही मार्मिक ढग से हुआ है।

छायावादी साहित्यिक कृतियो मे सौन्दर्य भावना, प्राकृतिक सौन्दर्य चित्रण, आध्यात्मिक प्रेमभावना, मानववादी दृष्टिकोण, जीवन के बदलते हुए मूल्यो की अभिव्यक्ति, असीम की अनुरागात्मक अनुभूति, राष्ट्रीय भावना, प्रतीकात्मकता, आलकारिकता, विज्ञान का प्रभाव आदि जैसी विशेषताओं ने एक नई सास्कृतिक चेतना की लहर से जनमानस के चित्त को आप्लावित कर दिया और आधुनिकता की प्रभविष्णुता ने सामाजिक और सास्कृतिक जीवन को प्रभावित किया। प्रेमचन्द और उनके समकालीन लेखकों में भी आधुनिकता के बिम्ब अनेक रूपो मे दिखाई देते हैं।

तदनन्तर राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता, वैयक्तिक सुख-दुःख को अभिव्यक्त करनेवाली गीति कविता, और प्रगतिवादी कविता आई। राष्ट्रवादी कविता के साथ ही कविता श्रृंगारिक और आर्थिक समस्याओं से भी सम्बद्ध हो गई। शारीरिकता और मांसलता विशेष रूप से मुखरित हुई। हालावादी प्रतीक अधिक लोकप्रिय हो गये और साम्यवाद की अभिव्यक्ति के रूप मे प्रगतिवादी विचारधारा ने जन्म लिया। आर्थिक वैषम्य ने सामाजिक क्षेत्र मे पनपी कुरीतियो और अन्धविश्वासो के विरोध में विद्रोह फैलाया। फलत ह्रासोन्मुखी छायावादी साहित्यिक परिस्थिति ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण सामने रखा। यही कारण है कि पुराने छायावादी कवियो की कामायनी, तुलसीदास, अनामिका जैसी रचनायें प्रगतिवादी भूमिका से बाहर नही की जा सकती हैं। केदारनाथ अग्रवाल, दिनकर, नागार्जुन, अचल, रागेय राघव, रामविलास शर्मा, शिवमगल सिंह सुमन आदि कवियो ने इस विचारधारा को पोषित किया है। सामाजिक यथार्थवाद, सामाजिक समस्याओ के प्रति जागरूकता, बौद्धिकता, राष्ट्रीयता, मानवता, नारी स्वातन्त्र्य आदि विशेषताओ के देखने से प्रगतिवादी कवियों पर मार्क्सवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जन- साधारण से सम्बद्ध होने के कारण छायावादी दूरारूढ कल्पना से दूर रहकर प्रगतिवादी कविता जीवन की वास्तविकता से जुड गई। इसलिए इन कवियों ने भावानुकूल सरल भाषा को अपनाया और नवीन रूपको, उपमाओ और प्रतीको की सयोजना की।

आधुनिक कविता प्रगतिवाद से प्रयोगवाद की ओर सक्रमित हुई। इसका प्रारम्भ सन् १९४३ में प्रकाशित प्रथम "तार सप्तक" से माना जाता है जिसमे सात कवियो की कविताओ का सकलन हुआ — गजानन मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय। सन् १९५१ में अज्ञेय के सपादकत्व में दूसरा "तार सप्तक" प्रकाशित हुआ, जिसमें भवानी प्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय और भारती की कवितायें सकलित हुईं। सन् १९५४ मे जगदीश गुप्त का "नई कविता" काव्य सकलन, १९५६ में "नकेन" काव्य संकलन तथा १९५९ मे तृतीय "तार सप्तक" के प्रकाशन से प्रयोगवादी कविता प्रस्थापित हो गई। यद्यपि प्रयोगवादी तत्त्व प्रसाद की "प्रलय की छाया" "वरुणा की शान्त कछार" आदि कविताओं में उपलब्ध होते है, परन्तु निराला की "कुकुरमुत्ता", "नये पत्ते"आदि कविताओं में प्रयोगवादी प्रवृत्ति का और अधिक विकास मिलता है। भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय, अश्क, पन्त, गिरिजाकुमार माथुर, मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र आदि कवियों ने इस विधा का अच्छा विकास किया।। यहाँ मन के सूक्ष्म

भावों का चित्रण वर्जना-ग्रस्त दिखाई देता है। इन कविताओं में उन्मुक्त वासनायें और कुंठित यौन परिकल्पनायें तैरती-सी नजर आती हैं। अति यथार्थवादी इन कविताओं में यथार्थवाद, सामाजिकता का अभाव, बौद्धिकता की प्रतिष्ठा, कल्पनाशीलता, विद्रोहात्मक स्वर, प्रेम की पराकाष्ठा, यौन वर्जना,नवीन प्रतीक,निराशा जैसी प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं । इसके बाद इसे "साठोत्तरी कविता" नाम दिया गया , जिसमें प्रणय को व्यंग्य और विडम्बना के माध्यम से व्यक्त किया गया। अतिकल्पना तत्त्व से भरपूर इन कविताओं में नये प्रतीकों, बिम्बों, अमूर्तको, मिथकों और अन्यथा करणों का प्रयोग हुआ। निषेध की पृष्ठभूमि में अकविता, श्मशान पीढी, भूखी पीढी आदि की रचना प्रक्रियायें उठीं जिनमें वैयक्तिक असन्तोष, कुण्ठा, लाचारी आदि प्रतिक्रियाओं के स्वर प्रतिगुञ्जित हुए। इन कवियों की दृष्टि नकारात्मक, विकृत, यौन वासना से पीडित और आक्रामक रही है।

हिन्दी कविता के आधुनिक युग के इस विहंगावलोकन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि समूचे काल में यथा-सामयिक नवयुग की चेतना उद्‌वेलित होती रही है और राष्ट्रीय तथ सामाजिक चेतना की पृष्ठभूमि में मानवतावाद की प्रतिष्ठा बढती रही है। कवियों मे संवेदनशीलता, सहानुभूति और मानवतावादी दृष्टि ने एक नई आधुनिकता को जन्म दिया है। स्वाधीनता के परिवेश में नई कविता ने अपने अनेक रूप रखे। नाटक, उपन्यास और कहानी जगत ने भी इस करवट को अलग पहचान दी। इन सभी साहित्यकारों के चिन्तन की मूल भित्ति यथार्थ की प्रतिपत्ति रही है। महाभारत के आख्यान पर आधारित धर्मवीर भारती का "अन्धा युग" तो सर्वाधिक समसामयिक काव्य नाटक है जो युद्धोत्तर समाज की अवस्था का जीवन्त चित्रण प्रस्तुत करता है। भारतीय सन्दर्भ में उसे एक मानवीय, सार्थक खोज के रूप मे मूल्यांकित किया गया है। वर्तमान के प्रति उसमें पूर्ण सजगता है। इस जमात के कवियों में नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, मुक्तिबोध, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, दुष्यन्तकुमार, विपिनकुमार अग्रवाल, जगदीश गुप्त, श्रीकान्त वर्मा, रघुवीर सहाय, जगदीश चतुर्वेदी, अशोक वाजपेयी आदि पचासो कवियों के वैचारिक आन्दोलन का उल्लेख किया जा सकता है जिन्होंने अपने-अपने ढग से सास्कृतिक चेतना को अपने काव्य में अभिव्यञ्जित किया है।

इसप्रकार हिन्दी कविता में जो आधुनिक नवोन्मेष भारतेन्दु युग में प्रारम्भ हुआ, वह अनेक परतों को पार करता हुआ छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, साठोत्तर कविता आदि विकास-क्रमों के माध्यम से नये-नये आयामों का

विस्तार करता रहा है। कविता की इस लम्बी यात्रा में अतृप्त प्रेमवासना ही अधिक मुखरित हुई है। साठोत्तरी कविताओं मे तो यह भोंडापन और भी तीखे स्वर मे अभिव्यञ्जित हुआ है। मिथकीय परम्परा पर आधारित काव्य कुछ आध्यात्मिकता को अवश्य प्रस्तुत करते हैं पर कुल मिलाकर हिन्दी की नई कविता यौनवासना और भौतिकवादी मनोवृत्ति की भूमिका लिये हुए है।

इस नई कविता के दौरान काव्य की अनेक रूप-विधाएं सामने आईं। महाकाव्य, खण्डकाव्य, प्रबन्धकाव्य, काव्य रूपक, मुक्तक काव्य, गीतिकाव्य आदि विधाओं में नये-नये प्रयोग भी हुए हैं और उनकी कथाओं और शिल्प परम्पराओं को विस्तार भी मिला है। महाकाव्य की परिभाषा का रूप और स्वरूप भी बदला है। काव्य सृजन प्रक्रिया में अभिव्यञ्जना ने भी नये मोड लिये। प्रसाद की 'कामायनी' निराला की 'रामकी शक्तिपूजा' रांघेय राघव की 'मेधावी' जैसी रचनाओं ने रूढिमुक्त नूतन प्रयोगकर नया रूप-विधान दिया। इसी शृखला में आचार्यश्री विद्यासागर जी का 'मूक माटी' महाकाव्य भारतीय ज्ञानपीठ से सन् १९८८ में प्रकाशित हुआ। इसकी रूपक योजना ने पूर्ववर्ती सारे काव्यों के मानदण्ड पीछे छोड़ दिये। उसमे भारतीय और पाश्चात्य कला का जो अद्भुत समिश्रण हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। दर्शन की अभिव्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में कवि ने जीवन मे शाश्वत मूल्यों को सास्कृतिक परम्परागत तथ्यो की पृष्ठभूमि में बडे सशक्त ढग से प्रस्तुत किया है।

आधुनिक हिन्दी काव्य में छायावाद से लेकर साठोत्तर कविता तक कोई भी ऐसा काव्य या महाकाव्य दृष्टिपथ मे नही आया, जिसकी तुलना आचार्यश्री के "मूक माटी" महाकाव्य से की जा सके। इसीलिए हमने इसे "महाकृति" कहा है। छायावादी युग मे प्रसाद ने "कामायनी", "आँसू" जैसे विरह प्रसूत आनन्दवादी भावात्मक काव्य की रचना की। पन्त ने "ग्रन्थि", "पल्लव", "वीणा", "उत्तरा", "लोकायतन" आदि कृतियों में जीवन और जगत के प्रति नई दृष्टि दी। निराला का अध्यात्म-चिन्तन और लोकसृजन "राम की शक्तिपूजा", "सरोज स्मृति", "तुलसीदास", "कुकुरमुत्ता" आदि रचनाओं में प्रतिबिम्बित हुआ। महादेवी वर्मा ने

अपनी समूची काव्य रचनाओं में विरह वेदना की अनुभूति की आत्मीनता, मादकता और माधुर्य को अभिव्यक्त किया, परन्तु इन सभी काव्यों में कहीं भी विरागता और शुद्ध आध्यात्मिकता के दर्शन नहीं होते। यह बात सही है कि छायावादी -रहस्यवादी काव्य चेतना के अन्तर्गत अभिव्यक्ति के सर्वथा नये आयाम सामने आये, व्यक्तिगत चेतना घुमनद्ध हुई, कलात्मक बोध का विस्तार हुआ, चित्रात्मक परम्परा का सृजन हुआ, प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण किया गया, प्रेम व्यापार भरे जीवन का दस्तावेज प्रगट किया गया, वासना का इजहार हुआ, परन्तु जीवन की यथार्थता और चेतना की विशुद्ध चिरन्तनता का कोई रूप वहाँ उपलब्ध नही होता। "मूक माटी" जिस पवित्र भाव भूमि पर सृजित हुई है, वह उपर्युक्त किसी भी महाकाव्य विधा में दिखाई नहीं देती। आचार्यश्री विद्यासागर जी ने, लगता है, समसामयिक साहित्य की उपर्युक्त प्रवृत्तियो के प्रति असतोष व्यक्त करते हुए, उन्हें साहित्य के यथार्थ से बाहर रखा और कहा कि यदि समसामयिक साहित्य, साहित्य के यथार्थ अर्थ से समन्वित हो तो वह सर्वोत्तम कहा जा सकता है, अन्यथा "सार-शून्य शब्द-झुण्ड" ही होगा -

सर्वोत्तम होगा सम-सामयिक।
शिल्पी के शिल्पक साचे में
साहित्य शब्द ढलता-सा।
"हित से जो युक्त-समन्वित होता है
वह सहित माना है"
और, सहित का भाव ही
साहित्य बाना है,
अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से
सुख का समुद्भाव-सम्पादन हो
सही साहित्य वही है
अन्यथा,
सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का साहित्य है वह
सार-शून्य शब्द-झुण्ड ......! (पृष्ठ ११०-१११)

आधुनिक युग तर्कशीलता का युग है, विचार स्वातन्त्र्य का युग है, राष्ट्रीय भावनाओं के जागरण का युग है। इसमे यथार्थोन्मुख आदर्शवाद का विकास हुआ, औद्योगिक क्रान्ति हुई, व्यक्तिवाद और स्वच्छन्दतावाद का जन्म हुआ, रोमान्टिक क्रियाकलाप बढे और आर्थिक विषमता पनपी। इसमे वर्तमान युग और समसामयिक की भूमिका के रूप में रिनेसां सस्कृति तथा पूंजीवादी समाज व्यवस्थाओं का द्वन्द्वात्मक योग हुआ और आधुनिक शोध-बोध मे सक्रियता आई। फलत· धर्मनिरपेक्षता, सार्वभौमिकता सामाजिक सुधारवाद, सर्वोदयवाद, वर्णव्यवस्था-विरोध, समाजवाद जैसी विचारधारायें लोकप्रिय होने लगी । विज्ञानवाद पर भी बल दिया जाने लगा। परिणामत· धर्म की पारम्परिकता पर प्रश्नचिह्न खड़ा हो गया।"मूकमाटी" ऐसे ही प्रश्नचिह्न को समाधानित करने की दृष्टि से रचा गया महाकाव्य प्रतीत होता है।

रचना की पृष्ठभूमि और उद्देश्य

प्रत्येक रचना की पृष्ठभूमि में कोई न कोई परिस्थिति काम करती है। उसके भावों और विचारों का कोई सदर्भ विशेष होता है। रचना मे गत्यात्मकता, प्रगाढता, अनुभूतिपरकता, सवेदनशीलता, सूक्ष्मता जैसे तत्त्व भावों और विचारों में सपृक्ति के बिना उन्मेषित नही हो पाते, शब्द और अर्थ का साक्षात् योग नही हो पाता, नई-नई उद्‌भावनाये नहीं आ पाती और साधारणीकरण की प्रक्रिया जुट नही पाती। मूक-माटी के अध्ययन से ऐसी धारणा बलवती होती जाती है कि उसकी रचना के पीछे कोई घटना विशेष है, जिसने कवि को उद्‌वेलित कर दिया है। ऐसे ही उद्‌वेलन का परिणाम है "मूक माटी", जिसमें निमित्त-उपादान की सुन्दर मीमांसा की गई है। सवेदनशील कवि ने प्रस्तुत महाकाव्य मे न निमित्त पर बल दिया है और न उपादान को प्रमुखता दी है, बल्कि उन्होंने आगमिक आधार पर उसका सापेक्षिक कथन किया है, जो एक ओर दार्शनिक बोध का विस्तार करता है तो दूसरी ओर व्यावहारिक क्षेत्र मे उतरकर वस्तुस्थिति को समझने का सकेत करता है। निमित्त-उपादान का मूल्यांकन ऐकान्तिक दृष्टि से संभव नहीं है। यही 'मूक माटी' का कथ्य है और यही उसका तथ्य है, जो अवान्तर घटनाओं मे अनुस्यूत है।

"मूक माटी" यद्यपि महाकाव्य है, पर उसका उद्देश्य एक विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त को स्पष्ट करना रहा है। वह दर्शन परम सत्य की प्रतिष्ठा है, उपलब्ध ज्ञान को प्राप्त करने की प्रक्रिया है। काव्य भावात्मक होता है और दर्शन को बौद्धिक दर्शन की अनुभूति के लिए वासनाहीन होना पडता है, पर काव्य की अनुभूति के लिए वासना एक अनिवार्य शर्त है। शुद्ध दार्शनिकों ने "काव्यालापाश्च वर्जये" कहकर इसी

तथ्य को प्रस्तुत किया है, पर यद्यपि दोनों का सम्बन्ध जीवन की व्याख्या करता है पर उनके साधन भिन्न-भिन्न है। पाश्चात्य दार्शनिकों ने दर्शन और जीवन के इस सम्बन्ध को अनुभूति का विषय बनाया, जबकि भारतीय दार्शनिकों ने अनुभूति को ही परम मूल्य के रूप मे स्वीकारा है। इसलिए वे कवि भी हुए और दार्शनिक भी। दार्शनिकों ने काव्य-सृजन भी किया। आचार्यश्री दार्शनिक भी हैं और कवि भी हैं। विशेषता यह है कि 'मूक माटी' काव्य होते हुए भी वासना का स्पर्श भी वहाँ दिखाई नहीं देता। उसमे विरागता का रंग आदि से अन्त तक चढा हुआ है। फिर भी उसकी काव्यात्मकता मे कोई कमी नहीं आई। बल्कि उसमें नये मानो-प्रतिमानो के कारण प्रभावात्मकता और भी बढ गई है। अतः वह लीक से हटकर एक अलग ही विधा का निर्मापक काव्य बन गया है।

भारतीय दर्शनशास्त्र नीतिशास्त्र से जुडा हुआ है। दर्शन के साथ नीतितत्त्व अथवा आचरण तत्त्व की व्याख्या भी यहाँ युगपत् होती रहती है। काव्य शुभ और अशुभ की भी व्याख्या करता है। कलावादी भले ही नैतिक तत्त्व को काव्य की श्रेष्ठता की कसौटी स्वीकार न करें, पर दूसरे लोग उसका मूल्यांकन मानवीय आचरण की व्याख्या के आधार पर किया करते है। इन तत्त्वों का समन्वय वस्तुत काव्य मे एक अन्य प्रकार की ही रसात्मकता को उत्पन्न कर देता है। सर्वोदयवाद और समाजवाद की दिशा साहित्य के सही अर्थ को स्पष्ट करती है। आचार्यश्री ने साहित्यिक भाव-बोध का प्रश्न उठाते हुए पश्चिमी सभ्यता और भारतीय सभ्यता के बीच महत्त्वपूर्ण एक विभेदक रेखा खीची है (पृ.१०२-१०३) और शोध-बोध की बात करते हुए (पृ १०७) साहित्य के मार्मिक अर्थ को स्पष्ट किया है (पृ-१११)। तदनुसार हित से समन्वित होना साहित्य की आत्मा है। 'मूक माटी' की भी यही आधार भूमि है। अतः वह दार्शनिक महाकाव्य है, दर्शन और अध्यात्म का समन्वित रूप है और सांस्कृतिक परम्परा की जीवन्त महाकृति है।

ऐसी महाकृति की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षा करना सरल नही होता। एक ही काव्य मे सिद्धान्त और काव्य, दोनों का सम्पुट होना एक विशिष्ट प्रतिभा का प्रदर्शन है, जो 'मूक माटी' मे मुखर हुआ है। सिद्धान्त यथार्थ और वस्तुवादी व्याख्या करता है, अनुगम विधि का उपयोग करता है जिसमें वस्तुओं के अध्ययन के आधार पर नियम बनाये जाते है और व्यवहार प्रयोग की बात करता हुआ निगमन विधि को अपनाता है। यहाँ इन दोनों विधियों का प्रयोग हुआ है। समाजशास्त्र, मनोवैज्ञानिक आदि सिद्धान्तों की भी मीमांसा इस महाकृति मे यथास्थान की गई है और अन्त मे निमित्त और उपादान का मूल्यांकन किया गया है। महाकवि का यह

क्रान्तिकारी प्रयोग है, बिलकुल अभिनव प्रयोग, जिसने साहित्य और काव्य के क्षेत्र में शृंगार के स्थान पर विरागता की प्राण-प्रतिष्ठा की और जीवन की व्यापकता को स्पष्ट किया। यह प्रयोग एक विशिष्ट सांस्कृतिक दृष्टि का प्रयोग है, सिद्धान्त और जीवन-निष्ठा का प्रयोग है, व्यक्तित्व की भावना का प्रयोग है। इस विरल प्रयोग में समीक्षक का तादात्म्य सम्बन्ध होना काव्य के प्रति न्याय करने के लिए अत्यावश्यक है।

यह काव्य सामाजिक चेतना पर आधारित है, वह भी नकारात्मक नहीं, सकारात्मक है। यथोचित परिवेश और वातावरण को प्रस्तुत करते हुए कवि ने यह अवधारणा दी है कि व्यक्ति को अपनी उपादान शक्ति पर विश्वास करना चाहिए और निमित्त का आश्रय लेकर उसे उन्मेषित करना चाहिए। आध्यात्मिक क्षेत्र में आकर स्व और पर का भेदविज्ञान प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य बन जाता है। इसलिए नियति और पुरुषार्थ का पारम्परिक अर्थ भी कवि की दृष्टि में बदल गया —

'नि' यानी निज में ही
'यति' यानी यतन-स्थिरता है
अपने मे लीन होना ही नियति है
निश्चय से यही यति है,
और
'पुरुष' यानी आत्मा-परमात्मा है
'अर्थ' यानी प्राप्तव्य प्रयोजन है
आत्मा को छोडकर
सब पदार्थों को विस्मृत करना ही
सही पुरुषार्थ है। (पृष्ठ ३४९)

नियति और पुरुषार्थ की यह चेतना व्यक्ति को जीवन का मूल्य समझने के लिए एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है, आत्मिक साक्षात्कार है, निस्पृहता की उद्भावना है और सामाजिक चेतना की सक्रियता है। आज की विसंगतियों से मुक्त होने के लिए कल्याण के इच्छुक मुमुक्षु के लिए यह एक निर्विवाद-सुन्दर पथ है, जो मानवता की असीम भाव-भूमि को संस्पर्श करता हुआ अविरल गति से नये-नये क्षितिजो को उद्घाटित करता चला जाता है।

राष्ट्रीय चेतना के अन्तःस्वर

एक बात और है। साहित्यकार सांसारिकता से कितना भी असंपृक्त क्यों न हो, वह राष्ट्रीय चेतना से अपने को अछूता नहीं रख सकता। राष्ट्र के विकास मे उसका प्रदेय साहित्यिक परिवेश मे उपेक्षित नही माना जा सकता। कवियों पर राष्ट्र के विकास का उत्तरदायित्व रहा है, जो उन्होंने ब-खूबी निभाया है। मानवीय सवेदनाओ के स्पन्दनों की धडकन से जो संगीत-स्वर उद्भूत हुए, उन्होंने व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की कोशिकाओं कों मुकृत किया और अखण्डता, एकनिष्ठता और सदाचरण की ओर कदम बढाने के लिए प्रेरित किया। सकीर्णता के दायरे से हटकर सार्वजनिक और सर्वांगीण दृष्टि से मानवीय चेतना को परिष्कृत करने का उत्तरदायित्व साहित्यकार की मर्मज्ञता और सर्जनशीलता का परिचायक है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" की परिभाषा से आबद्ध उसकी विचारधारा विश्व-मानवता का पाठ पढाती है, राष्ट्रीयता को प्रस्फुटित करती है, अहवाद को विसर्जित करती है और विश्व-शान्ति के स्वप्न को साकार करने का नया आयाम देती है। अन्तर्राष्ट्रीय सद्भाव, परस्पर सहयोग, सह-अस्तित्व और सद्वृत्तियो के जागरण करने मे उसका योगदान एक अह भूमिका लिये रहता है। मूक माटी का यह अवदान एक ओर आध्यात्मिक सस्कार को जाग्रत करने के लिये सशक्त साधन है तो दूसरी ओर क्षमता और सामर्थ्य को सही दिशा-दान देने के लिए विनम्र आन्दोलन है। "जागो फिर एक बार" जैसे जागरण गीतो की एकलयता में मूक माटी का "मेरा सगी सगीत है, समरस नारगी शीत है" (पृ १४५) का युगबोध नया स्वर जोड देता है, जो आत्म-परिष्कार की दृष्टि से और यथार्थ बोध की ओर सजगता लाने की कामना से निश्चित ही महान प्रदेय माना जा सकता है। वह आज की स्थिति का चित्रण करते हुए (पृ.१५१) जनमानस मे व्याप्त अर्थलिप्सा (पृ १९२,२१७), कलह (पृ १४९) शिथिलाचारिता (पृ ४४८), स्वार्थता (पृ १९७), आदि जैसे सांसारिक तत्त्वों का सुन्दर चित्रण करता है और माटी की विशेषता (पृ ३६५) तथा शिल्पी की चारित्रिक दृढता (पृ २६५) का उल्लेख कर श्रावक, श्रमण और प्रवचनकर्त्ताओ के लिए एक आचार संहिता को उपस्थित कर देता है।

"मूक माटी" के रचयिता की दृष्टि में पंजाब का मसला और उसका प्रचण्ड आतंकवाद एक चिन्ता का विषय रहा है। इसलिए वह कह उठता है पूरे स्वर से कि आतंकवाद के रहते धरती शान्ति की श्वास नहीं ले सकती। इसलिए उसे पूरी शक्ति से समाप्त करना होगा। अब विलम्ब करने की आवश्यकता नहीं। यह तो अस्तित्व का प्रश्न है। यहां अस्तित्व एक का ही रहेगा। तभी समृद्धि होगी -

जब तक जीवित है आतंकवाद
शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह
ये आँखे अब
आतंकवाद को देख नहीं सकती,
ये कान अब
आतंक का नाम सुन नहीं सकते,
यह जीवन भी कृत संकल्पित है कि
उसका रहे या इसका
यहाँ अस्तित्व एक का रहेगा,
अब विलम्ब का स्वागत मत करो
नदी को पार करना ही है
भय विस्मय संकोच को
आश्रय मत दो अब। (पृष्ठ ४४१ - ४४२)

आतंकवाद को समाप्त करने में कवि की दृष्टि सही समाजवाद की प्रस्थापना की ओर जाती है, जिसमें धनतंत्र की जगह जनतंत्र की आराधना हो और निर्धनों में धन का समुचित वितरण हो (पृ ४६१-४६८)। उन्होंने प्रकाशसिंह बादल के स्थान पर सुरजीत सिंह बरनाला को मुख्यमन्त्री बनाये जाने पर अपनी जो प्रतिक्रिया व्यक्त की है, वह दृष्टव्य है —

बादल दल छंट गये है
काजल पल कट गये है
वरना, लाली क्यों फूटी है
सुदूर प्राची में! (पृष्ठ ४४०)

हम भारतीय स्वतंत्र है और स्वतन्त्रता-प्रिय हैं। हम न स्वयं परतन्त्र होना चाहते है और न दूसरों को परतन्त्र करना चाहते हैं, बल्कि परतन्त्र देशों को स्वतन्त्र करने में हम यथाशक्य मदद करते हैं। हमारे भारत की यही विदेश नीति रही है जिसका संकेत आचार्यश्री ने कूप के मुख से कुछ पंक्तियां कहलाकर दिया है —

यहाँ
बन्धन रुचता किसे ?

मुझे भी प्रिय है स्वतन्त्रता
तभी... तो...
किसी के भी बन्धन में
बंधना नहीं चाहता मैं,
न ही किसी को
बांधना चाहता हूँ।
जानते हम,
बांधना भी तो बन्धन है।
तथापि
स्वच्छन्दता से स्वयं
बचना चाहता हूँ
बचता हूँ यथाशक्य
और
बचना चाहे हो, न हो
बचाना चाहता हूँ औरो को
बचाता हूँ औरों को
बचाता हूँ यथाशक्य।
यहाँ
बन्धन रुचता किसे?
मुझे भी प्रिय है स्वतन्त्रता। (पृष्ठ ४४२-४३)

स्वतन्त्र देश में राजनीतिक दलों का होना तो आवश्यक होता है पर उनकी दलगत कुत्सित नीति राष्ट्र के लिए हानिकारक होती है, राष्ट्र-विघातक होती है। दल-बहुलता वस्तुत शान्ति को नष्ट-भ्रष्ट करने वाली और स्वार्थ केन्द्रित होती है—

दल-बहुलता शान्ति की हननी है ना !
जितने विचार, उतने प्रचार
उतनी चाल-ढाल
हाला घुली जल-सा
क्लान्ति की जननी है ना।
तभी तो अतिवृष्टि का, अनावृष्टि का

और
अकालवर्षा का समर्पण हो रहा है यहाँ पर !
तुच्छ स्वार्थ सिद्धि के लिए
कुछ व्यर्थ की प्रसिद्धि के लिए
सब कुछ अनर्थ घट सकता है। (पृष्ठ १७)

स्वतन्त्रता को कायम रखने के लिए सही समाजवाद और सर्वोदयवाद का अवलम्बन आधारशिला मानी जा सकती है जिस पर प्रशस्त आचार-विचार मढे हो और जनकल्याण की बात खुदी हो, जहाँ न दम्भ हो न राजसत्ता, न स्वार्थ हो न मात्र नारेबाजी, न पत्थरो की मार हो, न विलासिता हो। वहाँ हो अध्यात्मवाद से सिञ्चित पुरुषार्थवृत्ति और सदाशयता से भरी परोपकारिता (पृष्ठ ४६१)।

कवि मात्र राष्ट्रीय चेतना से ही ओतप्रोत नहीं है। उसे अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का भी पूरा आभास है। लगता है "मूक माटी" लिखते समय पजाब का आतकवाद और पाकिस्तान द्वारा उसका सचालन कवि के मानस को उद्वेलित कर देता है। इसीलिए तो वह कह उठता है तत्कालीन राष्ट्राध्यक्ष जनरल जिया उल हक को कि उसे सदाशय और समष्टि की बात सोचनी चाहिए। मिटने-मिटाने की बात उसके मुँह से शोभा नही देती —

परस्पर कलह हुआ तुम लोगों मे
बहुत हुआ, वह गलत हुआ।
मिटाने-मिटने में क्यो तुले हो
इतने सयाने हो।
जुटे हो प्रलय कराने
विष से घुले हो तुम
सदय बनो।
अदय पर दया करो
अभय बनो।
समय पर किया करो अभय को
अमृत-मय वृष्टि
सदा सदा सदाशय दृष्टि
रे जिया, समष्टि जिया करो।

जीवन को मत रण बनाओ
प्रकृति माँ का ऋण चुकाओ। (पृष्ठ १४)

राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर चिन्तन करते हुए कवि ने अनेकान्तवाद को ऐसे अभेद्यअस्त्रके रूप में यहाँ प्रस्थापित किया है, जो पारस्परिक मन मुटाव को दूर कर सौहार्दभाव को जन्म देता है और चतुर्मुखी विकास के गलियारे तय करता है। इसके लिए 'ही' और 'भी' की सस्कृति को आत्मसात करना होगा तभी लोकतन्त्र का नीड सुरक्षित रहेगा (पृष्ठ १७३)

जीवन दर्शन का उद्बोधन

ज्ञान से दीप्त और तपस्तेज से प्रदीप्त दिगम्बर वेषधारी आचार्य श्री विद्यासागरजी की "मूक माटी" एक दार्शनिक महाकृति है, जिसमें उन्होने "मूक माटी" के माध्यम से जैनदर्शन को प्रस्फुटित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। यह महाकाव्य है या प्रबन्धकाव्य, रूपककाव्य है या खण्डकाव्य, इसकी मीमासा में जाये बिना यह नि सकोच कहना चाहूँगा कि यह काव्य एक सशक्त दार्शनिक महाकाव्य है, जिसमें कवि ने व्यक्तित्व के विकास की रूपरेखा को अपनी भावभूमि पर उकेरा है और प्रस्तुत किया है स्वय के विशुद्ध जीवन की निकष को, जिसे किसी भी ओर से कैसे भी परखा जा सकता है।

साहित्य साहित्यकार के जीवन-दर्शन का अप्रतिम दर्पण है। उसकी विचारधारा और जीवन के अविस्मरणीय घटनाचक्र-कृति के पन्नों में जहाँ कहीं अभिव्यक्त हुए बिना नही रहते। महाकाव्य का प्रारभ होता है धरती/जननी माँ से उस सरिता के निवेदन के साथ, जो स्वय को पतिता और पददलिता मानती है और पूछती है बडी व्याकुलतापूर्वक कि "इस सतप्त पर्याय की इति कब होगी और काया की च्युति कब होगी" (पृष्ठ ४-५)

सरल-निश्छल, तरल और विरक्त मन के साथ सहृदया माँ का जो उत्तर मिलता है, वह अपने आप मे जैनदर्शन की आद्य विशेषता को प्रस्तुत करता है कि प्रत्येक जीव में अनगिनत सभावनायें भरी हुई हैं और पूरी आस्था के साथ उन्हीं का विकास साधक आपने स्वय के प्रयत्न से करता है। बस, उसे अपनी शक्ति का आभास और उसकी अनुभूति हो जानी चाहिए।

सत्ता शाश्वत होती है बेटा!
प्रतिसत्ता में होती हैं
अनगिनत संभावनायें,
उत्थान-पतन की,

खसखस केदाने-सा
बहुत छोटा होता है
बड का बीज वह !
समुचित क्षेत्र में उसका वपन हो
समयोचित खाद, हवा, जल,
उसे मिलें
अकुरित हो कुछ ही दिनों में
विशाल काय धारणकर
बड केरूप में अवतार लेता है,
यही इसकी महत्ता है ।
सत्ता शाश्वत होती है
सत्ता भास्वत होती है बेटा !
रहस्य में पडी इस गन्ध का
अनुपात करना होगा
आस्था की नासा से सर्वप्रथम
समझी बात । (पृष्ठ ७-८)

आस्था के जीवत स्वर से भरे इस उद्घोष में दर्शन का प्रथम और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बिन्दु प्रकाशित होता है । काव्य के प्रारभ में माँ के उद्बोधन से तो काव्य का अन्त होता है उसके प्रयोजनभूत मोक्ष के स्वरूप को आज की परिभाषा में स्पष्ट कर प्रवचन से और स्वय के आचरण को खुली किताब बना देने से,यह कहकर आतकवादी से –

कि, क्षेत्र की नहीं
आचरण की दृष्टि से
मैं जहाँ पर हूँ
वहाँ आकर देखो मुझे,
तुम्हे होगी मेरी
सही-सही पहचान । (पृष्ठ ४८७)

ये दोनों आद्यत उद्धरण एक ओर माँ के प्रति कवि की ममता, श्रद्धा, कृतज्ञता और आस्था के द्योतक हैं तो दूसरी ओर उन आलोचको को आव्हान है उनके (कवि के) आचरण को देखने-परखने की,जो बिना जाने-समझे अज्ञानतावश साधक पर अगुली उठाते हैं - **इतना ही नहीं, सागर के प्रसंग लाकर, सागर में विष का विशाल भण्डार मिलता है** (पृष्ठ १९४)– यह कहकर सागर में घटित

अनकथ्य कहानी को वेदना के स्वर में व्यक्त भी कर देता है, कवि का स्वच्छ हृदय जिसे वह आतंकवादी को खोल कर दिखाना चाहता है।

द्वितीय खण्ड में संगीत के प्रसंग में सागर का प्रसंग पुनः प्रतिबिम्बित दिखाई देता है। जहाँ सागर के प्रति राग और विराग दोनों मिलते हैं। आचार्यश्री कहते हैं कि जब सागर की ओर दृष्टि जाती है तो गुरु-गारव-सा कल्पकाल-सा काला लगता है, पर जब उसकी सामाजिक लहरों की ओर ध्यान जाता है तो उसके विषाक्त वातावरण से उसकी सीमा छोटी हो जाती है। वहाँ उन्हें सुख भी मिला, दु:ख भी मिला, हार भी मिली, जीत भी मिली, सम्मान भी हुआ, अपमान भी हुआ, लोभ भी था, क्षोभ भी था, सभा भी मिला, दगा भी मिला और इसीतरह मैं काफी समय तक यों ही भटकता रहा पर अब मन से यह वैषम्य मिट गया है (पृष्ठ १४६) सागर का यह दारुण प्रसग कवि को न जाने कब तक सालता रहेगा।

दर्शन और अध्यात्म

आगे लिखूँ, इसकेपूर्व में यह बात स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि प्रस्तुत महाकृति को दार्शनिक कहकर मैं उसे दर्शन की कठोर सीमा से नहीं बाँधना चाहता हूँ। मैं तो दर्शन को एक बहुत बडे घटाटोप में देखता हूँ, जिसमें जीवन के आदि से अत तक सारे तत्त्व समाहित हो जाते हैं। चाहे वह अध्यात्म हो या जीवन,कथा हो या परिदर्शन। कवि वस्तुत: सर्वत्र अपने जीवन-दर्पण को प्रस्तुत करता है और इसी प्रस्तुतीकरण में रस, अलकार, शैली, भाषा आदि का भी तदनुरूप, अपने स्वभावानुरूप प्रयोग करता है अपनी कृति में। इसीलिए मेरा प्रयत्न होगा कवि के भावों तक, उसके दर्शन की सीमा तक पहुँचने का।

दर्शन और अध्यात्म की मीमासा आचार्यश्री ने कुम्भ और अग्नि के सवाद में अवश्य की है और उन्होने अध्यात्म को श्रेष्ठतर सिद्ध किया है। उनकी दृष्टि में दर्शन का स्रोत शुष्क मस्तक है, पर अध्यात्म का झरना स्वस्तिक से अंकित हृदय से झरता है। दर्शन अध्यात्म के बिना चल सकता है पर अध्यात्म के बिना दर्शन पगु हो जाता है। अध्यात्म स्वाधीन नयन है पर दर्शन पराधीन उपनयन। दर्शन सत्य-असत्य के रूप में दोलित होता रहता है, पर अध्यात्म सदैव चिद्रूप रहता है। स्वस्थ ज्ञान ही वस्तुत अध्यात्म है, दर्शन संकल्प विकल्पों में डूबता-उतराता रहता है। दर्शन बहिर्मुखी प्रतिभा का पान करता है पर-अध्यात्म अन्तर्मुखी चिद्रूप निरजन का गान करता है। दर्शन का आयुध शब्द है - विचार है, पर अध्यात्म निरायुध होता है, सर्वथा स्तब्ध - निर्विचार। एक ज्ञान है - ज्ञेय भी,तो दूसरा ध्यान है - ध्येय भी। दर्शन बाह्यदृष्टा होता है तो अध्यात्म अन्तर में प्रवेश करता है और बाह्य जगत से उसका नाता टूट जाता है। (पृष्ठ २८७-२८९)

दर्शन और अध्यात्म का यह अन्तर निश्चित ही शत प्रतिशत सही है पर इस मीमांसा में दर्शन को आम शब्द और विचार तक सीमित रख दिया है। पर मैं इस सीमा को लांघ कर उसे असीमित करना चाहता हूं और उसे सिद्धान्त से जोड़कर अध्यात्म आदि सभी विधाओं को उसी में समाहित करना चाहता हूं।

मूक माटी के एक पक्ष में दर्शन भरा है तो दूसरा पक्ष अध्यात्म से सराबोर है। अत दर्शन और अध्यात्म परस्पर पूरक तत्त्व हैं। इसीलिए हमने 'मूक माटी' को दार्शनिक महाकाव्य माना है। आचार्यश्री ने कृति के आमुख रूप अपने "मानस तरग" में भी उपादान-निमित्त, ईश्वर-कर्तृत्व-ईश्वरता-परमात्मा-श्रमणभाव, साधना तत्त्व आदि पक्षो को ही उद्घाटित करना प्रस्तुत कृति की रचना का मुख्य उद्देश्य बताया है। (प्रस्तावना पृष्ठ २३-२४) माटी और कुंभकार का माध्यम तो यहाँ रहा ही है, पर सरिता माँ, ककर, चेतन, मछली, कूप, बाल्टी, प्रकृति, जल, कॉटा, फूल, पैर, लेखनी, समुद्र, सूर्य, राहु, इन्द्र, बबूल, सेठ, सेवक, मच्छर, मत्कुण, गज, महामत्स्य,आतकवादी आदि जैसे पात्रो ने भी कवि के दर्शन को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है और नया परिवेश दिया है।

प्रतीक प्रयोग योजना

काव्य मे सरसता और सार्वजनीनता लाने के लिए प्रतीको का प्रयोग किया जाता है। इसमे समान गुणधर्म वाली अनेक वस्तुओ के बोध के लिए एक वस्तु को प्रस्तुत किया जाता है। "अमूर्त" के मूर्त वर्णन मे भी इसका प्रयोग होता है। वह एक भावना प्रधान तत्त्व है। हर देश-देश, साहित्य और सस्कृति में विभिन्न प्रतीको का प्रयोग विविध भावो को अभिव्यञ्जित करने की दृष्टि से होता आ रहा है। स्वस्तिक और ओंकार शुभ और कल्याण के प्रतीक है। जिनका प्रयोग भारतीय सस्कृति के प्रारम्भिक काल मे भी मिलता है। ये प्रतीक सृष्टि के हर वर्ग से धर्म, वस्तु अथवा व्यक्ति के स्वभाव को स्पष्ट करने के लिए लिये गये है। छायावादी कवियो ने अधिकाश प्रतीक प्रकृति से ग्रहण किये है। उदाहरणत पुष्प सुख का और शूल दु ख का प्रतीक है तो तम निराशा और प्रकाश ज्ञान को स्पष्ट करते है। इसी तरह निर्झर, वीणा, किरण, इन्द्रधनुष, चा दनी, बादल आदि क्रमश आनन्द, हृदय, आशा, कामना, सुख, विषाद आदि के प्रतीक है।

"मूक माटी" एक प्रतीक काव्य है, जहाँ माटी के माध्यम से व्यक्ति की उपादान शक्ति को अभिव्यञ्जित किया गया है। माटी ही कुम्भकार आदि के सहयोग से मंगलकलश तक की सर्वोच्च अवस्था मे पहुँचती है। पूर्वोक्त सरिता, माँ, कक्कर आदि सभी पात्र किसी न किसी भाव के प्रतीक हैं। काव्य का प्रारम्भ हुआ है सरिता

माँ के प्रति माटी की अभ्यर्थना से। माँ का महत्त्व समूची स्त्री जाति का महत्त्व है, प्रकृति शिवत्व और सौन्दर्य का प्रतीक है, कूप और सागर ससार के प्रतीक है, चक्र जन्म-मरण को व्यक्त करते हैं, धर्म दशलक्षणमय है, अवा परीक्षा का प्रतीक है, कमल-पुष्प यह व्यंजित करता है कि जिसप्रकार वह कीचड से उत्पन्न होने पर भी जल के ऊपर रहता है, उसी प्रकार आदर्श जीवन सही है, जिसमे निःस्पृहता हो। स्वप्न की भी यहाँ अपने ढंग से व्याख्या हुई है। सूर्य-चन्द्र, ज्ञान और आशा के प्रतीक है, वृक्ष जीवन का प्रतीक है। वरुण, वायु और सूर्य को भी सम्मिलित रूप में मगलकलश में प्रस्थापित माना जाता है। आतकवाद जैसे तत्त्व उपसर्ग के प्रतीक है। इन सब प्रतीकों के माध्यम से 'मूक माटी' मे जीवन के समग्र स्वरूप को अभिव्यञ्जित किया गया है।

निष्कर्ष

इसप्रकार 'मूक माटी' महाकाव्य आधुनिक काव्याकाश मे एक ऐसा दैदीप्यमान नक्षत्र है, जो आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र मे एक नया मान और नया परिवेश लेकर प्रस्तुत हुआ है। वह हताशा, पराजय और कुण्ठा की बजाय एक सजग पुरुषार्थ को प्रतिबिम्बित करता है, आध्यात्मिक सृजनात्मकता की व्याख्या करता है, उपादान और निमित्त शक्तियो की दर्शन-दुरूहता को स्पष्ट करता है, आदर्शवादी समाज की सरचना की दृष्टि देता है, सदाचरण की प्रतिरक्षा करता है और देता है वह जीवन दृष्टि जो व्यक्ति या साधक को अपवर्ग की श्रेणी मे बैठा देता है। आधुनिकता की परम्परा से बिलकुल हटकर 'मूक माटी' महाकाव्य ने सामुदायिक चेतना की पृष्ठभूमि मे आत्मिक या आध्यात्मिक अभ्युत्थान को जिस रूप मे उन्मेषित किया है, वह दरअसल बेजोड है। इसलिए 'मूक माटी' नयी कविता का एक सशक्त हस्ताक्षर है।

****

तृतीय परिवर्त

कथ्य और तथ्य

"मूक माटी" का दर्शन सृजनशील दर्शन है। उसकी सृजनशीलता में उपादान और निमित्त कारण समन्वित रूप से उत्तरदायी हैं। यह उत्तरदायित्व चार भागों में विभाजित है। प्रथम भाग में मिट्टी का कुम्भकार से संसर्ग होता है। द्वितीय भाग में अहं का विसर्जन और समर्पण है। तृतीयभाग समर्पित के सामने आगत विविध परीक्षाओ से संबद्ध है तथा चतुर्थ भाग वर्गातीत अपवर्ग की प्राप्ति है। इस प्रकार समूचा महाकाव्य दर्शन से ओतप्रोत है। ये चारों भाग क्रमश चतुर्पुरुषार्थ तथा चतुराश्रम व्यवस्था के प्रतीक माने जा सकते हैं। कवि ने इनमें जीवन की अनेक परछाइयों को नजदीक से देखा है और उनकी बहुरंगी प्रतिकृतियो को अनुभूति की पाँखों में सजोया है। आइये, इन पाँखों की सुगन्धि का हम भी कुछ रसास्वादन कर लें।

१. संकर नहीं, वर्णलाभ

मूक माटी का कथ्य और तथ्य है ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में नकारना तथा निमित्त-नैमित्तिक व्यवस्था को पुरजोर समर्थन देना। इसका प्रारंभ होता है प्रस्तुत काव्य में "संकर नहीं, वर्णलाभ" नामक प्रथम खण्ड से, जिसमे कुम्भकार माटी की संकरित अवस्था को दूरकर, उसमें से कूडा-कंकर अलगकर उसके मौलिक मृदु रूप को पहुँचा देता है। कवि बिलकुल आश्वस्त है माटी की उपादान शक्ति पर, उसे सीमातीत शून्य में भानु की निद्रा टूटती हुई दिखाई दे रही है और लग रहा है कि माँ की मार्दव गोद में मधुरिम मुस्कान के साथ उषा की सिंदूरी धूल एक न एक दिन अपनी लालिमा बिखेरेगी। दूसरी ओर अधखुली कमलिनी डूबते चाँद की चाँदनी को नहीं देखना चाहती और उषा से स्वभावजन्य अपनी ईर्ष्या को धोकर एक नये उत्साह का वातावरण प्रस्तुत करने में सहयोग प्रदान करती है। (पृ २) जीवन की ये वे पांखें हैं जहाँ दूसरे की ईर्ष्या को झेलने की शक्ति सन्निहित होती है।

सामने जीवन की सरिता बह रही है, अपार सागर की ओर । उसके किनारे पड़ी माटी स्वय को तिरस्कृता-पतिता, संतप्ता मानती है और चिन्तित है इस लिए कि इस पतित पर्याय की इतिश्री कब होगी ? सन्तान अपनी माँ से ही तो अपनी व्यथा-कथा कह सकती है खुले हृदय से । इस कथन में माटी अपनी उपादान शक्ति पूरे साहस के साथ माँ सरिता के सामने खोल देती है और उससे पद, पथ तथा पाथेय मांगकर अपने उत्थान में सहयोग की अभ्यर्थना करती है । माँ की हृदयवती चेतना आत्मीयता के साथ सस्पर्शित होती है और पुलककर कह उठती है माटी से उस शाश्वत सत्य को, जिसमें भरी हुई रहती है उत्थान-पतन की अनगिनत सभावनायें, एक छोटे से बीज में भी, बशर्ते कि समयोचित खाद, हवा, जल उसे मिलता रहे । (पृष्ठ ७)

सरिता मा के सबोधन के माध्यम से कवि ने एक लम्बा उपदेश दिया है जो उनके लिए तो उबानेवाला हो सकता है, जो दर्शन से दूर हैं; पर उनके लिए तथ्य सगत लगता है जो जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धांत से परिचित है कि पदार्थ की सत्ता शाश्वत रहती है, वह कभी भी नष्ट नही होती । इस प्रसग में कवि ने आस्था किंवा श्रद्धा को धुरी पर रखा, जिसे हम सम्यग्दर्शन के साथ जोड सकते हैं । आस्था के लिए, यह आवश्यक है कि उसे सगति चाहिए । जैसी सगति होगी वैसी उसकी मति हो जायेगी । जलधारा धूल में मिलकर दलदल बन जाती है और नीम के पेड में जाने पर कडवी बन जाती है । विषधर के मुख में जाकर विष में परिणत हो जाती है और स्वाति नक्षत्र में सीप में जाकर मुक्तिका बन जाती है । आस्था वस्तुत शास्ता बना देती है । और फिर जो अपने को पतित मानता हो वह निश्चित ही सम्यक् पथ की ओर मुड रहा है । पर आस्था को आत्मसात करने के लिए उसे स्वय को साधना के साचे में ढालना होगा और यही साधना एक लम्बे परिश्रम के बाद फूल को जन्म देती है शिखर पर, जो मूल के बिन सभव नही ।

हां ! हां !!
यह बात सही है कि,
आस्था के बिना रास्ता नही
मूल के बिना चूल नहीं
परन्तु
मूल में कभी फूल खिले हैं ?
फलों का दल वह
दोलायित होता है
चूल पर ही आखिर !
हां ! हां !! ...... इसे

खेल नहीं समझना
यह सुदीर्घकालीन
परिश्रम का फल है बेटा ! (पृष्ठ १०-११)

साधना के प्रथम चरण में आस्था के स्थायी होने पर भी स्खलन की संभावना बनी रहती है । वर्षों का अभ्यास होने के बावजूद पहली रोटी प्राय कडी हो जाती है इसलिए सरिता आगाह करती है कि जीवन में कभी भी आयास से नहीं घबड़ाना चाहिए । प्रतिकूल परिस्थितियों में व्यक्ति गुमराह हो सकता है जहाँ मात्र गम-आह ही बच जाता है । यहाँ फुर्र, गुर्र जैसे शब्दों का सुन्दर प्रयोग हुआ है ।

यहाँ प्रयुक्त 'करडी' शब्द बुन्देलखण्डी 'करडी' शब्द का ही लिखित रूप है।

सरिता तट की माटी माँ सरिता से इस लम्बे उद्‌बोधन को पाकर अभिभूत होती है और समझ लेती है संघर्ष के उपहार को, जिसमे उपसहारत: हर्ष और लाभ ही भरा रहता है (पृष्ठ ७-१४)। मानवीयकरण की दिशा में पग बढाती हुई माटी की सुसुप्त चेतना जाग्रत हो उठती है और आत्मबोध की अनुभूति से चित्त भर उठता है यह कहने/समझने के लिए कि कर्मों का सश्लेषण और विश्लेषण आत्मा की ममता और समता की परिणति पर आधारित है । व्यक्ति की इतनी ही समझ तो उसके जीवन-परिवर्तन के लिए काफी है -

कर्मों का सश्लेषण होना,
आत्मा से फिर उनका
स्व-पर कारणवश
विश्लेषण होना,
ये दोनों कार्य
आत्मा की ही
ममता-समता-परिणति पर
आधारित हैं । (पृष्ठ १५-१६)

इसी समझ से माटी जैसी उपेक्षित वस्तु के जीवन में अभूतपूर्व परिवर्तन की गहरी सभावनायें आप्लावित रहती हैं । बस, उसमें समर्पण और अविचल चितवन चाहिए जिससे वह स्वय में परिवर्तित उन लहरों को देख सके, जो कुम्भकार की सेवा-शिल्पकला से प्रसूत हुई हैं । प्रभात यात्रा का सूत्रपात यही है जहा से जीवन का स्वर्णिम अध्याय शुरु होता है ।

कवि मात्र कवि ही नहीं है, वह स्वानुभूति में उतरा-पगा एक विशाल साधु सघ का महनीय आचार्य भी है, जिसने संसार के स्वरूप को भली-भांति

देखा-परखा है। उन्हें संतोष नहीं है श्रावकों, अनुयायियों की ज्ञान चेतना पर, और दुःख है उनकी सोची मति पर, जो आस्थाहीन होकर, समय के अभाव का बहाना कर स्वानुभूति की ओर पग नहीं बढ़ाना चाहते । साधु की वेदना का स्वर देखिये इन पंक्तियों में -

चेतन की इस
सृजनशीलता का
भान किसे है ?
चेतन की इस
द्रवण-शीलता का
ज्ञान किसे है ?
इसकी चर्चा भी
कौन करता है रुचि से ?
कौन सुनता है मति से ?
और
इसकी अर्चा के लिए
किसके पास समय है ?
आस्था से रीता जीवन
यह चार्मिक वतन है, माँ ! (पृष्ठ. १६)

यह दुःख और संताप उसी को हो सकता है, जो स्वयं तो सम्यक् पथ पर चल ही रहा है, यह चाहता भी है कि विमोही होकर दूसरे भी उस प्रकाश का लाभ उठा लें। यहा आचार्य ने अपने जीवन के एक सुन्दर सिद्धान्त को उद्घाटित किया है कि **प्रतिकार और अतिचार - ये दोनों तत्त्व आस्था की विराधना में कारण बनते है, इसलिए उनसे राग और द्वेष ही फलित होता है** । (पृष्ठ १२-१३) यही कारण है कि उनकी चर्या में ये दोनों तत्त्व कभी भी उतरे ही नहीं। उन्होंने अनुकूल वातावरण की प्रतीक्षा नही की, क्योंकि वे अपनी खुली किताब लेकर ही घूमते हैं और फिर जो भी इसप्रकार का घटता है, उसकी पृष्ठभूमि में राग-द्वेष भाव ही जमा रहता है। ऐसी घटनाओं से आचार्य का मन खिन्न अवश्य हो उठता है पर वह अभिशाप नहीं, वरदान बन कर आता है, इसीलिए कि वे स्वयं "यमी, दमी, हरदम उद्यमी हैं"। यही उनके जीवन का नवनीत है। इसी में हर्ष के उनके अविकल क्षण भरे रहते हैं।

कवि को माँ के प्रति अपार स्नेह और आदर है। काव्य का प्रारंभ और अन्त माँ से होता है। उस माँ से, जिसे हार्दिक प्रसन्नता तब होती है, जब उसका

बेद्या उसके आशय के भीतर तक पहुंच जाये।(पृष्ठ १६)। मां सत्संस्कारों से अपनी सन्तान की सुसुप्त शक्ति को जाग्रत करती है, उसकी अवनति के कारणों को दूर करती है और उन्नति में अनुग्रह करती है (पृष्ठ १४८)। लगता है, कवि को अपनी माँ से अथक् प्रेरणा मिली है अपने जीवन की निर्माण प्रक्रिया पर।

माटी की चेतना अब उपयोगमयी चेतना हो जाती है। उसकी रात रात नहीं रहती, प्रभात की सम्भावित किरणों में वह अपना नया प्रभात देखती है और पाती है उस लिखावट को, जिसमें लिखा है कि आज की रात अन्तिम रात है और आज का प्रभात आदिम-अभूतपूर्व प्रभात है, एक असीम विराटता लिये। यह कदाचित् उससमय का दृश्याकन है, जब आचार्य के जीवन में ऐसे सुखद प्रभात ने अगडाई ली थी, वैसे ही जैसे काली रात की पीठ पर लाल स्याही की रेखा खींच दी हो। उस प्रभात के आगमन से कवि को बेहद प्रसन्नता होती है जिसका वर्णन कवि ने भ्रातृत्व हृदय से उस कल्पना को लेकर किया है, जब भाई अपनी बहिन को साडी देकर विदा करता है। जीवन के वस्तुत ये दो पक्ष हैं - अन्धकार और प्रकाश अथवा रात और सूर्य, किंवा दु ख और सुख। उस विरोध में कोई राग-द्वेष नहीं, कोप नहीं, बल्कि वह आत्मिक खुशी है जो एक सन्त हृदय में होती है, आध्यात्मिक किरण के आने पर।

प्रभात कई देखे
किन्तु
आज जैसा प्रभात
विगत मे नहीं मिला
और
प्रभात आज का
काली रात्रि की पीठ पर
हलकी लाल स्याही से
कुछ लिखता-सा है, कि
यह अन्तिम रात है
और
यह सब आदिम प्रभात;
वह अन्तिम रात है
और
यह आदिम विराट।

और, हर्षातिरेक से
उपहार के रूप में,

कोमल कोंपलों की
हलकी आभा-घुली
हरिताभ की साड़ी
देता है रात को।
इसे पहनकर
जाती हुई वह
प्रभात को सम्मानित करती है
मन्द मुस्कान के साथ . !
भाई को बहन-सी (पृष्ठ.१८-१९)

यहाँ पर यह भी दृष्टव्य है कि कवि ने जीवन में नई चेतना के जागरण को रात्रि के गमन और प्रभात के आगमन के रूप में वर्णित किया है जो क्रमश कृष्ण और अरुण वर्ण को लिये हुए है। कलर थेरापी की दृष्टि से देखा जाये तो काला रग दुर्गन्ध और अपवित्र भावों का प्रतीक है और लाल वर्ण मानिसक दुर्बलता की समाप्ति का। एक कृष्ण लेश्या है तो दूसरी तेजोलेश्या। तेजोलेश्या से ही नवोदय का प्रारभ होता है, अप्रशस्त से प्रशस्त भावपथ की प्राप्ति का। लेश्या वस्तुत एक विधि है रसायन परिवर्तन की, जिस पर जे सी दुस्त वगैरह अनेक वैज्ञानिकों ने वैज्ञानिक प्रयोग किये, जो जैनदर्शन से पूर्णतः मेल खाते हैं।

माटी का भाव-परिवर्तित रूप देखकर माँ सरिता की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। उसने माटी के चरणो में अनगिनत पुष्पमालायें चढा दीं, फेन के बहाने दही भरे कलश मगलरूप मे रख दिये, उसका शरीर तृणबिन्दुओं के बहाने हर्ष-पुलकित हो गया, चारो ओर जोश, होश, तोष दिखने लगा ओर रोष, दोष का नाश होकर गुणो का कोष प्रगट होने लगा। माँ की प्रसन्नता का वर्णन कवि ने बडे ही कवित्व हृदय से किया है -

इधर सरिता में
लहरों का बहावा है,
चादी की आभा को
जीतती उपहास करती-सी
अनगिन फूलों की
अनगिन मालायें
तैरती-तैरती
तट तक . आ
समर्पित हो रही हैं

माटी के चरणों में
सरिता से प्रेषित के ।

यह भी एक दुर्लभ
दर्शनीय दृश्य है / कि
सरिता-तट में
फेन का बहाना है
दधि छलकता है
मंगलजनिका
हंसमुख कलशी
हाथ में लेकर
खड़े हैं
सरिता तट वह . (पृष्ठ १९-२०)

कवि बड़ा सवेदनशील है । उसे आभास हो जाता है उस स्पन्दन का, जो पथ पर पथिक के पैर रखने से ही हो गया । यह स्पन्दन एक सप्रेषण है जो अथ से इति तक हलचल मचा देता है बिजली के समान और सफलता-श्री खड़ी हो जाती है सादर उसके स्वागत में । उपयोग भरा संप्रेषण लक्ष्य की ओर अवश्य बढ़ता है पर शर्त यह है कि उस सप्रेष्य के प्रति अधिकार का भाव न आये । अन्यथा वह फलीभूत नही हो पाता । वस्तुत सप्रेषण एक विशिष्ट खाद है जिससे सहकार-सद्भाव रूपी पौधे पुष्ट होते हैं, जहाँ तत्त्वबोध से प्रकाश मिलता है । यह बात सही है कि प्राथमिक दशा में सप्रेषण भारवत् निस्सार-सा लगने लगता है पर बाद में ऐसी स्थिति नही रहती । कवि ने इस स्थिति की तुलना उस स्थिति से की है, जब नई निब प्रारभ में तो खुरदरी रहती है पर धीरे-धीरे घिसती जाती है और स्मूथ होकर जल में तैरती-सी चलने लगती है । सप्रेषण मे भी यही होता है (पृष्ठ २४)

माटी की थिरकन और पुलकन बढती जाती है । उसे अपनी उपादान शक्ति पर विश्वास तो है पर लक्ष्य की ओर बढने के लिए उसे एक सशक्त निमित्त भी चाहिए । हर भावी घटना का, कहते है, सकेत मिल जाता है । माटी के जीवन की इस मगल बेला में मगल घटना का सकेत था - छलाग मारते हुए विस्फारित नेत्रवान् मृग का पथ लाघकर सुदूर निकल जाना । माटी को याद आती है वह लोकोक्ति, जिसमें कहा गया है - **बाये हिरण दायें जाय - लंका जीत राम घर आय**/उसे पूरा भरोसा हो गया प्रशस्त पथ मिल जाने का । देखती है निष्पलक विभोर हो वह सामने घाटी में कि किसी परिचित-अपरिचित श्रमिक के चरण उसकी ओर बढ रहे हैं। पाया उसने एक दृढ सकल्पी कुशल शिल्पी जो अदम्य

भावों के साथ वहाँ जा पहुँचा। उसके प्रशस्त ललाट से उसकी चरित्र निष्ठा झलक रही थी। निर्दोष था उसका आचरण और व्यवसाय जहाँ न कर-चोरी का दोष और न अर्थ का व्यय/अपव्यय। वह तो युग-संस्कृति का निर्माता है। इसीलिए तो उसे कुम्भकार (कुम्हार) कहा जाता है। समझ लो उसके शब्दार्थ को कु का अर्थ होता है धरती और भ का अर्थ हुआ भाग्य। जो भाग्यविधाता है वही कुम्भकार कहलाता है उपचार से (पृष्ठ २७ - २८)

कुम्भकार जैसे कुशल शिल्पी से यह कैसे आशा की जा सकती है कि वह बिना मंगलोच्चारण किये अपने कार्य का प्रारंभ कर देगा। उसने पूरी श्रद्धा और आस्था के साथ ओंकार का उच्चारण किया, जिससे पंचपरमेष्ठियों को समवेत नमन हो जाता है और स्वयं के समर्पण में अहंकार का वमन हो जाता है। वह प्रारंभ कर देता है अपना कार्य पूरी कर्तव्य बुद्धि से। कवि ने इसे "मुड़न-जुड़न की क्रिया" कहा है, जो कार्य की निष्पत्ति तक बनी रहती है। (पृष्ठ २९)

कुम्भकार की कठोर कुदाली माटी के माथे पर लगना चालू हो जाती है। पर माटी की मृदुता जो उफ तक नहीं करती, सब कुछ सहन करती जाती है। वह जानती है उसके जीवन का निर्माण हो रहा है और इसलिए पहचानती है कुदाल की मार को, जिसमें अदया या निष्ठुरता नहीं, बल्कि दयाद्रता और घनिष्ठ मित्रता के भाव हैं। इसीलिए माटी प्रसन्न होकर उस कठोर मार को सह जाती है। इस ओर चुपचाप अपने आप को समर्पित कर देती है। अभी तक उन्मुक्त वातावरण में रहनेवाली माटी बोरो में बंधक बना ली जाती है। शिल्पी की संवेदनशीलता ने माटी के चेहरे पर उकरे हुए भाव आखिर पढ़ ही लिये और पूछ बैठा आखिर माटी से —"चारुशीले! तेरे सात्त्विक गालों पर ये घाव छेद से लग रहे हैं। तुम्हें इससे क्या-कैसा अनुभव हो रहा है?"

माटी प्रश्न की अपेक्षा नहीं कर रही थी। इसलिए सहसा उठे हुए प्रश्न को सुनकर वह अवाक् सी रह जाती है और एक लम्बी श्वास भरकर अपने अतीत जीवन को स्मरण करने लगती है। माटी की मनोदशा समझने के लिए शिल्पी को इतनी ही भावरेखा काफी थी। फिर भी उसकी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई। उसकी स्थिति का चित्रण करने के लिए कवि ने श्वास-विश्वास, संदेह-विदेह, अवधान-समाधान जैसे शब्दों का आश्रय लिया है। यहाँ उसने बड़ी सुन्दर कल्पना के साथ इस प्रश्न का उत्तर माटी के माध्यम से दिया है। उसकी कल्पना है। माटी का सम्बन्ध अमीरों के महलों से नहीं, बल्कि गरीबों की कुटिया से है, जिसमें वर्षा का जल टप-टप ऊपर से गिरता है और उसके नीचे धरती में छेद हो जाते हैं। यह टप-टप पानी मानों माटी का नीर-नीर आँखों से गिरता हुआ

अश्रु-प्रवाह है, जो गालों पर गिरकर उनमें छेद कर देता है। माटी की यह जीवन-कथा है जो उसकी करुण गाथा कहती चलती है और बोल उठती है उस दर्शन को कि जब व्यक्ति सघन पीड़ा में रहता है, तब अनिवार्यतः वह चिन्तन की ओर बढ़ता है और यही चिन्तन उस पीड़ा को समाप्त करने में सहायक बनता है। वस्तुत चिन्तन ऐसी प्रक्रिया है जिससे दुःखमुक्ति और सुखप्राप्ति फलित होती है। अति, इति और अथ के चिन्तन में घुटता दर्शन जब कवि को कठिन-सा लगता है तो वह "अर्थ यह हुआ कहकर" कहकर उसे कुछ सरल भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है -

अर्थ यह हुआ कि
पीड़ा की अति ही
पीड़ा की इति है
और
पीडा की इति ही
सुख का अथ है। (पृष्ठ ३३)

शिल्पी कुम्हार माटी से ही माटी की करुण दशा सुनकर भावोद्रेक हो उठता है, वह सवेदन और सप्रेषण से करुणाद्र हो जाता है और अभयदान देना चाहता है माटी को,पर उसके व्यवसाय और रोजी-रोटी के प्रश्न ने उसे तटस्थ-सा बना दिया और खडा हो गया स्तब्ध-सा कुछ सोचते-सोचते। उसकी चुप्पी खुलती है मुक्त गदहा को देखकर,इसलिए कि माटी बिना कुछ खर्च किये घर तक पहुँच सके। यहाँ कवि ने उस मानवीय कमजोरी की ओर सकेत किया है जो बिना पैसे के काम को निपटते देख सब कुछ छोडकर तदर्थ उठ खडा होता है।

माटी क्षमा और सहिष्णुता का प्रतीक है। दया और प्रेम का भण्डार है, तभी तो वह गधे की पीठ पर रखे जाने पर गधे (गदहा) की भारशीलता पर सोचने लगती है और खुरदरी बोरी की रगड से होनेवाले पीठ के घाव पर साधारणीकरण से ओतप्रोत हो जाती है। यही उसकी भावों की निकटता है कि वह गधे की पीठ पर हो रहे घाव को ऐसा मानने लगती है जैसे उसी की पीठ पर यह घाव हो रहा है भावों की इतनी निकटता हुए बिना प्रतीति हो भी नही पाती और इस प्रतीति के साधारणीकरण मे तन की दूरी कोई मायना नही रखती।

माटी ढोने के दौरान गधे की पीठ से पसीना आने लगता है। इस पर कवि की कल्पना देखिये कितनी सटीक और दार्शनिक है। गधे की पीठ के घाव के लिए मिट्टी मरहम का काम करती है, करुणाद्रता से भरपूर होकर वह घाव को पूरी अनुभूति के साथ भरने का प्रयास करती है, पर वह इस तथ्य को भुला नहीं

पाती कि गधे के इस भाव में वही निमित्त कारण है। इसीलिए तो पश्चात्ताप के आँसुओं को स्वेद-कणों के बहाने यह बाहर कर रही है।

रोती - बिलखती
दृग-बिन्दुओं के मिष
स्वेद-कणों के बहाने
बाहर आ
पूरी बोरी को
भिगोती-सी अनुकम्पा। (पृष्ठ ३६-३७)

कवि की यह स्पष्ट धारणा है कि दया का होना जीव-विज्ञान का सही परिचय है। दया और अहिंसा परस्पर पूरक भाव है। या यों कहिये कि दया से अहिंसा की पालना होती है। यहाँ कवि पुनः दार्शनिक होकर एक ज्वलन्त प्रश्न पर अपने विचार व्यक्त करता है। दर्शन के क्षेत्र में यह भी एक धारणा है कि किसी जीव पर दया करना बहिर्दृष्टि है, मोह-मूढता है। क्योंकि उससे स्व-परिचय नही पा पाता है और अध्यात्म से दूर हो जाता है। आचार्यश्री इस विचार को ऐकान्तिक धारणा मानते हैं और यह भी कहते है कि इससे अध्यात्म की विराधना होती है। अपनी बात को उन्होने यह कहकर स्पष्ट किया कि "पर" के प्रति दया करते समय व्यक्ति "स्व" की ओर चिन्तन करता है। चन्द्र-मण्डल को देखते समय नभमण्डल भी दिखाई देता है। गौण-मुख्यता अवश्य वहाँ बनी रहती है। अतः "पर" की दया करने से "स्व" की याद आ जाती है। दया का विलोम रूप "याद" भी यही भाव प्रस्तुत करता है। और फिर स्व की याद आध्यात्मिक स्रोत माना जाता है। इसलिए दया पाप का नहीं, पुण्य का कारण है, विराधना का नही, साधना का भाव है।

वासना का विकास मोह में होता है और दया का विकास मोक्ष में होता है। एक जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है तो दूसरा उसमें नयी चेतना के स्वर फूंक देता है यह आवश्यक नही कि दया पूरे रूप के साथ हो। अधूरी भी होती है तो वह आंशिक मोह का विनाश करने में सक्षम है; क्योंकि वासना का संबंध सीमित है, अचेतन तन से जुडा है; पर दया असीमित है, चेतन से केन्द्रित है, समता की सुरभि से सुगन्धित है। ऐसी स्थिति में दया - करुणा का संबंध वासना से कौन जोड सकता है ? यदि कोई जोड़ता है तो वह मदान्ध है, विषयों का दास है, इन्द्रियो का चाकर है। (पृष्ठ. ३८)

इसी प्रसंग में कवि जैनदर्शन के एक सूत्र को और उपस्थित कर देते हैं कि प्रत्येक पदार्थ अपने प्रति कारक और करण होता है तथा पर के प्रति उपकारक और उपकरण भी होता है। अतः गधा न अन्धा है, न मदान्ध है। वह तो भगवान से

यही प्रार्थना करता है कि उसका नाम सार्थक हो जावे । गधा=गद+हा=रोग को दूर करनेवाला । इसी भाव ने तो माटी के गाल भावहीन कर दिये और "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" की सूत्रोक्ति में सार्थकता ला दी । चेतन को वाहन बनाकर यात्रा करना अधूरी अनुकम्पा की दशा है, जो कवि के जीवन को रुचती नहीं है, फिर भी उसकी सार्थकता तो किसी सीमा तक बनी ही रहती है । (पृष्ठ ४१-४२), "पढमं णाणं तओ दया" की पृष्ठभूमि में पला यह दर्शन सही जैनदर्शन है, जिसे आचार्यश्री ने अपनी अनुभूति से स्पष्ट किया है ।

मिट्टी उपाश्रम केपरिसर में पहुँच जाती है । आचार्यश्री ने इस उपाश्रम की विशेषताओं की गणनाकर उस उपाश्रम की याद दिला दी है जो उनके ही नायकत्व में चलता-फिरता विद्यालय है । यह उपाश्रम परिश्रम का घर है, जहाँ कोई भी आलसी नहीं दिखाई देगा । वह एक ऐसी योगशाला है, जहाँ जोरदार आध्यात्मिक प्रयोग भी होता रहता है । उनकी योगशाला किसी के जीवन-निर्वाह का साधन नही मानी जानी चाहिए । वह तो वस्तुत एक निर्माण शाला है, जहाँ अधोमुखी जीवन उन्नत अवस्था की ओर बढ़ता है । बेसहारा सहारा पा जाता है । इतिहास सबधी भूले भी यहाँ बैठकर हल हो जाती हैं, सस्कारार्थी परामर्श पा जाते हैं । साहित्यकार और ऋषियों को भी यहाँ कुछ ऐसे जीवन-सूत्र मिल जाते है , जिससे उनके जीवन में नया प्रभात आ जाता है । (पृष्ठ ४२-४३)

परिसर का यह वर्णन कुछ अनावश्यक-सा लग रहा है पर यदि हम ध्यान से समझने का प्रयत्न करें तो काव्य में उसके समाहित करने का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। उपाश्रय के स्थान पर कवि ने उपाश्रम शब्द का प्रयोग श्रमण सस्कृति की पुरुषार्थवृत्ति को अर्थवत्ता देने के लिये किया है। उपाश्रय पराधीनता और अर्थहीनता तथा निष्क्रियता का द्योतक है, जबकि उपाश्रम स्वाधीनता सार्थकता और सक्रियता का प्रतीक है। अपने ही परिश्रम से व्यक्ति अपने जीवन का सचालन करता है और उसी में आनन्दित होता है।

उपाश्रम में माटी गदहे की पीठ से उतार दी जाती है और फिर शिल्पी कुम्भकार उसे स्वय छानने लगता है चलनी से और देखने लगता है दयार्द्रता से ककड़ों को, जिन्हें माटी से अलग कर दिया गया है । ये कंकर वस्तुत· मिट्टी में मिल गये थे, उनकी वर्णसंकरता को अलग किये बिना माटी की वह दशा नहीं आ सकती, जिससे कुम्भ का निर्माण होता है ।कंकर और मिट्टी में कोई समता-सदृशता नहीं है, वर्ण भले ही एक हो सकता है । पर समवर्ण के होने से ही सदृशता का आधार नहीं बनता । सदृशता तो वस्तुतः तदनुरूप अपने गुण-धर्म, रूप-स्वरूप को परिवर्तित करने में आती है ।अन्यथा वर्णसकर दोष बना ही रहेगा । कंकर कभी भी मिट्टी रूप में परिवर्तित नहीं होते, अत यहाँ वर्ण-संकर दोष है । पर क्षीर (दूध)

में नीर मिलाने पर नीर क्षीरमय हो जाता है। इसे वर्णलाभ कहा जाता है। यह तो वरदान है। पर क्षीर का फट जाना वर्णलाभ नहीं है वह तो एक अभिशाप है। गाय और आक का दूध सफेद होता है, पर उन्हें परस्पर मिलाने पर दूध फट जाता है। अतः यह वर्णसंकर है। (पृष्ठ ४४-५०)

समाज में कुछ ऐसे लोग होते हैं, वर्णसंकर दशा में होने पर भी उस अवस्था को स्वीकार नहीं करते और ककर के समान उल्टे प्रश्न करते हैं। शायद ऐसे ही लोगों को ध्यान में रखकर ककर को प्रतीक बनाकर कवि उनसे संवाद कर रहा है और कह रहा है कि माटी के साथ रहने पर भी ककर अपने गुण-धर्म को नहीं छोड़ता। माटी के समान उनमें नमी नहीं आती, जल-धारण करने की क्षमता भी नहीं हो पाती। समाज में ककर जैसे कतिपय तत्त्व रहते है, जिनसे हमें घृणा और द्वेष नहीं करना चाहिए।

वर्णसकरता का यह प्रसंग पाकर कवि माटी के माध्यम से एक लम्बी देशना दे बैठता है। वह कहता है ककर / संसारी से कि तुम्हें इस वर्णसंकरता को छोड़ना होगा। यह सभव है उसी तरह, जिस तरह से यदि छेद को बंद कर दिया जाये तो नाव अपार सागर को भी पार कर जाती है। जब कभी घबड़ाहट होती है, तो जल अथवा जल की गहराई से नही, बल्कि जल की तरल सत्ता के भाव से, जो हिमखण्ड के समान मात्र अवरोधक है, तरण और तारक को डुबोनेवाला है। देशना का यहीं अन्त नहीं होता। कवि दार्शनिक बनकर इसे और स्पष्ट करता है कि हिमखण्ड जल की एक वैभाविक परिणति है। जल बरसने पर खेती लहराने लगती है पर हिमपात होने पर वह चौपट हो जाती है। हिम भले ही बाहर से ठडा हो, पर भीतर उसमें उष्णता रहती है यही कारण है कि हिम की डल्ली खाने पर प्यास बुझती नहीं बल्कि बढ जाती है। यही विभाव का स्वभाव है।

इतना होने पर भी सागर की महासत्ता उसे डुबोती नही, क्योंकि वह मां है और मा कभी भी सन्तान के अत करने की बात सोच भी नहीं सकती। माँ के प्रति कवि की यह आदरांजलि है। इसीलिये कंकरों की अभ्यर्थना पर माटी कहती है - संयम की राह चलो। संयम के राही होकर ही हीरा बन सकते हो, तन मन को तप की आग में जला-जलाकर राख करना होगा, तभी तुम खरे उतर सकते हो। यहाँ हीरा और राख का विलोमात्मक रूप अच्छे ढंग से उपस्थित हुआ है।

संयम की राह चलो
राही बनना ही तो
हीरा बनना है
स्वयं राही शब्द ही

विलोम रूप से कह रहा है
रा--ही--ही--रा
राखु बने बिना
खरा दर्शन कहां
रा--ख--ख--रा---- (पृष्ठ. ५६-५७)

माटी को फुलाने के लिए कुम्भकार की प्रक्रिया प्रारभ होती है । कुम्भकार सर्वप्रथम बाल्टी उठाता है और उसे कुएं में डालता है । बाल्टी एक प्रतीक है आराधना का, और रस्सी के बीच गांठ आना प्रतीक है व्यवधान का, जिसे कुम्भक प्राणायाम के माध्यम से दूर किया जा सकता है । गांठ मिथ्यात्व का प्रतीक हो सकता है । इसलिए गांठ का खोलना सरल नहीं होता । गांठ खुलने पर ही तो निर्ग्रन्थ होता है व्यक्ति । यहा कवि पुन अनावश्यक प्रसग ला देता है । अगूठों से गांठ न खुलने पर उसे दतपक्ति खोलने का प्रयत्न करती है, वह भी जब निराश हो जाती है तो रसना की आद्रता से गांठ खोल दी जाती है । यहां भी गठीली , हठीली जैसे शब्दो को प्रायोग हठात्-सा लगता है । पर लय की दृष्टि से वह बेजोड़ है।

आचार्यश्री भला गाँठ की बात लाकर चुप कैसे बैठ सकते थे ? उन्होंने रसना के माध्यम से साधु के स्वरूप को प्रस्तुत किया है, कदाचित् स्वय को यह कहलाकर कि मेरे स्वामी सयमी हैं, अहिंसक है , क्योंकि निर्ग्रन्थ हैं । इस गांठ को खोले बिना अहिंसा की उपासना नही हो सकती । रस्सी की यह गाँठ यदि नही खुली तो गिरी में वह फसकर बाल्टी को कुए् में गिरा देगी, जहा चोट के कारण पानी में रहनेवाले जीवों का अकाल-मरण हो जायेगा । इसलिए सही आदमी वही है जो आ + दमी हो, संयमी हो । बिना अहिंसा और सयम के जीवन का कोई अर्थ नहीं है । सयम चलता रहे, यही उनकी वांछा है ।

निर्ग्रन्थ-दशा में ही
अहिंसा पलती है
पल-पल पनपती
-----बल पाती है ।
हम निर्ग्रन्थ-पन्थ के पथिक हैं
इसी पन्थ की हमारे यहां
चर्चा-अर्चा-प्रशसा
सदा चलती रहती है ।
यही जीवन इसी भाँति
आगे-आगे भी चलता रहे

बस !
और कोई चीज नहीं। (पृष्ठ, ६७-६८)

बाल्टी के बाद कवि ने प्रतीक के रूप में मछली को पकड़ा। बाल्टी अथाह ज्ञान-सागर (कूप) से कुछ ज्ञान-बिन्दु निकालने का साधन थी, पर यह मछली उस व्यक्ति का प्रतीक है जो मिथ्यादृष्टि से ग्रसित होकर कूपमण्डूक-सा बना हुआ है। शिल्पी की मात्र छाया उस मछली पर गिरती है और तुरन्त वह सोचने लगती है अपनी पतित दशा पर कि किस तरह वह इस विकृत दशा से बाहर जा सकती है "और सुनो" कहकर कवि ने अपनी कुछ और दार्शनिक पंक्तियाँ आगे बढ़ा दी, जिनमें मछली अपनी कूपमण्डूक दशा पर चिन्ता प्रगट करती है, पर उसकी चिन्ता को सुननेवाला उसे कोई दिखाई नहीं देता। बस, दृढ संकल्प ही उसके हाथ रह जाता है। वही उसकी आशा है, वही उसकी प्यास है, जहाँ से उसके नये जीवन की शुरुआत हो रही है -

सार-हीन विकल्पों से
जीने की आशा को
विष ही मिल जाता है
खाने के लिए
और
चिर-काल से सोती
कार्य करने की सार्थक क्षमता
धैर्य-धृति वह
खोलती है अपनी आँख
दृढ-संकल्प की गोद में ही !
बस
कृत-संकल्पिता हुई मछली
ऊपर भूपर आने को (पृष्ठ ६८)

कवि को एक क्षण ऐसा लगता है कि बाल्टी और मछली के प्रसंग कथा में अनावश्यक व्यवधान पैदा कर रहे हैं, इसलिए वह कह उठता है "अब ! प्रासंगिक कार्य आगे बढ़ता है"। पर ये प्रतीक अप्रासंगिक नहीं हैं। इन्हीं के माध्यम से तो वह संयम की शिक्षा व दृढसंकल्पिता को अभिव्यक्त करता है। यहां उसकी पैनी दृष्टि भी दिखाई देती है अभिव्यक्ति की, किस तरह मछलियाँ उतरती बाल्टी को आशाभरी दृष्टि से देखती हैं, और उसके आते ही प्राणरक्षण हेतु गहरे पानी में विलीन हो जाती हैं। कवि उनमें एक उसी मछली को खड़ा रखता

है जो दृढ़संकल्पित है उपर आने को, अपना उत्थान करने को। तभी तो वह बाल्टी में यह लिखा हुआ-सा पाती है - "धम्मो दया विसुद्धो' तथा 'धम्म सरणं गच्छामि" इतना ही नहीं, कवि यह भाव भी मछली के चित्त में उतार देता है कि यही बाल्टी एक शरण है, अन्यथा कौन जाने कब बड़ी मछली आकर अपने को निगल जावे। यह एक स्वाभाविक तथ्य है कि सहधर्मी और सजाति में ही बैरभाव होता है तभी तो एक श्वान दूसरे श्वान को देखकर गुर्राता है, एक सबल मछली दूसरी निर्बल मछली को निगल जाती है। पर उसे यह भी सच लगता है कि अन्तत अपनी ही जाति काम आती है। बाकी तो सब दार्शनिक जैसे दर्शक बने रहते हैं -

परन्तु
हमारे भक्षण से
अपनी ही जाति यदि
पुष्ट-संतुष्ट होती है
तो-----वह इष्ट है क्योंकि
अन्त समय में
अपनी ही जाति काम आती है
शेष सब दर्शक रहते हैं
दार्शनिक बनकर
और
विजाति का क्या विश्वास (पृष्ठ ७२)

कवि विजाति का प्रसग लाकर भ्रष्टाचार और अस्त्र-शस्त्रजन्य हिंसा की भी बात कर उठता है।आज का सारा माहौल "मुँह मे राम बगल में छुरी" वाला उसे दिखाई देता है और वह पाता है कि अस्त्रों-शस्त्रों पर भी "दया धर्म का मूल है" लिखा मिलता है, जहाँ कृपाण है,पर कृपा नही है। धर्म का झण्डा भी डण्डा बन जाता है और सुरीली बाँसुरी भी बाँस बनकर पीटने लग जाती है। तभी उसे कुछ सूक्तियाँ याद आ जाती हैं कि प्रत्येक व्यवधान का सावधान होकर सामना करना ही अंतिम अवधान को पाना है, गुणों के साथ दोषों का भी ध्यान रखना आवश्यक है, कांटों से द्वेष रखकर मकरन्द से वंचित रह जाना अज्ञता है और कांटों से बचकर सुरभि का पान करना विज्ञता की निशानी है जो विरलों में ही मिलती है (पृष्ठ ७४)। यह आचार्य श्री का दर्शन है, सिद्धान्त है, जिसका वे स्वयं पालन करते हैं।

मछली के माध्यम से कथा आगे बढ़ती है। बाल्टी के पानी में गिरते ही दृढ़ संकल्पित मछली उसमें शीघ्र प्रवेश कर जाती है "धम्मं सरणं गच्छामि"

कहकर और दूसरी मछलियां अनुमोदन करती है आश्वस्त होकर उसकी निष्ठा और धैर्य का। फूलों की माला से सत्कार करती हैं - जय-जयकार करती हैं, उसकी विजययात्रा का। कवि ने इस विजययात्रा के दृश्य का बड़ा सुन्दर मार्मिक वर्णन किया है यह कहकर–

'सत्कार किया जा रहा है
यहाँ मछली का
नारे लग रहे हैं
मोक्ष की यात्रा
सफल हो,
मोह की यात्रा
-----विफल हो,
धर्म की विजय हो,
कर्म का विलय हो,
जय हो, जय हो
जय-जय-जय हो (पृष्ठ ७६-७७)

नारे पूर्वक सत्कार का उत्तर मछली भी उसी रूप में देती है, जैसे आजकल के नेता सत्कार पाने के बाद अपनी कामना व्यक्त करते है। मछली अपनी कामना व्यक्त करती है कि उसके "काम +ना" रहे, समता उसका भोजन हो - मानव मन पर हिंसा का कोई प्रभाव न रहे और दया धर्म की प्रभावना बनी रहे। यहाँ भी शब्दों की काट-छाँट (कामना = काम +ना) में जबरदस्ती-सी लगती है और दया के साथ जिया का जोड भी ऐसा ही प्रतीत होता है।

पर दया और जिया का सम्बन्ध अध्यात्म के क्षेत्र में कितना मान्य है - यह पाठक जानता ही है। कवि उसी को यहाँ प्रस्थापित करना चाहता है।

बाल्टी कुए से बाहर आती है मछली के साथ और मछली को मिलता है खुला वातावरण तथा धूप का वन्दन, उस धूप का जो दिनकर की अगना बनकर उपाश्रम की सेवा कर रही हो। कवि के लिए इस उन्मुक्त वातावरण का काव्यात्मक वर्णन मछली की दृष्टि से आवश्यक भी था, अन्यथा मछली की स्थिति में उतनी भावोद्रेकता नही आ पाती। इस दृश्य के साथ एक और दृश्य का अकन किया है कवि ने। उपाश्रम के प्रांगण में एक बर्तन रखा है। जिसके मुख पर शुद्ध खादी का कपड़ा "जल छावन" के रूप में दुहरा लगा है। इधर कुम्भकार भी बाल्टी हाथ में लेकर जल छानने लगता है और सहसा देखता है कि बाल्टी में से उछलकर मछली माटी के पावन चरणों में गिर जाती है और फूट-फूटकर रोने लगती है। यहाँ

कवि मछली के अश्रुबिन्दुओं का संबंध क्षीरसागर की पावन बूंदें से करता है — यह सोचकर कि मछली की तन्मयता कितनी पावनता लिये हुए है।

अध्याय के अंत में कवि सत्युग और कलयुग की बात उठाकर उन दोनों की मनोभावना में अतर दिखाता है और माटी-मछली के संवाद के माध्यम से सल्लेखना के तथ्य को समझाता है। वह स्वय पूछ बैठता है इस युग से कि क्या इसमें मानवता का कोई अश नहीं है? क्या उसकी दानवता प्रकृति उभर आई है? आज "वसुधैव कुटुम्बकं" का भाव कहाँ दिखाई देता है? महाभारत काल में भले ही रहा हो पर आज तो वसु (धन) को ही धारण करने हेतु उसे ही कुटुम्ब मान लिया गया है। वही जीवन का मुकुट बन गया है। यही तो कलियुग है जहाँ खरा (सत्य) भी अखरा (असत्य)-सा लगता है। वह वस्तुतः काम (यम) समान है। जिसमें क्रूरता आपादमग्न रहती है, भ्रान्ति का अधकार छाया रहता है, व्यष्टिवाद के अतिरिक्त कुछ नही, सृष्टि हो भी तो वह चचला रहती है, और सारा जीवन मृतक-सा लगता है, जहाँ कान्ति शून्य हो जाती है। दूसरी ओर सत्युग इससे बिलकुल विपरीत रहता है। वहां बुरा भी बूरा जैसा अच्छा लगता है। हृदय दयाद्र रहता है कलिका लता के समान और आखों में शान्ति का मानस लहराता रहता है। यहाँ दृष्टि समष्टि की ओर रहती है, और सृष्टि स्थिर रहती है, सारा जीवन अमृत-सा लगता है, शिवमय कल्याणकारी रहता है।

कलियुग और सत्युग का यह अन्तर तो है ही, पर वस्तुत यह अतर हमारी दृष्टि का भी है, जो हमारे अन्तर में घटता है वही बाहर दिखाई देता है। सत् की खोज में लगी दृष्टि सत् ही दिखाई देगी और सत् को असत् माननेवाली दृष्टि में सत् कहा दिखाई देगा। बस यही कलियुग है, जो हमारी आभ्यन्तरिक दृष्टि से उद्भूत होता है -

सत्युग हो या कलियुग
बाहरी नहीं
भीतरी घटना है वह
सत् की खोज में लगी दृष्टि ही
सत्युग है बेटा
और
असत् विषयों में डूबी
आ-पाद-कण्ठ
सत् को असत् माननेवाली दृष्टि
स्वयं कलियुग है, बेटा (पृष्ठ ८३)

दृष्टि आने के बाद सृष्टि प्रारंभ हो जाती है, उलझाव दूर होकर सुलझाव आ जाता है। मछली को सत्दृष्टि मिल जाने पर अब उसे न जलतत्व की जरूरत रही और न बल तत्व की। वह तो शाश्वत सत् से जोड़ने का उपक्रम कर चुकी है और अपने जीवन को बेजोड़ बनाने की राह पर चल चुकी है, उसे अब जल में भी वह शीतलता नहीं दिखाई देती, जो शीतलता माटी के चरणों में उपलब्ध हुई है। वह हो भी क्यों नहीं, क्योंकि माटी स्वयं शीत-लता और शिवायनी है। उसी की गोद में बोध (ज्ञान) मिलता है और आत्मशोध का मार्ग निकलता है। उसके पुनीत चरणों में रहकर मछली को व्याधि का भय नहीं, भय है आधि से और आधि का भी उतना भय नहीं जितना उपाधि का। व्याधि, आधि और उपाधि ये बाधक तत्व हैं सन्मार्ग को पाने में, समाधि की प्राप्ति में। इसलिए मछली को अब मात्र उपधि अर्थात् उपकरण चाहिए, उपकारक चाहिए जो उसे सन्मार्ग दिखा सके, जीवन में आये परिवर्तन को स्थिर रख सके।

दृष्टि मिलने के बाद यदि दर्शक मरणोन्मुख होता है तो जैनधर्म के अनुसार उसे वीतरागी बनकर सल्लेखना ग्रहण कर लेना चाहिए। आजकल सल्लेखना के बारे में एक गलतफहमी हो गई है। कतिपय विद्वानों के मन में भी गहरा अध्ययन न होने के कारण भ्रान्ति हो गई है कि सल्लेखना तो आत्महत्या है। जबकि बात ऐसी नहीं है,आत्महत्या अतृप्ति और वासना जन्य परिणाम है,जबकि सल्लेखना रागमुक्त होकर परोपजीवी काया को छोडने का दृढ सकल्प है। आचार्यश्री ने इसी दर्शन को निम्न शब्दों में अभिव्यक्त किया है -

सल्लेखना यानी
काय और कषाय को
कृश करना होता है, बेटा !
काया को कृश करने से
कषाय का दम घुटता है
------- घुटना ही चाहिए।
और,
काया को मिटाना नहीं,
मिटती काया में
मिलती - माया में
म्लान-मुखी और मुदित-मुखी
नहीं होना ही
सही सल्लेखना है, अन्यथा
आतम का धन लुटता है, बेटा ! (पृष्ठ ८७)

माटी मां की ममता इतनी ही नही कि मछली को उसने सद्‌बोध दिया है। वह भविष्य में उसे यह आगाह करना भी नही भूलती है कि उसे आगे विषयों की कराल लहरों में नही फँसना है। उसे यह भी ध्यान है कि यदि मछली को जल से बाहर अधिक समय रखा गया तो उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। अतः शीघ्र ही शिल्पी कुम्हार को यह आदेश देती है कि इस भव्यात्मा को तुरत ही कुएँ में छोड दो। कुम्हार जल छानने के बाद विलछावनी को मछली के साथ कुएं में छोड़ देता है सुरक्षित, और मछलियाँ तथा अन्य जीव अपने साथी को पाकर प्रसन्न होते है। वही से एक ध्वनि गूँजती है **"दयाविसुद्धो धम्मो"**। यही ध्वनि प्रतिध्वनि बनकर उपाश्रम तक पहुँच जाती है।

महाकाव्य के प्रथम अध्याय का यहाँ अन्त हो जाता है **"संकर नहीं', वर्ण लाभ"** के रूप में, जहाँ मछली को बोध मिला है, दर्शन मिला है और मिली है एक नई दृष्टि-सृष्टि। यही उसका लाभ है, यही उसका भला है। इस लाभ को हम सम्यग्दर्शन के रूप में स्वीकार कर सकते है। मोक्ष की प्रथम सीढी के रूप में जैनधर्म और दर्शन का यह अमिट तत्त्व है जीवन को साकार करने का, जिसके पाने पर जीवन सात्त्विक हो जाता है, पारमार्थिकता आ जाती है और मगलयात्रा का श्रीगणेश होता है।

२. शब्द सो बोध नहीं, बोध सो शोध नहीं

प्रथमखण्ड में मूकमाटी के सृजनशील जीवन का प्रारंभ होता है और द्वितीयखण्ड में शब्द-बोध (ज्ञान) के माध्यम से वह आत्मशोध की ओर आगे बढती है। शिल्पी कुम्भकार मिट्टी में मात्रानुकूल छना जल मिलाता है और उसमें नये प्राण का संचार करता है। पानी के मेल से माटी फूलने लगती है और वहनशील पानी को भी नया प्राण और नया ज्ञान मिल जाता है। चेतन में नया परिवर्तन प्रारंभ होता है। यहाँ से वह जुट जाता है शब्द के सही बोध को पाने में और बोध के रास्ते से अनुभूति तक पहुँचने में।

कथा यहाँ से आगे बढती है। श्रमिक शिल्पी कुम्हार गरीब है, उसके पास एक पतली-सी सूती चादर है जो प्रचण्ड शीतकालीन हवावाली रात को बिताने के लिए नितान्त अपर्याप्त है। कवि इस शिशिरकाल की रात का काव्यात्मक ढग से वर्णन करता है। कहता है कि इसमें हिमपात हो रहा है, कोमल लतिकायें भी शिशिर-छुवन से पीली-सी पड रही है, शरीर कम्पित हो रहे है, दाँत कँप रहे हैं, किसी तरह सुबह होती है, सूर्य की किरणें डरती-सी बिखरने लगी है, भ्रमरगण गुनगुनाने लगते है। इसके बावजूद शिल्पी निर्विकार हो अपनी रात किसी तरह बिता लेता है। माटी से यह देखा नहीं जाता। वह यद्यपि जानती है

कि काया जड़ की छाया-माया है, फिर भी स्नेहवश शिल्पी से कम से कम एक कम्बल ओढ़ने के लिए कहती है। शिल्पी विनम्र उत्तर देता है दर्शन भरा। वह कहता है - कम बलवाले ही कम्बल वाले होते हैं, काम के दास होते हैं; पर जिनको स्वयं का बल होता है, आत्मबल होता है, वे सस्ती-सी सूती चादर में ही अपनी ठंड गुजार लेते हैं। गरम चर्म वाले शीत से भयभीत होते हैं क्योंकि उनकी प्रकृति शीत से विपरीत होती है। मेरी प्रकृति शीत के अनुकूल है, इसलिए प्रकृति-साम्य होने के कारण कोई बाधा नहीं होती।

पुरुष का प्रकृति में रमना ही मोक्ष का मार्ग माना है और उससे दूर रहना विकृति को आमंत्रण देना है, मन का गुलाम होना काय-रता तामसभरी कामवृत्ति है और वही भीतरी कायरता है। इसलिए काम और काय-रता से दूर होकर मनोयोग पूर्वक अकाय में लीन हो जाना ही हितकर है। यही सन्तवाणी है, जिसका मैंने अनुकरण किया है -

कम बल वाले ही
कम्बल वाले होते हैं
और
काम के दास होते हैं
और हमबल वाले हैं
राम के दास होते हैं ।। (पृष्ठ ९२)

सूत्र मिला है हमें कि
केवल वह बाहरी
उद्यम-हीनता नहीं
वरन,
मन के गुलाम मानव की
जो कामवृत्ति है
तामसता काय-रता है
वही सही मायने में
भीतरी कायरता है ।। (पृष्ठ ९४)

एक क्षुल्लक व्रती इतनी निष्ठुर शीतकालीन रात को किस आधार पर निर्विकार हो बिता लेता है, इसका सूत्र आचार्य ने बहुत सुन्दर ढंग से कम +बल (कम्बल), काय +रता (कायरता) जैसे शब्दों के माध्यम से दिया है। शब्दचित्र

की दृष्टि से कम्बल-सम्बल, झील-झीला मीत-लीला, काय-रता कायरता, कम्पन अनुकम्पा, मात करता मात, हनी अति-गुण-हनी, शनि की खनी-सी शब्द उदाहरणीय हैं। यहाँ कायाली, हनी, खनी आदि कुछ शब्द अटपटे से लगते है, जैसे अनुप्रास की दृष्टि से जबरदस्ती गढ़ दिये गये हों, परन्तु शब्दों का यह गढ़ाव संगीतात्मकता की दृष्टि से मनोहारी लगता है।

पानी के मिश्रण से माटी में चिकनापन आने लगता है, उसका ढ़ैविल भावरूप रूखापन दूर होने लगता है। वह शिल्पी की राह देखती पड़ी रहती है। इस बीच कवि को कही किनारे पडा एक टूटा काटा दिखाई पड जाता है, जिसका शिर कुदाल के मार से फट गया है, टाग टूट गई है, कटि क्षत-विक्षत हो गई है, आँख फूट गयी है, मरणासन्न है, मात्र मनोबल ही उसे जीवित बचाये हुए है। मन की प्रकृति बदला लेने की होती है, मन की छांव में ही मान पनपता है, मान वाला मन कभी नमता-झुकता नहीं है। जब तक व्यक्ति का मन खत्म न हो तब तक वह मन श्रमण को नमन नही करता ,मन भी नमन न करे-यही कहता रहता है।

माटी काँटे के मन को परख लेती है। वह उसके मन से बदले के भाव को निकालना चाहती है। इसलिये कहती है - बदले का भाव दल-दल जैसा है जिसमें बडे-बडे बलशाली गजदल भी फँस जाते हैं, वह एक अग्नि है, जिसमें तन तो जलता ही है, मन भी भव-भव तक जलता रहता है, वह एक राहु है जो विकराल जाल में कवल बन चेतन रूप भानु को भी ग्रस लेता है।इतिहास इसका साक्षी है। दशानन ने बाली से बदला लिया पर वह तन-मन और यश से पतित हुआ और "त्राहि - त्राहि" कहकर राक्षस की ध्वनि में रो पडा। कवि की कल्पना है कि उसका इसीलिये नाम पडा "रावण" (पृष्ठ ९८)।

कवि को लगा कि यह एक लम्बा उपदेश हो गया है इसलिए उसने उपदेश का क्षेत्र बदल दिया और ला दिया एक गुलाब के पौधे को जो कहता है कि लोग उसे शूल कहते हैं पर यह उनकी भूल है। कभी-कभी शूल भी फूल से भी अधिक कोमल होते है और फूल भी शूल से भी अधिक कठोर होते है। पुष्पावली मृदु-मांसल गालों से हमें छू लेती है और उसकी मृदुता खिल उठती है। फूल हमारे शिर पर शूल होकर बैठा है फिर भी कोई उसे शूल क्यो नही कहता? कवि का काव्यात्मक स्वर और आगे बढ़ता है। पौधा कहता है, ललित लतायें खुलकर हमारा आलिगन करती हैं, हमारे नोकदार मुख पर राग-पराग डालती है, सुरभि बिखेरती है, विस्मित लोचन वाली सस्मित अधरों से मादकता सरकाती है। फिर भी वे हमें वैरागी नही बना पाती। इसके बावजूद, आश्चर्य है हमें शूल। कहा जाता है सच तो यह है कि सुन्दर चमड़ीवाले बाहर से भले ही अच्छे लगें, पर प्राय- अदर से काले होते हैं -

प्रायः यही देखा गया है
कि
ललाम चामवाले
वाम-चाल वाले होते हैं
बाहर से कुछ
विमल-कोमल रोम वाले होते हैं
और
भीतर से कुछ
समल कठोर कोम वाले होते हैं।(पृ १०१)

शूल से कवि को लगता है अधिक प्रेम है। इतने वर्णन से ही उसे सतोष नहीं हुआ तो उसने एक प्रसिद्ध आख्यान का सहारा लिया और शूल की प्रशसा कर डाली।

यह लोकाख्यान है कि कामदेव का आयुध फूल होता है, जो अपने राग-पराग के बल पर दूसरों का दम ले लेता है, और उनमें ससार भ्रमण का मद भर देता है तथा महादेव का आयुध शूल है, जो त्याग का प्रतीक है, भवपातक है, दूसरों में दम लानेवाला है और उन्हें निर्मद कर देता है। जानते हैं दम-इन्द्रिय सयम सुख का स्रोत है और मद दुखदायी है। फिर भी विडंबना यह है कि लोग फूलों की तो प्रशसा करते हैं पर शूलो को हिंसक मान कर सत्य पर तीखा आघात करते हैं। कवि कहता है कि आघात या आक्रमण बुरा नही है। वह आक्रमण यदि मोह ग्रस्त है तो व्यक्ति की विनाश-लीला एक आवश्यक तथ्य है पर यदि वह मोह पर आक्रमण कर अभि-निष्क्रमण कर लेता है तो दिगम्बर बनकर निज तत्त्व में मग्न हो जाता है और सुख-शान्ति में प्रवेश कर जाता है। पाश्चात्य संस्कृति आक्रमणशीला सस्कृति है और भारतीय सस्कृति अभिनिष्क्रमणशीला संस्कृति है।पाश्चात्य और भारतीय सस्कृति का यह सुन्दर विश्लेशण है।(पृ १०१-१०३)

लोग शूलों की पूजा करते हैं और फूल मात्र चर्चा का विषय बना रहता है। फूल परमेश्वर के चरणों मे समर्पित अवश्य होता है, पर परमेश्वर शूलधारी होकर भी उसे छूते नहीं हैं। कवि की कल्पना है कि चूकि भगवान ने काम को भस्म कर दिया है, फूल शरणहीन होकर उनके चरणों में शरण की आशा से पडा रहता है। इतना ही नहीं,भगवान के पावन-चरणों का सपर्क पाकर फूल ही विलोम रूप में शूल बन जाता है। शूल का अर्थ है काँटा और काँटा ही हमें समय की सूचना देता है। काँटा एक दण्ड का भी रूप है और दण्ड व्यवस्था से राजसत्ता बनी रहती है अन्यथा पता नहीं उस राजसता में उद्दण्डता कब आ जाये। इसलिए कवि चाहता है कि काँटे

के विषय में बनी लोक-धारणा समाप्त होनी चाहिये।वह सुख-हारक नहीं, सुखदायक है। अत: कुदाल से जो क्षत-विक्षत हो गया है।उससे इस कराल भूल की क्षमा-याचना शिल्पी को अवश्य करना चाहिए। (पृष्ठ १०३- १०५)

यहाँ कवि कदाचित् यह कहना चाहता है कि दिगम्बर वेष काँटों का ताज है पर वह दुखदायी नहीं है। वह शूल है पर वह शूल नहीं जिसे साधारणत: लोग कष्टकारी मानते हैं। वह तो वह शूल है जिसमें से विरागता झरती है, ससार चक्र का अवबोध होता है, इन्द्रिय सयम का पुष्प खिलता है और "स्व" की पहिचान का रास्ता प्रशस्त हो जाता है।

माटी काँटे से उत्तर रूप में कहती है शिल्पी की चारित्रिक प्रशसा में दो शब्द कि शिल्पी कुम्हार क्षमा का सागर है, सात्त्विक व्रती है। इसी बीच कुम्हार स्वय तदर्थ क्षमा-याचना करता है और काँटे की सनातन चेतना उससे प्रभावित होती है। प्रतिशोध का भाव उसके मन से तिरोहित हो जाता है, बोध भाव का आगमन होता है तथा अनुभूति के माध्यम से शोध भाव प्रगट हो जाता है। आचार्यश्री शोध-बोध को स्पष्ट करते हुए अपने विचार व्यक्त करते हैं कि **बोध जब परिपक्व अवस्था में आ जाता है, तब वह शोध कहलाता है। बोध शोध का प्राथमिक स्तर है जहाँ आकुलता रहती है, शोध के आते ही आकुलता निराकुलता में बदल जाती है और अध्यात्म का सरस फल फलित हो जाता है।**

निर्विकारी शिल्पी के उत्तर से काँटे का मन बिल्कुल बदल जाता है। वह पश्चात्ताप से दग्ध होने लगता है, इसलिए भूल की क्षमायाचना के साथ वह यह भी शिल्पी से निवेदन करता है कि उसे ऐसा मंत्र वह दे दे, जिससे उसके जीवन में प्रशमता आ जाये। शिल्पी के माध्यम से कवि कहता है कि न कोई मन्त्र अच्छा होता है और न कोई बुरा, अच्छे-बुरे की परिभाषा तो अपने मन से जुडी होती है। मन की स्थिरता ही महामन्त्र है और मन की अस्थिरता स्वच्छन्द पापतन्त्र है। मन की अस्थिरता का कारण है मोह। उसी के कारण व्यक्ति पर-पदार्थ से प्रभावित होता है और उसके विपरीत स्व का भाव होने से मोक्षधाम मिल जाता है। इन दार्शनिक पंक्तियों को देखिए -

अपने को छोडकर
पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही
मोह का परिणाम है
और
सब को छोडकर

अपने आप में भावित होना ही
मोक्ष का धाम है। (पृष्ठ १०९-११०)

ये दार्शनिक पंक्तियाँ हैं, जिनमें साहित्य की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना जैसी वृत्तियाँ ध्वनित होती हैं। यहाँ कवि प्रथमतः साहित्य की परिभाषा को हित और सुख से जोड़ता है और फिर उसे जीवन सृष्टा मानता है, यदि वे तत्त्व साहित्य में नहीं है तो उसे सार शून्य शब्दों का झुण्ड ही माना जाना चाहिए-

हित से जो युक्त-समन्वित होता है
वह सहित माना है
और
सहित का भाव ही
साहित्य वाला है
अर्थ यह हुआ कि
जिसके अवलोकन से
सुख का समुद्भव-सम्पादन हो
सही साहित्य वही है
अन्यथा,
सुरभि से विरहित पुष्पसम
सुख का साहित्य है वह
सार-शून्य शब्द-झुण्ड!! (पृष्ठ १११)

साहित्य की इसी परिभाषा से जुड़ा साहित्य जीवन्त साहित्य माना जाता है। आचार्य श्री का विश्वास है कि ऐसे साहित्य की अनुभूति लेखक और प्रवचनकार की अपेक्षा श्रद्धा सम्पन्न श्रोता को अधिक होती है क्योंकि लेखक और प्रवचनकार तो विषय विश्लेषण के समय अतीत में चले जाते हैं, जबकि श्रोता क्षीर-नीर विवेक शील होने से उसके यथार्थ तत्त्व को आत्मसात् कर लेता है।

साहित्य का यह प्रसग यहाँ अनावश्यक-सा लगता है। कांटे के मन की व्याख्या ने भी समय काफी खींच लिया। पर विचाराभिव्यक्ति की दृष्टि से यह उपयोगी भी लगता है।

इधर शिल्पी माटी को पैरों से रौंदकर उसे घड़े लायक तैयार करता है पर उसे माटी को पैरों से रौंदने में मानसिक परेशानी हो रही है। इसलिए वह चाहता है कि पदाभिलाषी बनकर वह कभी दूसरे पर उत्पात न करे, पद-पात न करे। हाथ भले ही कभी कायर बन जायें पर पैर तो परिश्रम में धनी होते हैं, इसीलिए पावन

होते हैं। पर माँ माटी के माथे पर उनका पद-निक्षेप प्रसव की बरसात-सा है अथवा, प्रेम-वत्सल शैल पर अदया का प्रपात-सा है। (पृष्ठ ११३-११५) यहाँ शायद अत में कुछ शब्द छूट गये हैं। वहां पूरकरूप में "इस क्षण को" शब्द लगाया जा सकता है।

माटी को आगे की कथा अज्ञात है इसलिए वह मौन पड़ी रहती है। शिल्पी भी संकोच और ग्लानि से मौन रह जाता है माटी को प्रणाम करामन के सकेत पाये बिना मुख भी कुछ कह नहीं पाता। रसना अवश्य कुछ कह उठती है कि जीभ पर लगाम रखने वाला सुखमय जीवन बिताता है, रसना सयम और वचनसयम स्व-पर के दु:खों का हरण करने वाला होता है। प्रसगतः यहां माटी के कुचलने का अनुमोदन नहीं किया जा सकता। दूसरे को कुचलने का कार्य तो घृणित कार्य ही है अत उसकी निन्दा ही होगी। नासिका और आँखे भी चुप हैं सकोच में। माँ माटी और शिल्पी के बीच खड़ा मौन धीरे-धीरे मोम-सा पिघलता है और शिल्पी कह उठता है - माँ माटी! तेरी आस्था भी अस्थिर-सी लग रही है। सरिता की सागर की ओर सरकन ही उसकी समिति और आस्था है। आस्था के बिना चरण-आचरण में कोई आनन्द नहीं आता। आस्थावाली सक्रियता ही निष्ठा मानी जाती है। यही प्रतिष्ठा धीरे-धीरे पराकाष्ठा की ओर बढ जाने पर सस्था बन जाती है। वही आस्था, निष्ठा व प्रतिष्ठा के क्रमो में घूमती हुई सच्चिदानन्द सस्था को प्राप्त कर लेती है जो अव्ययी और अविनाशी है -

आस्था के बिना आचरण मे
आनन्द आता नहीं, आ सकता नहीं।
आस्थावाली सक्रियता ही
निष्ठा कहलाती है ------

वही निष्ठा की फलवती प्रतिष्ठा
प्राणप्रतिष्ठा कहलाती है -------

स्थिर हो जाती है जहा
वही तो समीचीना संस्था कहलाती है।
यू क्रम-क्रम से

"क्रम" बढाती हुई
सही आस्था ही वह
निष्ठा-प्रतिष्ठाओं में से होती हुई
सच्चिदानद संस्थाओं की

> सदा-सदा के लिए
> क्रय-विक्रय से मुक्त
> अव्यय अवस्था पाती है, माँ ! (पृष्ठ १२०-१२१)

यहाँ आचार्यश्री ने आस्था से संस्था तक के जो क्रमबिन्दु प्रस्थापित किये है, वे दर्शन और धर्म के लिए ही नही, जीवन और व्यवहार के क्षेत्र में भी अत्यन्त कार्यकारी हैं। आस्था किंवा दर्शन निष्ठा और प्रतिष्ठा में घुगने पर ही सस्था किंवा सम्यग्दर्शन बनता है और सम्यग्दर्शन आगे साधक को मोक्ष-प्रासाद पर चढने के लिए सीढ़ी का काम करता है। इसी प्रसग में संस्था की यथार्थवत्ता की ओर भी उन्होंने सकेत किया है। सस्था वह नही है, जो आज बनती है और कल बिखर जाती है। सस्था तो वह है जो सुव्यवस्थित और सुस्थिर है। नवोदित संस्थाओं के स्थैर्य के प्रश्न पर कवि ने अपने ये विचार रखे है।

माँ माटी का मौन भग होता है और कहती है वह शिल्पी से कि मैं तो पाप से मौन हूँ पर तू आस्था से मौन है। आस्था का दर्शन आस्था से ही सभव है, आँखों और आशाओं के क्रमार्पण से नहीं। नींव की सृष्टि आस्था की धर्म-दृष्टि में ही उतरकर आ सकती है (पृष्ठ १२१)। इधर शिल्पी ने भी अपना दर्शन चेतन से स्पष्ट किया – तन, मन और वचन को हम वस्तुतः अपनी मूढ़तावश गले लगाये हुए हैं। वे व्यक्ति के साथ रहकर भी साथ नहीं देते, धोखा दे देते हैं। इसी सदर्भ में चेतन ने शिल्पी को बताया कि चेतन का ध्यान करनेवाले साधक तन की ओर ध्यान नहीं देते। वे तो महाराज बनकर वन में ही अपनी धर्म-ध्वजा का रक्षण करते हुए मरण प्राप्त करते है। (पृष्ठ १२३)। प्रकृति ने धोखा के अतिरिक्त व्यक्ति को अभी तक दिया ही क्या है ?

इसके बाद दार्शनिक कवि ने एक लम्बा उबानेवाला पर सार्थक दर्शन प्रस्तुत किया। प्रकृति आलोचना सुनकर आग-बबूला हो जाती है और कहती है - पाप-पुज प्रकृति नहीं, पुरुष है। प्रकृति अपने में लीन रहती है पर पुरुष पर में आसक्त रहता है। उसे पर की परख होनी चाहिए। पुण्य-पाप की परख करने के बाद ही निर्णीत तथ्य को अपनाना चाहिए। दोष को मूल में रखकर पदार्थों को ज्ञान से पकड़ लेना पीड़ा का आवाहन है और ज्ञान में पदार्थों का झलक जाना परमार्थ है, स्वाधीनता है।

शिल्पी का चेतन इस दर्शन को सुनकर सचेत-सा हो उठा और सोचने लगा–पुरुष का शासन, प्रकृति पर नहीं, चेतन पर होना चाहिए। चेतन का शासन करण (इन्द्रिय) पर नही, अन्त करण पर होना चाहिए और करण का परपदार्थों में नहीं, तन पर नियत्रण होना चाहिए। यहाँ यह भी पुरुष को ध्यान रखना आवश्यक

है कि उसका तन शासित ही बना रहे, कभी शासक न बने । पुरुष शासक और संवेदक रहा तो चेतन सही दिशा मे सक्रिय रहेगा, अन्यथा वह अनियन्त्रित हो जायेगा।

शिल्पी को इतना उपदेश पर्याप्त था उसके सकोच को दूर करने के लिए। उसने माटी के माथे पर दाहिना चरण रखकर मगलाचरण किया, अपने क्रम को और गूँथा, उसे बड़े उपयोग के साथ श्रम के साथ । मिट्टी जल के मिश्रण से और पाद-सचालन से इतनी अधिक चिकनी हो गई कि मखमल अपनी मृदुता पर सदेह करने लगा और आम्रमजरी को अपनी मसृणता पर तरस आने लगा, उसे अपनी अस्मिता पर उपहास होने लगा। कवि की कल्पना है कि कौंपलो पर रक्तवर्ण की पतली त्वचा कदाचित् उसी क्रोध और उपहास से लाल हो गई है । कवि की यह सुन्दर कल्पना दर्शन मिश्रित है । लीजिए इसका आनन्द –

यहाँ पर
मखमल मार्दव का मान
मरमिटा-सा लगा ।
आम्रमजुल-मजरी
कोमलतम कोपलो की मसृणता
भूल चुकी अपनी अस्मिता यहा पर
अपने उपहास को सहन नहीं करती
लज्जा के घूँघट मे छुपी जा रही है,
और
कुछ-कुछ कोपवती हो आई है,
अन्यथा
उसकी बाहरी-पतली त्वचा
हल्की रक्तरजिता लाल क्यो है ? (पृष्ठ १२७)

यहाँ से फिर दर्शन शुरु हो जाता है । माटी की मृदुता बोल पडती है ,अब–सुनो, उस सत्ता के अतिशय को । आँखों की काजल-कालिमा सिखाती है कि तुम चेतन की पहचान करो, अधरो की लाली सिखाती है कि सदा समता का अनुपान करो, गालो की माँसलता तुम्हारे बल के बलिदान का आवाहन करती है, बालो की ओर से सदेश है कि तुम काया का सम्मान मत करो और चरणो की चरणाई कहती है कि "पूरा चलकर ही विश्राम करो"।मुक्ति आधा चलकर नही मिल सकती (पृष्ठ १२९)।

कुम्हार के पैर मिट्टी के गूँथने से थक रहे थे, चूरचूर हो रहे थे पर स्वय मिट्टी का यह आवाहन "पूरा चलकर ही विश्राम करो" उसे नई गति देता है और

फिर वह पूरे उत्साह के साथ पुनः अपने काम में लग जाता है। मिट्टी को गूँथने की क्रिया में उसके पैर काफी नीचे चले जाते हैं, जिससे कवि को यह कल्पना करनी पड़ती है कि मिट्टी से लिपटी शिल्पी की आजानु ऐसी लग रही थी जैसे सुगन्ध की प्यासी बनी चन्दन-तरु से लिपटी कोई नागिन हो। (पृष्ठ १३०)

कवि शायद अपने काव्य को पारम्परिक लक्षणो की दृष्टि से भी महाकाव्य की श्रेणी में बैठाना चाहता रहा है। इसलिए उसने प्रसग लाकर वीर, हास्य, रौद्र, भयानक, श्रृगार जैसे रसों को बड़ी सफलतापूर्वक अनोखे ढग से स्थान दिया है। शिल्पी आजानु माटी से सना हुआ है। ऐसा लग रहा है जैसे माटी के बाहुओं से वीररस टपक रहा हो। पर शिल्पी बडे स्पष्ट शब्दों में कहता है कि वीर रस से न तीर मिलता है और न दु ख मिटता है, न सकट हटता है। शीतल जल कितना भी गरम रहे, आग बुझाने में तो समर्थ होता ही है। पर वीर रस से मानव में खून उबलने लगता है, शान्त माहौल ज्वालामुखी बन जाता है, मान के वश होकर वह दूसरे के अस्तित्व को नकारने लगता है, पुरानी परम्पराओं को ठुकराने लगता है और स्वय को भी भूल जाता है। इसलिए चिन्तनपूर्वक मान का हनन होना आवश्यक है। (पृष्ठ १३१-१३२)

शिल्पी के समक्ष वीर रस की अनुपयोगिता और उसके अनादर को देखकर माटी की महासत्ता के अधरों से हास्य रस फूटा और एक कहावत कह डाली -

आधा भोजन कीजिए, दुगुना पानी पीव।
तिगुण श्रम चहुगुणी हसी, वर्ष सवा सौ जीव ।।

प्रसन्न रहने वाले की जिन्दगी लम्बी होती है अवश्य, पर शिल्पी तो आध्यात्मिक रस से सना पात्र है। उसे प्रसन्नता और स्वास्थ्य से क्या मतलब ? तभी तो वह हास्य को भी कषाय मानकर वेदभाव के विकास हेतु हास्य का त्याग अनिवार्य मानता है। और फिर हसन-शील व्यक्ति स्वभावत उथले होते है। उनमें कार्याकार्य का विवेक नही होता। तभी तो स्थितप्रज्ञ हँसते नही हैं।

महासत्ता माटी के भीतर से अब रौद्र रस प्रगट हुआ। स्वभावत वह ज्वलनशील, कठोर व हृदयशून्य है। उसकी नाक कोप से फूलने लगी गुब्बारे-सी, नाक से कोप की लपटें बहने लगी लपलपाती-सी। शिल्पी ने कहा – रुद्रता एक विकार है और विकार को पाला नही जा सकता, उसने अपने समर्थन मे एक सुन्दर सूक्ति को कह सुनाया -

आमद कम खर्चा ज्यादा, लक्षण है मिट जाने का।
कूवत कम गुस्सा ज्यादा, लक्षण है पिट जाने का ।। (पृ १३५)

इसके बाद महासत्ता मिट्टी के भीतर से भयानक रस उपस्थित हुआ, जिसकी आँखे सिंदूरी और मुख लोहित था। शिल्पी की मति भयभीत हो गई, उसे देखकर विस्मय की भी रेखाये उभरीं और फिर श्रृंगार-रस सामने आया, शिल्पी को श्रृगार रस से क्या मतलब! उसे तो न रूप की प्यास है, न जड़ श्रृगारो से कोई प्रयोजन। उसे तो काम नही, राम चाहिए। हमेशा से वह इन सभी रसों से दूर रहा है, सुरभि से मुक्त रहा है, उसे इसकी क्या आवश्यकता ? यह रस और आभूषण श्रृ गार तो उनके लिए है, जो अपने रूप मे निखार चाहते हैं अथवा कुरूप को सुरूप में बदलना चाहते हैं, पर जिसे अपने रूप की कोई प्यास-आस नहीं है, उसे इन श्रृगारो से क्या प्रयोजन। शिल्पी आगे अपने भाव और व्यक्त करता है कि काया की यह उपासना तो न जाने कब से हो रही है, बाहर-भीतर भाव-द्वन्द्व भी होते रहे हैं, पर अब वह इन सबसे काफी दूर हो गया है। उसका मन और तन थकने-सा लगा है। जानता है, सभावनाये अगणित हैं, पर प्रश्न है वे फलित कब होगी, कलिका कब खिलेगी ? राग और श्रृगार ही तो उसके घूँघट दूर करने मे बाधक हैं। हर प्राणी सुख का आकाक्षी होता है। रागी का लक्ष्य-बिन्दु अर्थ रहता है, त्यागी-विरागी का परमार्थ। परमार्थ बाहरी नही, भीतरी घटना का परिणाम है, अपने उपादान की देन है –

हे श्रृ गार!
स्वीकार करो या ना करो
यह तथ्य है कि,
हर प्राणी सुख का प्यासा है
परन्तु,
रागी का लक्ष्य बिन्दुअर्थ रहा है
और,
त्यागी विरागी का परमार्थ।
यह सूक्ष्म अभेद्य-भेद रेखा
बाहरी आदान-प्रदान पर
आधारित नहीं है,
भीतरी घटना है स्वाश्रित
अपने उपादान की देन। **(पृष्ठ १४१)**

शिल्पी को इससे भी सतोष नही हुआ तो आगे फिर पूछता है, आलकारिक रूप से कि ये किसलय किसलिए हैं, किस लय मे गीत गाते हैं ? परमार्थ को अर्थ की तुला पर नही तोला जा सकता है, वह तो स्वय तुला है और तुला अतुलनीय होती है, परमार्थ की तुलना किससे की जा सकती है ?

कवि को यमक और अनुप्रास से बहुत प्रेम है। वह जिस विषय को छूता है, बिना अनुप्रास के वह रीतता नहीं। कभी-कभी लगता है, शब्द चित्र को प्रस्तुत करने के लिए ही वह तदनुकूल विषय का चुनाव करता है। शायद इसीलिए श्रृंगार के प्रसंग में स्वर और संगीत की बात कर देह-विदेह, ईश्वर-परमेश्वर, अविनश्वर-नश्वर आदि तत्वो का दर्शन प्रस्तुत कर देता है। वह कहता है संगीत-गीत को सुनते हुए अनगिनत समय निकल गया, पर उससे अंतर भीगा नही। वह सुख का साधन अवश्य है, पर यदि सही संगीत हो तो। संगीत वह है, जिसमें कोई संग-परिग्रह नही हो, तन का भेद जहाँ टल जाये, मन का भेद जहाँ घुल जाये, समरसता आ जाये।

संगीत उसे मानता हूँ
जो संगातीत होता है
और प्रीति उसे मानता हूँ
जो अंगातीत होती है
तन का खेद टल कर
चूर होता है पल में
मन का भेद घुलकर
दूर होता है पल में
इसका पान करने से
मेरा संगी संगीत है
सप्त स्वरों से अतीत
समरस नारंगी शीत है,
मुक्त भंगी रीत है
सप्तभंगी रीत है
स्वस्थ जंगी जीत है। (पृष्ठ १४४-४७)

श्रृंगार रस के बाद वीभत्स रस आया, जिसकी अभिव्यक्ति कवि ने नासिका से निकलने वाले दुर्गन्धित पदार्थ से की और यह कल्पना की कि श्रृंगाररस वीभत्सरस के लिए भी प्रिय नही है, अन्यथा सभी की नासिकाओं से नकारात्मक वर्ण क्यों निकलता? नासिका के स्राव से दृश्य घिनौना बन रहा था, पर श्रृंगार रस में पले व्यक्ति को वह घिनौना नहीं लगता। कवि ने यहाँ प्रकृति माँ को बीच में लाकर उससे श्रृंगार के गालों पर चाँटे लगवा दिये और माँ की ममता और समता को बड़े ही सशक्त भावों और शब्दों में अभिव्यक्त कर दिया। माँ का काम सन्तान को मात्र पैदा करने में समाप्त नहीं हो जाता, बल्कि उसकी सुसुप्त शक्ति को जाग्रत करने और सत्संस्कारों से साकार करने में भी होता है। सन्तान

की अवनति को रोकने के लिए माँ का हाथ उठता है तो उसकी उन्नति के समय उसका मस्तक ऊपर हो जाता है । वह नहीं चाहती कि परस्पर कलह हो और वातावरण दूषित हो, इसलिए सभी रसों के बहाने वह जन -जन को सबोधित करती है कि दयालु बनो, दूसरो को अभयदान दो, सदाशयी बनो, समष्टि पूर्वक जियो, अपने साथ पर का भी मूल्यांकन करो, पर की इच्छा न करो । जीवन को रण से बचाने का यह एक अच्छा मार्ग है -

सदय बनो ।
अदय पर दया करो
अभय बनो ।
समय पर किया करो अभय की
अमृतमय वृष्टि
सदा सदा सदाशय दृष्टि
रे जिया ! समष्टि जिया करो ।

अपना हीन अकन हो
पर का भी मूल्याकन हो,
पर, इस बात पर भी ध्यान रहे
पर की कभी न वाछन हो
पर पर कभी न लाछन हो

जीवन को मत रण बनाओ
प्रकृति माँ का वृण सुखाओ ।
प्रकृति माँ का ऋण चुकाओ
प्रकृति माँ का न मन दुखाओ ।

(पृष्ठ १४९)

माँ की ममता भरा यही उपदेश कितना सार्थक और जीवन्त है, यह कवि स्वय जानता है क्योंकि कवि को माँ से यही सबकुछ मिला है । जिसे, उसके प्रति सम्मान और कृतज्ञता व्यक्त कर वह उऋण होने का प्रयत्न कर रहा है । उसे दुःख है कि माँ के सुनहरे उपदेश पर चलनेवाले बहुत कम हैं । तभी तो ईश्वर पर विश्वास उनके मन में अवश्य है, पर तदनुरूप उनका आचरण नहीं है, आदिनाथ द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलनेवालों की कमी नही है, पर उपदेशकों की भीड के कारण उनके मन निःसंदिग्ध नही हो पा रहे है । उपदेशको का कोई चरित्र नहीं है । वे औरों को चलाना चाहते है , पर स्वय उस मार्ग पर चलना नही चाहते । आचार्यश्री को इसका अपार दुःख है ।

यहाँ जिया का उल्लेख लगता है, पाकिस्तान के जनरल 'जिया उल हक' की ओर है, जिसे वे उपदेश दे रहे हैं भारत माँ की ओर से कि उसे सद्भाव और समष्टिभाव रखना चाहिये।

वीभत्स रस के बाद आचार्यश्री ने शान्तरस की मीमासा की और उसमें करुण और वात्सल्य रस का अन्तर्भाव कर दिया बडे सबल तर्कों से । करुणा करना और करुणा होना दोनो में अतर है । करुणा करनेवाला अपने आपको गुरुवत् बडा मानता है और जिस पर करुणा की जाती है, वह अपने आपको शिष्यवत् छोटा मानता है । दोनों द्रवीभूत होते है । करुणा कारक बहिर्मुखी होता है और करुणेय ऊर्ध्वमुखी होता है । करुणा की दो स्थितियाँ होती हैं - विषयलोलुपिनी और विषय-लोपिनी (दिशाबोधिनी) ।प्रथम स्थिति का तो यहाँ प्रश्न ही नहीं पर दूसरी करुणा नमकीन आँसुओ के स्वाद जैसी है । इसलिए करुण रस में शान्तरस का अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता ।

करुणरस नहर की भाँति है और शान्तरस नदी की भाँति है। नहर खेती की अग्नि (उष्णता) दूर करने में ही सूख जाती है और नदी अनेक मार्गों को मिटाकर सागर में मिल जाती है। धूल में पडते ही जल दल-दल में बदल जाता है, पर हिम की डली पर ऐसा कोई प्रभाव नही पडता। इसी तरह करुणा दूसरे से जल्दी ही प्रभावित हो जाती है, पर शान्तरस किसी से प्रभावित नहीं होता, इससे यह भी ध्वनित होता है कि करुणा मे वात्सल्य को हम अन्तर्भूत नही कर सकते और न उसे कपोल-कल्पित भी मान सकते हैं (पृष्ठ १५५ - १५६) ।

करुणा के समान वात्सल्य भी द्वैतभोजी होता है, पर उसमे ममता भी होती है, बाह्य आदान-प्रदान होता है,आचार-विचारो पर इसका प्रयोग होता है, मृदु मुस्कान के साथ ही इसकी अभिव्यक्ति तो होती है, पर वह क्षणभुगुर- सी लगती है । ओस के कणो से न प्यास बुझती है और न आस खतम होती है, अत वात्सल्य में शान्तरस का अन्तर्भाव नही माना जा सकता है । इसे यो भी समझा जा सकता है कि माँ बच्चे को अपनी गोद में रखकर दूध पिलाती है ।और बालक माँ की ओर निहारता है, उसके भाव परखता रहता है । यदि माँ कठोर हो जाती है तो वह रोने लगता है और यदि वात्सल्य व्यक्त करती है तो वह आनन्द से खूब दूध पीता है और दूध के प्रवाह से उसे ठसका लग जाता है । कवि कल्पना करता है कि शायद इसी कारण मा दूध पिलाते समय अपने अचल मे बालक का मुख छिपा लेती है ताकि वह एकान्तत उसका आनन्द पान कर सके ।

करुणारस जीवन का प्राण है अनिल के समान, वात्सल्य जीवन का त्राण है नीर के समान,और शान्तरस जीवन का त्राण है मधुरिम क्षीर के समान । करुणा रस से पाषाण भी पिघल जाता है, वात्सल्य नादान को भी सोम बना देता है पर शांतरस

संयत व्यक्ति को ओम बना देता है। इसलिए शातरस सभी रसों का महारस है, जहाँ सभी रस अन्तर्भूत हो जाते हैं। शान्तरस की वकालत में कवि ने लगभग आठ पृष्ठ लगा दिये, जहाँ कवि एक रसाधिवक्ता जैसा लगता है। यह ठीक भी है। कवि मात्र कवि नहीं है, वह शान्त रस में पगा एक आचार्य भी है। करुणा और वात्सल्य आदि तो उसे राग के कारण बन जाते हैं।

यहाँ कवि भारवि के समान करुणरस सिद्ध आचार्य दिखाई देते है और साधारणीकरण के अप्रतिम उदाहरण प्रतीत होते हैं।

रसों की लम्बी व्याख्या के बाद कथा पुन प्रारभ होती है। शिल्पी कुम्हार चाक पर मिट्टी का लौंदा बनाकर रखता है। तब माटी शिल्पी से कहती है - जो अच्छी तरह सरकता है वह ससार कहलाता है। काल स्वय चक्र नही है, वह तो ससार - चक्र का चालक है। इसलिए उपचार से काल को चक्र कहा जाता है। तभी तो चौरासी लाख योनियो मे चक्कर होता रहा है। तुमने और इसे चक्कर मे डाल दिया है। अत उतार दो इसे। शिल्पी उसे समझाता है - ससार का चक्र राग-द्वेष के कारण होता रहता है और कुलालचक्र पर जीवन का निखार होता है पर तुम्हारा चक्कर दृष्टि के कारण है, क्योकि परिधि की ओर रखने से चेतन का पतन होता है और परम-केन्द्र की ओर ध्यान देने से चेतन बन जाता है, जीवन सुखी हो जाता है।

और सुनो,
यह एक साधारण-सी बात है कि
चक्करदार पथ ही आखिर
गगनचूमती
अगम्य पर्वत-शिखर तक
पथिक को पहुचाता है
बाधा-बिन बेशक ! (पृष्ठ १६२)

अब शिल्पी कुम्हार घडे को बनाने का सकल्प करता है। यहाँ कवि पुन दर्शन पर आ जाता है। वह कहता है कि शिल्पी के उपयोग में कुम्भ का आकार आया अर्थात् ज्ञान ज्ञेयाकार में परिणत हुआ और ध्यान ध्येयाकार मे। तन में मन का अनुकरण और क्रमश माटी में से घट की मजुल आकृतिया हाथ के पुरुषार्थ से उद्घाटित हो गई। दार्शनिक कवि का कहना है कि घट के निर्माण मे काल का कोई हाथ नही है। वह तो निष्क्रिय है, क्रय-विक्रय से पर है, भले ही वह उदासीन रूप से उपस्थित रहा हो। उसमें विशेष कारण है हाथ और पदचालन। अत यह निमित्त-नैमित्तिक सबंध है कुम्भ के निर्माण में।

मान से अछूती माटी धैर्य के साथ कुम्भाकार ग्रहण करती है। यहाँ कवि ने पदार्थ की उत्थान-पतन कथा को कह दिया कि मान से विमुख होने पर उत्थान होता है और रति सहगत मान होने पर व्यक्ति का पतन होता है।

घड़ा तैयार हो जाता है, दो-तीन दिन धूप में रहकर सूख भी जाता है और फिर कुम्हार उसे बजाकर उस पर चोटकर उसकी खोट की पहचान करता है।

इसके बाद कुम्हार की कुम्भ पर चित्रकारिता प्रारंभ होती है और कवि की उसपर दार्शनिक कल्पनायें उमड़ती हैं। घडे के कर्ण-स्थान पर ९९ और ९ जैसी सख्या उतारी जाती है। प्रथम संख्या को दार्शनिक कवि ने क्षयस्वभावा और अनात्म तत्त्व की प्रकाशिका मानी है। और दूसरी सख्या को अक्षयस्वभावा और आत्मतत्त्व की उद्बोधिका के रूप में स्वीकार किया है। उनका कहना है कि ९९ और ९ की सख्याओं मे दो आदि सख्याओं का गुणा करने पर सख्या उत्तरोत्तर भले ही बढती जाये पर प्राप्त संख्या को जोडने पर ९ ही आती है। अत ९ की सख्या अक्षय - स्वभावा है। यथा -

९९ x २ = १९८, १ + ९ + ८ = १८, १ + ८ = ९
९९ x ३ = २९७, २ + ९ + ७ = १८, १ + ८ = ९
९९ x ४ = ३९६, ३ + ९ + ६ = १८, १ + ८ = ९

इसी तरह

९ x २ = १८, १ + ८ = ९
९ x ३ = २७, २ + ७ = ९
९ x ४ = ३६, ३ + ६ = ९

ससार ९९ का चक्कर माना जाता है। इसलिए मुमुक्षुगण ९९ की सख्या को हेय और ९ की सख्या को उपादेय/ध्येय मानते है नव जीवन के स्रोत के रूप में आचार्यश्री को भी,लगता है, इस सख्याशास्त्र पर अमिट विश्वास है।

कवि ने एक दूसरी सख्या की ओर भी ध्यान दिलाया है। वह है ६३ की सख्या,जो घडे के कण्ठ पर उकेरी जाती है। हमारे पुराण पुरुषों की भी सख्या ६३ मानी जाती है। ६ और ३ एक दूसरे के सम्मुख खड़े हैं जो एक दूसरे के सुख-दु:ख में साथ रहने की और सज्जनता बरतने का ध्यान सज्जनता बरतने का ध्यान दिला रहे हैं और जब हम ६३ को उल्टा कर देते है तो ३६ की संख्या एक दूसरे के विपरीत हो जाती है,जो कलह का प्रतीक मानी जाती है। और यदि ३६ के आगे ३ और जोड दिया जाये तो ३६३ की संख्या बन जाती है, जो अंक परस्पर खून के प्यासे रहते है। (पृष्ठ १६६-१६९)

कुम्भ पर सिंह और श्वान का चित्र भी बनाया जाता है। इन दोनों की जीवन-पद्धति परस्पर विपरीत है। सिंह पीठ पीछे धावा नहीं बोलता, गरज के बिना गरजता नहीं, और बिना गरजे बरसता/आक्रमण नहीं करता। अतः मायाचार से दूर रहता है, अदीन रहता है, गले में पट्टा विहीन होकर बन्धन में भी पूँछ ऊपर किये घूमता है और आक्रमण करता है आक्रमण करनेवाले पर। यह सब उसकी स्वतत्रता और स्वाभिमान का प्रतीक है।श्वान बिलकुल इसके विपरीत है, वह पीछे से दौड़कर काटता है, निष्प्रयोजन भौंकता है, दीन बना रहता है, पूँछ हमेशा स्वामी के पीछे हिलती रहती है, गले में पट्टा भी बधा रहता है और पत्थर मारनेवाले पर नही, पत्थर पर आक्रमण करता है। यह उसकी पराधीनता और दीनता का प्रतीक है इसलिए श्वान-सभ्यता निदनीय मानी गई है। वह अपनी जाति को देखकर गुर्राता है, काटता है, दूर भगा देता है जबकि सिह परस्पर सहयोग और स्नेह पूर्वक एक साथ रहते हैं।श्वान तो पागल भी होता है और दूसरो को काटकर उन्हे पागल भी बना देता है पर सिह कभी पागल हुआ हो -ऐसा नही सुना गया। इसी तरह एक और श्वान जाति का निद्य कार्य है। वह भूख लगने पर विष पर भी मुह लगा देता है, यहा तक कि अपने शिशु को भी खा जाता है, परन्तु सिह कभो भी ऐसा नही करता। (पृष्ठ १६९-१७१)।

इसी तरह कुम्भ पर कछुआ और खरगोश का भी चित्र बना रहता है। वे दोनो चित्र साधक को साधना की विधि बताते हैं। कछुआ धीमीगति मे भी, पर अविरल चलकर अपने लक्ष्य पर पहले पहुंच जाता है पर खरगोश तेज गति होने पर पथ में निद्रा लेने के कारण लक्ष्य तक पीछे पहुँचता है। यह द्योतक है प्रमाद का, जो साधना का परम शत्रु है।

इसके बाद दार्शनिक कवि को घडे पर "ही" और "भी" के चित्र अकित दिखाई देते हैं। ये दोनो बीजाक्षर हैं।"ही" एकान्तवाद का प्रतीक है और "भी" अनेकान्तवाद को द्योतित करता है। इसलिए "ही" तुच्छता, हीनता और बाह्यता का दर्शन करता है जबकि "भी" सामुदायिकता, समीचीनता तथा अन्तर की ओर आकृष्ट करता है। आचार्यश्री ने "ही" को पश्चिमी सभ्यता से जोडा है और "भी" को भारतीय सस्कृति से। 'ही' का उपासक रावण को माना है और 'भी' का उपासक राम को। इसीलिए राम जन-जन के उपासक रहे हैं और रहेंगे। "ही" के आसपास भले ही भीड-सी लगी रही पर वह भीड नही है। "भी" वस्तुत लोकतन्त्र की रीढ है। इसलिए उससे स्वतन्त्रता के स्वप्न साकार होते हैं, सद्विचार और सदाचार बना रहता है तथा स्वच्छन्दता की मदान्धता नष्ट हो जाती है। इसी आधार पर यहाँ राष्ट्रीय- अन्तराष्ट्रीय राजनीति पर भी कवि ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

आचार्यश्री ने कुम्भ पर कुछ पंक्तियाँ और लिखे जाने की कल्पना की है उनकी दृष्टि में उस पर लिखा रहता है "कर पर कर दो" । यह पंक्ति हाथ पर हाथ जोडने से सबद्ध है, जो पुरुषार्थ का प्रतीक है साधना के क्षेत्र में तथा व्यवहार के क्षेत्र में सरकार को यथारूप कर देने की ओर भी संकेत कर रहा है । (पृष्ठ १७३-१७४)।

इसी तरह कुम्भ पर "मर हम मरहम बने" लिखा रहता है । जो यह निवेदन करता है प्रभु से, कि वह अभी तक पथ से अनेक बार विचलित हुआ, गिरा, उठा, लहुलुहान हुआ, पर अब मरकर अगली पर्याय में तो प्रभु हम मरकर "मरहम" बन जायें ताकि ये सब घाव भरे जा सकें ।(पृष्ठ १७४)।

कवि की एक और कल्पना है कि घडे पर लिखा रहता है "मै दो गला" इसका एक तो अर्थ यह है कि मैं द्विभाषी हूँ, भीतर कुछ और बाहर कुछ । दूसरा भाव है कि मैं छली, धूर्त और मायावी हूँ और तीसरा अर्थ है कि मैं अर्थात् अह को दो गला अर्थात् समाप्त कर दो । कवि का ध्यान शब्दो के ऑपरेशन करने पर उसके आध्यात्मिक अर्थ की ओर अधिक जाता है और यह स्वाभाविक भी है, स्वय उस पथ के पथिक जो हैं वे ।

कुम्भ के तपने की अब प्रक्रिया प्रारभ होती है । उसका जलीय अश बिना तप/आग/धूप के जा नही सकता । यहाँ कवि ने तप शब्द को तपस्या के अर्थ में भी खीच लिया । उनका कहना है कि तप के बिना साधना हो नही सकती । साधना के लिए तप एक अनिवार्य तथ्य है । उनका स्वय का मत तप करते-करते अनन्त सीमा को लाघने का हो रहा है -

अनन्त की सुगन्ध में
खो जाने को मचल रहा है,
अन्त की सीमा से परे
हो जाने को उछल रहा है ।(पृष्ठ १७६)

काव्य मे वसन्त ऋतु का अब अन्त हो चुका है । ग्रीष्मऋतु का प्रभाव पड चुका है । सूर्य की प्रचण्ड धूप से मिट्टी में दरारें पड गई हैं, हवायें आग उगलने लगी हैं, नाले-नदियों में जल सूख गया है, दिन बड़े हो गये हैं इसलिए कि तपन के कारण रवि की गति शिथिल पड गई है । मन्द सुगन्ध बयार का समय निकल गया है, फूलों की मुस्कान भी समाप्त हो गई है, राग-पराग, हाव-भाव, भोग-योग, वासना-वसन, सब कुछ थक चुके हैं । अब वसत का मात्र भौतिक तन पड़ा हुआ लग रहा है । कवि ने वसत के समान ग्रीष्म को भी आध्यात्मिक सोच में ढाला है बडी सुघटता के साथ।देखिये -

वसन्त का भौतिक तन पड़ा है
निरा हो निष्क्रिय, निरावरण,
गन्ध-शून्य शुष्क पुष्प-सा।
मुख उसका थोड़ा-सा खुला है,
मुख से बाहर निकली है रसना
थोडी-सी उलटी-पलटी,
कुछ कह रही-सी लगती है -
भौतिक जीवन में रस-ना। (पृष्ठ १८०)

वसत के गमन को दार्शनिक कवि ने जन्म-मरण की प्रक्रिया के साथ बडी सुन्दरता से जोडा है। उसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की व्यावहारिक भाषा मे उतारा है और सत् की परिभाषा की सुन्दर परिपुष्ट व्याख्या की है -

"उत्पाद-व्यय ध्रौव्य-युक्तसत्"
सन्तों से यह सूत्र मिला है
इसमे अनन्त की अस्मिता
सिमट-सी गई है।
यह वह दर्पण है
जिसमे
भूत, भावित और सभावित
सब कुछ झिलमिला रहा है,
तैर रहा है,
दिखता है आस्था की आँखो से देखने से!
व्यावहारिक भाषा मे
सूत्र का भावानुवाद प्रस्तुत है
आना-जाना लगा हुआ है
आना यानी जनन-उत्पाद है
जाना यानी मरण-व्यय है
लगा हुआ पानी स्थिर-ध्रौव्य है
और
है यानी चिर सत्
यही सत्य है, यही तथ्य -----। (पृष्ठ १८४-८५)

यह समूचा अध्याय दर्शन से भरा हुआ है। द्रव्य की परिभाषा को काव्य में व्यावहारिकता के बल पर उतारने का सफल काम आचार्यश्री ने किया है, उनकी काव्य छटा और शब्दचित्र भी देखते ही बनते हैं।

यहाँ वसन्ततिलका छन्द का प्रयोग भी दृष्टव्य है (देते हुए श्रम परस्पर मे मिले है (पृष्ठ १८५) जो पंचास्तिकाय गाथा ७ का भावानुवाद है।

३. पुण्य का पालन : पाप का प्रक्षालन

तृतीय और चतुर्थ खण्ड का सबध सम्यक्चारित्र से है। यहाँ माटी की विकास कथा के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि किन पुण्य क्रियाओं से किन पाप क्रियाओ और भावो का प्रक्षालन होता है। पुण्य क्रियाओं से उपलब्ध श्रेयस्कर ऋद्धियों का भी वर्णन हुआ है और लेश्याओं के रूप में प्रलयकारी दृश्य भी यहा उपस्थित किये गये हैं।

खण्ड का प्रारभ होता है धरती और रत्नाकर के शाब्दिक विश्लेषण से। कवि का सोचना है कि जब कभी भी धरती पर प्रलय हुआ है, जल के कारण हुआ है। धरती के वैभव को जल ने लूटा है इसलिए धरती "धरा" रह गई और जल "रत्नाकर" बन गया। पर सम्पदा-हरण निश्चित ही निंद्य कार्य माना गया है। वह अज्ञानता और मोह का अतिरेक है। इसलिए जलधि जड-धी बन गया है। फिर भी धरती यह सब कुछ सहती चली जाती है। इसीलिए वह "सर्वसहा" है जो सन्तों के जीवन का लक्षण है।

कवि की कल्पना है कि सूर्य इस अन्याय को सहन नही कर सका। उसने अपनी प्रखर किरणों से जलधि के जल को सुखाया और उसके अपार वैभव को उद्घाटित किया। पर स्वभाव की भी विडम्बना देखिये कि वह सूखा जल बाष्प बनकर जल बरसाता रहा और अपने दोष छिपाता रहा जलधि को बार-बार भरकर, कवि की और भी सुन्दर कल्पना है कि सूर्य घूस देने पर भी कभी भी विचलित नही हुआ पर चन्द्रमा जल तत्त्व लेकर विचलित हो गया और सुधाकर हो गया, पर समुद्र के हाथ क्षार जल ही लगा। चद्रमा सशक रहा है उस पर कवि की कल्पना है कि चूकि उसे यह सब कार्य अनुचित लगा इसलिए वह लज्जित होकर रात्रि में ही निकलता है चोर के समान सशक होकर। अन्त मे कवि कहता है कि अर्थ की आखों से परमार्थ देखा नही जा सकता।

यह कटु सत्य है कि
अर्थ की आँखें
परमार्थ को देख नहीं सकतीं
अर्थ की लिप्सा ने बडों-बड़ों को
निर्लज्ज बनाया है। (पृ १९२)

सागर की भर्त्सना करने में कवि को इससे भी सतोष नही हुआ तो उन्होंने प्रशंसा करते हुए उसकी निंदा की। उन्होंने कहा कि मौलिक मुक्ताओं का निधान सागर है अवश्य पर ये मुक्तायें भी जल का ही परिणाम हैं। जल को मुक्ता के रूप में ढालने मे सीप कारण होती है और सीप स्वय धरती का अश है। धरा ने उसे मुक्ताफल बनाया है। इतने उपकार के बावजूद जल का स्वभाव "छलना" मिटता नहीं है। इतना ही नही, कवि की कल्पना में सागर से उन्हे कोई चुरा न ले-यह सोचकर, डरकर अतल गहराई में छुपा लेता है और उनका आरक्षण, संरक्षण मगरमच्छ करते रहते हैं अपने विष वमन से। इसलिए 'सागर मे विष का विशाल भण्डार मिलता है' कवि की दृष्टि में।

धरती यथार्थ में सर्वसहा है। उसने कृतघ्न के प्रति भी कभी विघ्न उपस्थित नही किया, बल्कि उसे समृद्ध ही किया है। बास भी धरती का अश है। उसका काम जल को वशमुक्ता मे बदलने का है। उसी बास से वशीधर की बासुरी भी बनती है जिससे सगीत की मधुरिम लहरें उत्पन्न होती है। धरती के ही कारण नागमुक्ता, कुकुरमुत्ता, गजमुक्ता, मेघमुक्ता आदि भिन्न-भिन्न मुक्ताओ का निर्माण होता है। कवि कल्पना करता है कि इससे धरती का यश बढा और यश से चन्द्रमा को ईर्ष्या हुई। फलत चन्द्रमा के निर्देशन में जलतत्त्व ने धरती की अखण्डता को समाप्त करने के लिए दल-दल पैदा कर दिया। अतिवृष्टि और अनावृष्टि भी इसी के कारण होती है। यह सब तुच्छ स्वार्थ के लिये होती है। कवि ने अन्त में लेखनी के माध्यम से इस धन-गृद्धता के लिए धिक्कारा है और धिक्कारा है उस दुर्बुद्धि के लिए जो विश्वघातिनी और आततायिनी होती है। (पृष्ठ १९५-१९७)

इसके बाद कुछ क्षण के लिये कथा का पुन प्रारभ होता है मात्र इतना कि कुम्भकार कुछ समय के लिए प्रवास में चला जाता है। कवि उसकी अनुपस्थिति मे जलधि को प्रस्तुत करता है और जलधि अपनी कूटनीति से लहरो के बहाने बादलों से यह कहता है कि जलधि वस्तुत जड-धी वाला है, उसमे परोपकारिणी बुद्धि नही हैं। कवि की कल्पना है कि सागर के सकेत से गागर भरकर तीन बदलियाँ चली सूर्य को प्रभावित करने। पहली बदली दही के समान सफेद साडी पहने साध्वी-सी लगती है। दूसरी बीचवाली बदली पलाश की हसी-सी साड़ी पहने और तीसरी बदली सुवर्ण वर्ण वाली साड़ी को धारण किये है। इन तीनो बदलियो ने सूर्य को प्रभावित करने का प्रयत्न किया, पर वह अप्रभावित, अपनी गति से चलता रहा। पर प्रभावित हो गई उसकी पत्नी प्रभा। अर्थात् कवि का कहना है कि सूर्य/प्रभाकर/ अपनी गति से चलता रहा पर उसकी प्रभा(कान्ति)बदलियों से प्रभावित होकर कम हो गई। (पृष्ठ १९७-२००)।

पत्नी को प्रभावित देखकर प्रभाकर अशान्त हो जाता है और कवि उससे एक लम्बा प्रवचन करा देता है इस आश्चर्य के साथ कि कभी भी स्त्री-समाज द्वारा प्रलय हुआ हो यह नहीं सुना गया,वह तो सहृदयता और करुणा की साक्षात् प्रतिकृति है,फिर ये बदलियाँ (स्त्रियां) ऐसा धोखा क्यों दे रही हैं। इसके बाद स्त्री जाति की विशेषतायें कवि,प्रभाकर के मुंह से गिनाने लगता है। वह कहता है, स्त्री जाति परतन्त्र होकर भी कभी पाप नहीं करती। वे पापभीरु रहती हैं। जो पाप होते भी हैं वे पुरुषों से बाध्य होकर ही होते हैं उन्हें कुपथ-सुपथ की पहिचान भी बहुत रहती है। करुणाशीलता उनकी विशेषता है। उनको **नारी** इसलिए कहा जाता है कि वे किसी की शत्रु नहीं हैं (न + अरि) और न वे किसी के लिये आरी (न + आरी) हैं। (पृष्ठ २०१ - २०२)

नारी को **महिला** भी कहा जाता है। कवि ने महिला का अर्थ यह किया है कि वह जीवन में मगलमय महोत्सव लाती है, मही (पृथ्वी या जननी) के प्रति अपूर्व आस्था जगाती है और पुरुष को गन्तव्य मार्ग का निर्देश करती हैं। महिला का एक और मजेदार अर्थ किया है कि वह मठा-महेरी खिलानेवाली होती है । सभव है, कवि को महेरी रुचिकर हो जो बुन्देलखण्ड का स्वादिष्ट व्यजन है।

आगे कवि ने नारी वाचक और भी शब्दों का इसीतरह विश्लेषण किया है। जैसे नारी को **'अबला'** इसलिए कहते हैं कि वह अवगम अर्थात् ज्ञान-ज्योति को जागृत करती है अथवा अतीत और अनागत की आशाओं से हटकर अब अर्थात् वर्तमान में लाती है। हम यह भी कह सकते है कि नारी किसीप्रकार की बला अर्थात् सकट को नहीं लाती, समस्या उत्पन्न नहीं करती , उसके बिना पुरुष निर्बल बना रहता है।

कुमारी का अर्थ देखिये । "कु" अर्थात् पृथ्वी "मा" अर्थात् लक्ष्मी और "री" अर्थात् देने वाली। इसका अर्थ यह हुआ कि यह पृथ्वी सपत्ति युक्त तब तक रहेगी जब तक यहाँ "कुमारी" रहेगी। तभी तो सभी लोग कुमारियों को मगलसूचक मानते हैं ।

एक अन्य शब्द **"स्त्री'** का अर्थ कवि की कल्पना में यह आया कि "स" यानी समशील सयम, "त्री" यानी पुरुषार्थ त्रय - धर्म, अर्थ, काम में पुरुष को कुशल सयत बनाना। अर्थात् स्त्री पुरुष को इन्द्रिय-सयत बनाती है, उसके काम-पुरुषार्थ को निर्दोष बनाने के लिए गर्भ धारण करती है। अर्जित सपत्ति को समुचित वितरण कर अपव्यय रोकती है तथा दान-पूजादि सत्कर्मों में सहयोग देकर धर्मपरम्परा की रक्षा करती है।

इसीप्रकार विद्वान-चिंतक-कवि ने सुता, दुहिता आदि शब्दों के भी विधेयात्मक अर्थ निकाले हैं। उदाहरणार्थ - **सुता** का अर्थ उन्होने किया है - "सु"

याने अच्छा और "ता" भाववाचक है अर्थात् सुख सुविधाओं की स्रोत "सुता" कहलाती है। 'दुहिता' इसलिए है कि उसमें स्वय का तथा अपने पति के जीवन का हित करने की भावना रहती है, स्व-पर हित सपादिका रहती है। मातृ तत्व में प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता तीनो तत्व सनिहित हैं। इसलिए वह सबकी जननी है, उसके सामने कोई भी दूसरा पिता-पितामह नहीं है। उसके अभाव में ज्ञेय-ज्ञायक संबध नही बनते। अत सदैव माता का सम्मान होना चाहिये। वह अगना इसलिए है कि अग के अतिरिक्त वह चिरन्तन, शाश्वत निरजन तत्व भी साथ लिए रहती है। (पृष्ठ १९९-२०७)।

नारी वाचक इन सारे शब्दो की व्याख्या आचार्यश्री ने विधेयपरक की है। हम जानते है, प्राचीन आचार्यों ने नारी की घनघोर निन्दा की है और उसके सिरपर सारे दोषों को मढ दिया है, स्वय के भी। परन्तु कवि ने इस परपरा को तोडकर उसे नया मोड दिया है और जो भी अर्थ किये हैं, सभी प्रशसात्मक और उसके योगदानात्मक हैं।

प्रभाकर के इस लम्बे प्रवचन ने प्रभा के दिल को हल्का कर दिया और वह अपने प्रति प्रभाकर से भूल की क्षमायाचना करने लगी। कवि ने यहाँ प्रभा का काव्यात्मक सुदर वर्णन किया है और वहीं सूचित किया है कि बदलियो मे बिखराव आया, धरती और प्रभा का मिलन हुआ। फलत मेघमाला से मुक्ताओ की वर्षा हुई, कुम्भकार के प्रागण में अपक्व कुम्भो पर। कुम्भकार की अनुपस्थिति मे मुक्ताओ की इस वर्षा ने सभी को आश्चर्य मे डाल दिया। बात राजा तक पहुँची राजा ने अपने आदमियो को भेजकर उन मुक्ताओ को बोरो में भरना प्रारभ कर दिया। सहसा आकाश से गभीर ध्वनि हुई कि बिना परिश्रम किये मुक्ताओं को सग्रहीत करना महान् अनर्थ होगा। यहाँ कवि अपने विचार व्यक्त करता है, परिश्रमवाद पर

गगन मे गुरु गम्भीर गर्जना
अनर्थ-अनर्थ-अनर्थ !
पाप-पाप-पाप !
क्या कर रहे आप !

परिश्रम करो
पसीना बहाओ
बाहुबल मिला है तुम्हे
करो पुरुषार्थ सही
पुरुष की पहचान करो सही

परिश्रम के बिना तुम
नवनीत का गोला निगलो भले ही,
कभी पचेगा नहीं वह
प्रत्युत, जीवन को खतरा है । **(पृष्ठ २११-१२)**

आगे कवि चाहता है कि

पर-कामिनी, वह जननी हो,
परधन कंचन की गिट्टी भी
मिट्टी हो सज्जन की दृष्टि में !
हाय रे !
समग्र ससार-सृष्टि में
अब शिष्टता कहाँ है वह !
अवशिष्टता दुष्टता की रही मात्र ! **(पृष्ठ २१२)**

इतना सुनने के बावजूद जनता और राजमण्डली मुक्ताओं के लिए हाथ फैलाती है, पर मुक्ता को छूते ही बिच्छू के डक जैसी वेदना होने लगती है और वह मूर्छित हो जाती है । राजा भी मन्त्र द्वारा कीलित-सा अवाक् रह जाता है। इसी बीच कुम्भकार आ जाता है । वह सात्त्विक और पुण्यात्मा है । इस दुर्घटना को देखकर उसकी आँखो मे तीन रेखायें खिच जाती है - विस्मय, विषाद और विरति की। वह सोचता है जो तत्त्व स्वर्ग और अपवर्ग का कारण था, वह आज एक दुर्घटना और उपसर्ग का कारण बन गया । लगता है, अपने पुण्य का परिपाक ही इस कार्य मे निमित्त बना है । वह दुखी होकर प्रभु से प्रार्थना करता है इस उपसर्ग को दूर करने के लिए। और शुद्ध अत करण से ओकार मात्र का उच्चारण कर जलसिंचन से उन सभी की मूर्च्छा दूर कर देता है । मूर्च्छा दूर होते ही लोग दूर भाग जाते है । पर कुम्भकार सहजतावश राजा से इस अपराध की क्षमा याचना करता है और उसके बोरो में मुक्ता-राशि स्वयं भर देता है । कुम्भकार की इस सरलता को देखकर "सत्य धर्म की जय हो" आवाज तुरन्त निकलती है राजमण्डली के मुख से । और इधर कुम्भ राजा तथा उसकी मण्डली से यह कहता है कि आप बाल-बाल बच गये, अन्यथा जलकर भस्म हो जाते। लक्ष्मण रेखा का उल्लघन करना कठोर दण्डों को आमन्त्रित करना है । अधिक अर्थ की चाह का यही परिणाम होगा ।

कथा आगे बढती है । कुम्भ के व्यंग्यात्मक वचनों को सुनकर राजा के मन में रोष और लज्जा के भाव आये और उन्हें घटना की यथार्थता के विषय में चिन्तन करने को विवश कर दिया । कुम्भकार ने स्थिति को देखकर कुम्भ को डाँटा इन शब्दों से कि लघु होकर गुरुजनों को उपदेश देना और गुरु होकर लघुजनों को वचन

देना कष्टों को आमन्त्रित करना है। पर निष्पक्ष होकर उन्हें प्रवचन देना बुरा नहीं है इन शब्दों को सुनकर धीरे-धीरे राजा का क्रोध शान्त होने लगता है और कुम्भकार के निवेदन पर वह उस मुक्ता-राशि को स्वीकार कर लेता है। (पृष्ठ २२२)

इस बीच बदलियाँ लौटने लगती हैं। उनका लौटना देखकर सागर के मन में क्षोभ पैदा होने लगता है। वह बदलियों के बहाने स्त्री जाति की निंदा करता है कि वह कभी किसी भी पक्ष से चिपकी नही रहती। तभी तो मातृपक्ष छोड़कर बिना किसी सक्लेश के दूसरे पक्ष में चली जाती है जो पुरुषों के लिए सभव नही हो पाता। इसलिए भूलकर भी कभी स्त्री को कुलपरम्परा का सूत्रधार नही बनाना चाहिये। इसी तरह उससे गोपनीय कार्य के विषय में विचार-विमर्श भी नहीं करना चाहिये। सागर की यह सर्वभक्षिणी वृत्ति प्रभाकर को असहनीय लगी और उसने सागर के भीतर रहनेवाले अपने तेजतत्त्व को सकेत किया, जिसने बडवानल पैदा कर सागर को पी डालने का उपक्रम किया। यह देखकर सागर ने बडनावल पर व्यग कसा कि ऊपर प्रभाकर जल रहा है नीचे तुम उबल रहे हो, पर बीच में रहकर मुझमें कभी भी उबाल नही आया और तुम भी कभी शीतल नही बन सके। यह लोक प्रसिद्धि है कि सागर में बडनावल उत्पन्न होता है फिर भी सागर कभी भी अपनी सीमा नही लाघता। इसी की कवि ने उपरोक्त सुदर कल्पना की है।

आगे कवि पुन कल्पना करता है कि बदलियो से काम होता हुआ न देखकर सागर ने अब तीन बादलो को प्रशिक्षित किया। उनमे पहला भ्रमर से भी अधिक काला है। दूसरा विषधर जैसा नीला है और तीसरा कबूतर के रग वाला है। ये तीनो रग कृष्ण, नील, और कापोत लेश्या के प्रतीक हैं। कवि ने इन लेश्यावालो के स्वभाव का वर्णन कवित्व ढग से किया है। वह कहता है कि लेश्या वाले लोग चाण्डाल समान प्रचण्ड, घमण्डी, निर्दयी रहते हैं। लगता है, अमावस्या भी इनसे डरकर छिप जाती है और एक ही बार बाहर निकलने का साहस करती है। निशा उनकी बहन है, सागर से शशि की मित्रता हुई। शशि में कलक होने से मानों उसका सबध किसी रूपवती कन्या से नहीं हो पाया और फलत उसे निशा से सबध करना पड़ा। आगे पुन कवि कहता है कि ये अप्रशस्त लेश्यावाले लोग मोही, दुराशयी, दुष्ट, दुराचारी, क्रोधी, प्रतिशोधी और अशुभकर्मी होते हैं। इसीलिये ये पयोधर जैसे काले होते हैं। (पृष्ठ २२३-२३०)

उपादेय की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि अपाय वहाँ न हो। इसीलिए कवि कल्पना करता है कि वे बादल प्रभाकर से भिड गये और कहने लगे कि तेरा देह धारण व्यर्थ है क्योंकि तेरे पास विश्रामघर हैं कहाँ ? तभी तो दिनभर भटकता रहता है। फिर भी क्यों सागर से सघर्ष लेता है। इसी कदाग्रह के कारण तुझे राहु ग्रस लेता है। यह कर्कशवाणी सुनकर मानों सूर्य निस्तेज हो

गया। फिर भी उसने उत्तर दिया बादलों को कि बन्दा और आँख वाला ही भयभी होता है। हिंसा की हिंसा करना ही अहिंसा की पूजा है और हिंसक की हिं या पूजा नियमत अहिंसा की नृशंस हत्या है। यह कहने पर सूर्य का स्वाभिमा मानो जाग उठा और वह पुन प्रखर हो गया।

कवि कल्पना करते हुये आगे कहता है कि सूर्य की प्रखरता को देखक सागर ने राहु को याद किया और उसे सूर्य के विरुद्ध अनेक तरह से उकसाया य कहकर कि क्या मृगराज के सम्मुख मृग भी मनमानी करता है ? क्या मेंढक विषधर के मुख पर खेल सकता है। अत तुम भले ही कितनी भी राशि ले ल पर इस प्रभाकर को पाठ सिखा दो।राहू बिना किसी पुरुषार्थ के सागर मे छि इतनी सारी सपदा प्राप्त करने के लोभ से मानो, सूर्य को ग्रसने के लिए तैयार ह गया। जब उसने ग्रस लिया तब कवि कल्पना करता है कि वह अस्पृश्य नि के स्पर्श से ही मानों अत्यन्त काला हो गया है। (पृष्ठ २३१-२३७)।

कवि को धरती से असीम प्रेम है और राष्ट्र से असीम स्नेह। इसीलि बार-बार वह इसे जीवनधन और जीवनसाधन कहकर अपनी आस्था व्यक्त कर है। कवि को राहू की जीवन -पद्धति पर अपार दु ख और रोष है। इसीलिए उसक कल्पनायें और अधिक जागृत हो जाती है । वह कहता है कि राहु से ग्रस्त सू ऐसा लग रहा है जैसे वह सिन्धु में बिन्दु-सा हो, माँ की गहन-गोद में शिशु-स हो, दुर्दिन से घिरा दरिद्र गृहस्थ-सा हो। सन्ध्याकाल में वह तिलक विरहि ललना ललाट-सा दिखाई दे रहा है। सूर्यबन्धु कमलदल मुकुलित हो गया। पव का सचार भी थम-सा गया, मित्र सूर्य की आजीविका लुटती देखकर। ममता मू सूर्य की इस स्थिति से मानों सारे पशु-पक्षियों और वनस्पतियों ने भोजन-पा त्याग दिया हो। सूर्यग्रहण तथा उसके बाद रात्रि का काव्यमय वर्णन देखने लाय हैं यहाँ। कवि की नयी-नयी उद्भावनायें हुई है इन पन्नों पर। (पृष्ठ २३७-२४०

इसके बाद काव्यमय **वर्षावर्णन** प्रारभ होता है प्रात काल हो जाने पर धरती देखती है कि अब मेघवर्षा को कोई रोक नहीं सकता। चेतना ही कुछ का यहाँ कर सकती है। धरती को चिंतामग्न देखकर कण विनम्रतापूर्वक उस आशीर्वाद पाते हैं - "पाप-पाखण्ड पर प्रहार करो, प्रशस्त-पुण्य स्वीकार करो। इसके बाद वर्षा प्रारभ हो जाती है। वर्षा का सांगोपांग सुन्दर काव्यमय वर्णन य दर्शनीय है। इन्द्रधनुष के प्रसग में यही आचार्यश्री अपना और अपनी लेखनी / कृ का मनोरम उद्देश्य स्पष्ट कर देते हैं, जो उनकी अथाह साधुता का परिचायक है-

मैं यथाकार बनना चाहता हूँ
व्यथाकार नहीं ।
और

मैं तथाकार बनना चाहता हूँ
कथाकार नहीं ।
इस लेखनी की भी यही भावना है -
कृति रहे, सस्कृति रहे
आगामी असीम काल तक
जाग्रत--जीवित----अजित ।
सहज प्रकृति का वह
श्रृगार---श्रीकार
मनहर आकार ले
जिसमे आकृत होता है ।
कर्त्ता न रहे, वह
विश्व के सम्मुख कभी भी
विषम-प्रकृति का वह
क्षार-दार ससार
अहंकार का हुंकार ले
जिसमें जाग्रत होता है
और
हित स्व-पर का यह
निश्चित-निराकृत होता है । (पृष्ठ २४५-२४६)

वर्षा, बिजली और बादल गर्जना का वर्णन अतीव कल्पनाओ से भरा है । रुक-रुक कर वर्षा होती है । लगता है, सागर ने क्रोधित होकर पुन बादल भेजे हो । बादलो में से बिजली कोधी, जिससे सबकी आँखे चिपक-सी गईं गोद से । इन्द्र ने वज्राघात किया और फलत लगता है मेघ से कठोर हो आह की ध्वनि निकली अर्थात् गडगडाहट हुई । मेघवृष्टि हुई, ओले गिरे । सौर मण्डल भर गया । यहाँ कवि प्रसग पाकर सौर मण्डल की तुलना करने लगता है काव्यात्मक ढग से । और बाद में वर्षा और ओलो का वर्णन बन्द कर देता है यह कहकर कि कुम्भ ओलों के कठोर आक्रमण से भी अप्रभावित रहा । कुम्भकार ने अवे को इतने सशक्त ढग से सजाया था कि एक भी ओला उसके भीतर जाकर कुम्भ को भग करने में समर्थ नहीं हो सका ।

दारुण वर्षा और ओलों के गिरने से सदाचारी शिल्पी चिन्तित हो रहा था, प्रभु से प्रार्थना कर रहा था कि यह सब रुक जाये तो ठीक है, अन्यथा उसे अकाल में ही जीवन से हाथ धोना पडेगा । धर्मसंकट में पडे शिल्पी को देखकर गुलाब-पौधा भी प्रभु से उस आपत्ति को दूर करने की प्रार्थना करता है । इसी

निमित्त गुलाब के कांटे और फूल भी सक्रिय हो जाते हैं। पुष्प कांटे के उद्वेग को शांत करने के लिये जीवन का अमूल्य सूत्र देता है कि जब सहजतापूर्वक काम हो सकता है तो व्यर्थ में अपनी शक्ति का अपव्यय क्यों किया जाये ?

जब सुई से काम चल सकता है
तलवार का प्रहार क्यों ?
जब फूल से काम चल सकता है
शूल का व्यवहार क्यों ?
जब मूल मे भूतल पर रहकर ही
फल हाथ लग रहा है
तब चूल पर चढना
मात्र शक्ति-समय का अपव्यय ही नहीं,
सही मूल्याकन का अभाव भी सिद्ध होता है। (पृष्ठ २५७)

फूल और पवन का सयोग हुआ। पवन ने प्रचण्ड वेग से बादलों को नष्ट किया। धरती पर नया जीवन आया, उत्साह आया। शिल्पी फिर अप्रभावित रहा। गुलाब की महक और भोगोपभोग की ये सारी वस्तुएँ उसे शामिल नही कर पाये। वह तो भक्ति-रस में डूबा रहा प्रभु के चरणों मे। और फिर उठ खडा हर्ष से आगे के पुरुषार्थ करने मे।

कुम्भकार शिल्पी की हालत इस भीषण प्रकोप से अकम्पित देख कुम्भ ने उससे कहा कि यह त्रैकालिक सत्य है परीषह-उपसर्ग के बिना स्वर्ग-अपवर्ग की प्राप्ति नही होती। कुम्भकार को भी कुम्भ की परिपक्व आस्था पर अतीव हर्ष हुआ और कहा कि अभी तुम्हारी यात्रा का यह प्रथम चरण ही पूरा हुआ। अभी और भी घाटिया पूरी करनी हैं, आग की नदी को पार करना है स्वय ही अपने बाहुओ से तुम्हें।

कुम्भ इसका जो उत्तर देता है वह आचार्यश्री का शाश्वत जाग्रतिक उपदेश है सही यात्रा की ओर बढने के लिए —

जल और ज्वलनशील अनल मे
अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि मे
निरन्तर साधना की यात्रा
भेद से अभेद की ओर
वेद से अवेद की ओर
बढती है, बढनी ही चाहिये

अन्यथा
वह यात्रा नाम की है
यात्रा की शुरुआतअभी नहीं हुई है। (पृष्ठ ८७)

यहाँ काव्य का तृतीय खण्ड विराम लेता है। इस खण्ड में कथा सूत्र अधिक हैं। अन्तर्कथाओ और घटनाओ के माध्यम से कथा तो नही पनप पाती, परन्तु कवि को अपनी काल्पनिक शक्ति को प्रस्तुत करने के अवसर अधिक अवश्य मिल जाते हैं। इसलिए इस खण्ड में काव्यात्मकता उभरकर अधिक आई है। शिल्पी के चरित्र का निखार भी अधिक हुआ है।

४. अग्नि की परीक्षा : चांदी-सी राख

इस खण्ड में कदाचित् सर्वाधिक कथा प्रसग समाहित हैं, इसलिए कथा-प्रवाह बहुत ही मन्दगति से चल पाता है। कुम्भ को अवा मे रखकर पकाया जाता है, बाजार में लाया जाता है, सेठ उसे ठोक-बजाकर खरीदता है और सभी तरह से उसकी रक्षा करता है। इतनी-सी कथा में कवि नई-नई उद्‌भावनाये लाकर खडा करता चला जाता है और एक परत से दूसरी परत निकलती चली जाती है। ये ही परते कथा सूत्र का काम करती हैं, जो कथा सूत्र तो हैं ही पर उनको काव्यतत्व में सजोकर प्रस्तुत करने का भी अथक् प्रयत्न करती है। इसी प्रस्तुति मे दार्शनिक सिद्धात गुड में पगी मूगफल्ली के समान लिपटे चलते रहते हैं।

कुम्भ को अवा में पकाना साधक को यम-नियमो की परीक्षा से गुजरना है। परीक्षा परीक्षा ही होती है। उसके समक्ष यम भी घुटने टेक देता है, असयमी की तो बात ही क्या ? कुम्भ समूह को बीच में रखकर चारों ओर बबूल, नीम, देवदारू, इमली आदि की लकडिया जमा दी जाती हैं, जिससे आग जल्दी पकड ले। तब सभी लकडियो की ओर से बबूल अपनी अन्तर्वेदना कुम्भकार के सामने व्यक्त करता है कि हम प्रकृति से कडे हैं, पाप से जकडे है, अपराधियो की पिटाई के लिये, इसीलिए हमें काट-पीटकर छडी बनाई जाती है। यह गणतन्त्र नही, शुद्ध धनतन्त्र या मनमाना तन्त्र है, एक निरपराध कुम्भ की हत्या के लिये हमें निमित्त बनाया जा रहा है। निर्बलो को सताना कहाँ तक ठीक है। कवि की दृष्टि देखिये यहाँ -

आशातीत विलम्ब के कारण
अन्याय न्याय-सा नहीं,
न्याय अन्याय-सा लगता ही है।
और यहीं हुआ, इस युग के साथ।
निर्बल को सताने से नहीं

बल-संबल दे बचाने से ही
बलवानों का बल सार्थक होता है ।(पृष्ठ २७२)

कुम्भ शिल्पी इस प्रश्न का बडी शान्ति से उत्तर देता है कि कुम्भ के जीवन को ऊपर उठाने में तुम्हें ही निमित्त बनना है। यह पुण्यकार्य है, अत सहयोग प्रार्थित है । बबूल सहयोग देना स्वीकार कर लेता है। कुम्भकार णमोकार मन्त्रोच्चारणपूर्वक अग्नि लगाता है लकड़ियों में, पर वह बार-बार बुझ जाती है। फिर वह कहती है कुम्भकार से कि सभी परीक्षा से गुजरते हैं । तब मेरी परीक्षा कौन लेगा ? मैं तो "सदाशय और सदाचार के साँचे में ढले जीवन को ही अपनी सही कसौटी समझती हूँ"। इस कथन पर कुम्भ धर्म और अधर्म की सुदर परिभाषा करते हुये कहता है कि शिष्टों पर अनुग्रह करना, सहज प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करना धर्म है और इसके विपरीत होना अधर्म है । इसीलिए मेरे दोषों को जलाकर मुझे निर्दोष बना देना तुम्हारा धर्म है। यही सतो का कार्य है। मेरी शक्ति के उद्घाटन में तुम्हारा सहयोग अनिवार्य है -

मेरे दोषों को जलाना ही
मुझे जिलाना है
स्व-पर दोषों को जलाना
परम धर्म माना है सन्तों ने ।
दोष अजीब हैं
नैमित्तिक हैं,
बाहर से आगत हैं कथचित्,
गुण जीवगत हैं,
गुण का स्वागत है ।
तुम्हें परमार्थ मिलेगा इस कार्य से,
इस जीवन को अर्थ मिलेगा तुमसे
मुझमें जलधारण करने की शक्ति है
जो तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है,
उसकी पूरी अभिव्यक्ति में
तुम्हारा सहयोग अनिवार्य है । (पृष्ठ २७७)

कुम्भ का आशय जानकर अग्नि प्रसन्न हुई । कुम्भकार की भी निराशा आशा में बदल गई। देखतेही देखते आग ने अवा को अपनी चपेट में ले लिया अवा से अपार धूमराशि उठ खडी हुई, अधेरा-सा छा गया। कवि यहा इस धूम की अनेक कल्पनायें करता हुआ साधना की बात करता है और कहता है कि कुम्भ

के अदर-बाहर धुएँ से ऐसा लगता है कि कुम्भ ने कुम्भक प्राणायाम किया हो जो ध्यान की सिद्धि में साधकतम है, नीरोग योग- तरु का मूल है। कवि स्वय साधक है, इसलिए उसकी कल्पना भी उसी के इर्द-गिर्द घूमेगी ही।

धीरे-धीरे धूम शान्त होने लगा, अग्नि का स्पर्श पाकर कुम्भ की काया में अभूतपूर्व परिवर्तन आया। मानवीयकरण के माध्यम से कवि ने कुम्भ को अग्नि और धूम का रसास्वादन कराया और चारों ओर उसे मात्र अग्नि ही अग्नि दिखाई दी। लकडियों ने, लगा, जैसे अग्नि को आत्मसात कर लिया हो या अग्नि में स्वय आत्मसात हो गई हो। कवि यहाँ दर्शन प्रस्तुत करता है —

प्रतिवस्तु जिन भावों को जन्म देती है
उन्हीं भावों से मिटती भी वह,
वहीं समाहित होती है।
यह भावों का मिलन-मिटन
सहज स्वाश्रित है
और अनादि-अनिधन------- । (पृष्ठ २८२)

अग्नि अपनी जलन स्वभाव-क्रिया पर क्षमायाचना करती है कुम्भ से और कुम्भ फिर सोत्साह कह उठता है "मनवाछित फल मिलना ही उद्यम की सीमा मानी जाती है। इसलिए बस मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए, मात्र चाहिए अपूर्व शक्ति समता पाने की। इसलिए यह पथिक कभी भी पथ पर विश्राम करना नही जानता, वह तो अब कर्तव्य मे पूरी तरह डूब गया है और रूप-गध-सग-जग आदि से दूर रहकर ध्यान-दाह में पचना चाहता है।

कुम्भ की तन्मयता को सुनकर अग्नि बीच में ही बोल पडती है - ध्यान की बात करना और ध्यान से बात करना, दोनो में बहुत अतर है। ध्यान के केन्द्र खोलना और ध्यान में केंद्रित हो जाना एक नहीं है। उसी तरह जिसतरह मद्यपान करनेवाला भी विकल्पों से मुक्त हो जाता है और आत्मध्यान करनेवाला भी विकल्पो से मुक्त हो जाता है, पर दोनो की स्थिति मे बहुत अतर है। एक शव के समान पडा रहता है तो दूसरा शिव के समान खरा उतरा है। कुम्भ के प्रश्न पर फिर अग्नि के दर्शन और अध्यात्म का भी मार्मिक अतर बताया। (पृष्ठ २८३-२९०)।

अग्नि और कुम्भ के सवाद की पृष्ठभूमि से एक ध्वनि सुनाई पडती है कि रे पथिक ! यह एक नदी का प्रवाह है। जीव-अजीव का यह जीवन इसी में बहता जा रहा है, कोई भी वस्तु नितान्त स्थिर नहीं है। सत्ता का यही रहस्य है। यह ध्वनि धरती की माँ की थी जिसे कुम्भ सुन रहा था और याचना कर रहा था अपनी प्यास बुझाने की, क्योंकि -

अपनी प्यास बुझाये बिना,
औरों को जल पिलाने का संकल्प
मात्र कल्पना है,
मात्र जल्पना है। (पृष्ठ २९३)

कुम्भ की क्षुधा-तृषा शान्त करने का प्रयत्न करने के पूर्व ही कुम्भकार की निद्रा टूट जाती है। उसे ध्यान है, कि अवा पक गया है। कुम्भकार यह स्वप्न देखकर घबड़ा-सा गया। यह देख अवा ने कहा - स्वप्न प्राय निष्फल होते हैं। इन पर अधिक विश्वास हानिकारक है। स्वप्न शब्द भी यही सूचित करता है - स्व +प् +न अर्थात जो निज भाव का रक्षण न कर सके, वह औरों को क्या सहयोग देगा ? (पृष्ठ २९४-२९६)

कुभकार ने अवा से यह सुनकर उसका स्वागत किया और फावड़ा से उस रेतीली राख को हटा दिया। ज्यों-ज्यो राख हटती जाती है त्यों-त्यों कुंभ का रूप उद्घाटित होता जाता है। वह कुंभ काल के गाल से बचकर आया है अग्नि परीक्षा देकर। ऐसा लगा जैसे भीतरी दोष समूह सब जल-जलकर बाहर आ गये हों। और जली हुई काया की ओर कुम्भ का उपयोग कहाँ ? इधर कुम्भकार ने एक-एक कर सावधानता पूर्वक कुम्भों को धरती पर रखना शुरु कर दिया। माटी आखिर धरती की थी, है और रहेगी। कुभ के अग-अग से सगीत की तरग निकलने लगी। उसके मन मे शुभ भाव उमडने लगा और सोचने लगा अपने उत्तम भविष्य की ओर, जहाँ अब कुछ भी दुर्लभ नही है। वह मात्र कहने लगा - भगवन् ! मैं पूर्णत पाप प्रपच से अब मुक्त हो जाऊ, निस्सग हो जाऊ, दर्पण के समान दर्प से दूर और पादप के समान विनीत हो जाऊँ, प्रभाकर समान परोपकारी, निद्राजयी, इन्द्रियविजयी, जलाशय के समान सदाशयी, मिताहारी, हितमितभाषी बन जाऊ। वैसा बनूं -

मानापमान समान जिन्हें
योग में निश्चल मेरु-सम,
उपयोग में निश्छल धेनु-समान,
लोकेषणा से परे हों
मात्र शुद्धतत्त्व की
गवेषणा से परे हों,
छिद्रान्वेषी नहीं
गुण-ग्राही हों,
प्रतिकूल शत्रुओं पर
कभी बरसते नहीं,

अनुकूल मित्रों पर
कभी हरसते नहीं,
और
ख्याति कीर्ति-लाभ पर
कभी तरसते नहीं। (पृष्ठ ३००-३०१)

इस भावनापूर्वक कुम्भ अब मंगलकलश बनने की ओर आगे-आगे बढा। यहाँ कवि उसे खरीदने एक नगर सेठ को प्रस्तुत करता है, जो उसे आहारदान के समय कलश के रूप में उपयोग करना चाहता है। कुम्भकार के पास पहुँचा नगर सेठ का सेवक कुम्भ को बार-बार हाथ में लेकर ककर से उसे बजा-बजा कर परखने लगा। कुम्भ ने इस पर विस्मय के स्वर में कहा - अग्नि-परीक्षा के बाद भी क्या अभी कोई परीक्षा शेष रह गई है? करो परीक्षा, पर की परख। स्वय अपनी भी तो परीक्षा कर लो। सेवक ने उत्तर दिया - तुम्हें निमित्त बनाकर अग्नि की अग्नि-परीक्षा ले रहा हूँ। यह कहकर सात बार उसे बजाया, जिसमें से कवि ने यह अर्थ निकाला कि दु ख आत्मा का स्वभाव-धर्म नही हो सकता। वह मात्र विभाव परिणमन है। नैमित्तिक परिणाम कथचित् पराये हैं। यह दर्शन और उद्भावना देखिये -

सा रे ग म ----- यानी
सभी प्रकार के दु ख
प-ध यानी । पद-स्वभाव
और
नि यानी नहीं,
दु.ख आत्मा का स्वभाव धर्म नहीं हो सकता,
मोह कर्म से प्रभावित आत्मा का
विभाव परिणमन मात्र है वह!
नैमित्तिक परिणाम कथंचित् पराये हैं।
इन सप्त स्वरो का भाव समझना ही
सही सगीत में खोना है
सही सगी को पाना है। (पृष्ठ ३०५)

यह शिल्पी का शिल्प-चातुर्य है कि उसने घडे पर सौन्दर्य लाने के लिए काला वर्ण पोत दिया है, उसी तरह जिस तरह वाद्यकला-कुशल शिल्पी मृदग-मुख पर स्याही लगा देता है। इससे प्रकृति और पुरुष के बीच भेदक रेखा स्पष्ट हो जाती है। सेठ के सेवक ने कुम्भ के सुंदर रूप को देखकर कीमत देनी चाहिए, पर

शिल्पी ने उसे स्वीकार नहीं किया। कुम्भकार से घड़ा लेकर वह सोल्लास सेठ के घर आता है और सेठ कुम्भ के चारों ओर स्वयं का प्रतीक स्वस्तिक अंकित करता है, और उसकी चारों पांखुरियों में चार बिन्दियाँ लगा देता है, जो ससार की चार गतियों की सूचक हैं। उसके ऊपर चन्द्र-बिन्दु सहित ओंकार लिखता है जिस पर योगी अपना उपयोग स्थिर करता है। इसी तरह कुभ के कठ पर पतली दो हल्दी की रेखायें, उसके मुख पर चार-पाँच पान खाने के तथा सभी के बीच श्रीफल रखा जाता है। कठोर श्रीफल और मृदु पान पत्र के बीच सवाद होता है। श्रीफल को जटाहीन करके मात्र उसपर एक चोटी बची रहने देते हैं, जिसपर शुद्ध स्फटिक मणि की माला डालकर मागलिक कलश को सजा दिया जाता है, चन्दन की चौकी पर रखकर (पृष्ठ ३०६-३१२)।

इसके बाद प्रतिदिन की भांति सेठ अष्टमागलिक द्रव्यों से वीतराग भगवान की पूजा करता है और आगन मे चौक पूरकर अतिथि के आहार को निर्विघ्न कराने का दृढसकल्प करता है। कवि यहाँ दिगबर साधु की आहार प्रक्रिया का सविधि विस्तृत वर्णन (पृष्ठ ३१३-३४५) करता है, बड़े ही आकर्षक ढग से। नगर का हर मार्ग सजाया गया है। हर दाता सपत्नीक अपने गृह-द्वार पर खडा है। कोई रजतकलश, कोई ताम्रकलश, कोई पीतलकलश, कोई आम्रफल, सीताफल, जामफल या रामफल ले खडा है, कोई युगल करों को ही कलश बनाकर भावना कर रहा है अतिथि मुनि को आहार देने की। अतिथि के दर्शन होते ही जय जयकार की ध्वनि प्रारभ हो जाती है। जैसे वह निकलता जाता है, पीछे छूटे धार्मिक गृहस्थो के मुख म्लान-से होने लगते हैं। पात्र आये प्रागण मे, और चला जाये वह भोजन किये बिना ही, यह बडा कष्टकारी होता है सद्गृहस्थ को। पात्र से वे अनुनय विनयपूर्वक प्रार्थना कर उठते हैं। विवेकी होकर भी कहते हैं कि उन्हें आहारदान का सौभाग्य मिले। पात्र ईर्यासमिति पूर्वक आगे बढ जाता है। दाता के मुख से तब निराशा भरी पक्तियाँ निकल पडती हैं -

दांत मिले तो चने नहीं
चने मिले तो दात नहीं
और दोनों मिले तो --
पचाने को आत नहीं। (पृष्ठ ३१८)

कुम्भ ने सेठ को सचेत किया कि पात्र से प्रार्थना हो, पर उस प्रार्थना में न अतिरेक हो, न उदासता, न परिहास हो न उतावलापन। एक सहजता, विनम्रता, दासता, उत्साह और उमग चेहरे पर अभिव्यक्त होती रहे। इसी संदर्भ में कुम्भ ने एक लम्बी कविता सुना दी, जिसमें दाता और पात्र का सबंध, आचार सहिता,

कर्तव्य तथा बादल दल की विमलता के रहस्य को प्रदत्त काव्यात्मकता प्रतिबिम्बित होती है । कुछ पक्तियां उद्धृत है -

पात्र की दीनता
निरभिमान दाता मे
मान का अविर्भाव कराती हैं
पाप की पालडी फिर
भारी पडती है वह,
और
स्वतत्र-स्वाभिमान पात्र मे
परतत्रता आ ही जाती है
कर्तव्य की धरती धीमी-धीमी
नीचे खिसकती है,
तब क्या होगा !
दाता और पात्र
दोनों लटकते अधर मे -----। (पृष्ठ ३२०)

कविता की इन पक्तियों ने सेठ के मन को सयत कर दिया । सयोग से पात्र की आहार विधि सेठ के घर बन जाती है और वह नवधा भक्तिपूर्वक पडगाहकर प्रदक्षिणा करता है, मन वचन काय शुद्धिपूर्वक भोजनशाला में प्रवेश करने का आमन्त्रण देता है, अजुलि मुद्रा छोडकर भोजन ग्रहण करने की अभ्यर्थना करता है पादपूजनपूर्वक । श्रमण भी कायोत्सर्ग पूर्णकर दोनो ऐडियों और पजो के बीच क्रमश चार और ग्यारह अगुल का अतर दे खडा हो जाता है आहार के लिए। स्थिति-भोजन और एक-भुक्ति उनका नियम रहता है । पाणिपात्र में भोजन होता है । इसी संदर्भ में कवि ने श्रमण के स्वरूप और क्षुधा की दार्शनिक मीमांसा प्रस्तुत की है । उनकी दृष्टि में भिक्षावृत्ति मन को मान-शिखर से नीचे उतारने वाली होती है और समता साधु का श्रृगार माना जाता है । (पृष्ठ ३२१-३३०)

आहारदान प्रारभ होता है प्रासुक जलदान से कर-पात्र में । फिर इक्षुरस या जो भी बिना किसी सकेत के अनुकूल आता गया रूखा-सूखा । बस, उदर-पूर्ति कर लेता है, बिना रस लिये । इसे गोचरी वृत्ति कहा जाता है । भूखी गाय के सन्मुख जो भी घास-फूस चारा डाला जाता है वह डालने वाले के आभूषणों आदि पर ध्यान दिये बिना ही शान्ति पूर्वक खा जाती है । दूसरी वृत्ति अग्निशामक है, जिसमें साधु सरस-नीरस कैसा भी भोजनकर क्षुधाशमन कर लेता है । तीसरी वृत्ति भ्रामरी में साधु दाता को बिना पीडा पहुंचाये आहार ग्रहण करता है ।

सेठ के युगल करों में कुम्भ वैसे ही सुशोभित हो रहा है जैसे कनकाभरण में जड़ा नीलम। इस प्रसग को पाकर कवि कर और कुम्भ के बीच संवाद उपस्थित करता है और फिर वहीं पाणिपात्र को काव्यात्मक ढंग से परमोत्तम पात्र सिद्ध करता है सत्पात्र की मीमांसा के साथ (पृष्ठ ३३१-३३६)।

इधर अबाधित आहारदान चल रहा है। कवि यहाँ सेठ के उत्तरीय आभरण आदि का काव्यात्मक चित्रण करता है और कल्पनाओं में आध्यात्मिक वातावरण को उपस्थित करता है। सेठ के दाये हाथ की मध्यमा में माणिक्यमणि से मण्डित स्वर्णमुद्रा है जिसकी रक्तिम आभा मुनि के अरुणिम-अधरों से हारकर उसके पदतलो की पूजा करती है और बायें हाथ की तर्जनी में मुक्ता जड़ित रजतमुद्रा तथा कानो में स्वर्णिम कुण्डल कपोल-कान्ति को द्विगुणित कर देते हैं। सेठ के ललाट पर बधन से निकली लट का भी वर्णन यहाँ आकर्षक ढंग से हुआ है।

सेठ ने पूरी विधि सहित आहारदान दिया। मुनि के आहार की छोटी-सी छोटी बात को कवि ने बहुत ही सुन्दर ढग से चित्रित किया है। आहार के बाद पीछी का देना, कमण्डलु में प्रासुक जल भरना, दर्शकों की भीड, मुनि का चरण-स्पर्श, जयघोष और फिर उपदेश। सेठ के कहने पर दिये उपदेश में दर्शन देखिये -

बाहर यह
जो कुछ भी दिख रहा है
सो--मैं--नही--हूँ
और वह
मेरा भी नहीं है।
ये आँखें
मुझे देख नही सकती
मुझमे
देखने की शक्ति है
उसी का मैं सृष्टा
था--हूँ--रहूँगा
सभी का दृष्टा
था--हूँ--रहूँगा।
बाहर यह
जो कुछ भी दिख रहा है
सो--मैं--नहीं--हूँ (पृष्ठ ३४५)

आहार ग्रहण के बाद सेठ नगर के समीपवर्ती उपवन नसियाजी में श्रमण को वापिस पहुँचाने साथ चला गया। उसका मन सवेग से इतना भर गया कि वह घर लौटना नही चाहता पर उसका कर्म बाधक बन रहा है। इसलिए पूछता है गुरु से कि वह आशावादी पुरुषार्थी बने या नियति पर ही सब कुछ छोड दे। गुरु श्रमण ने सयत स्वर में उसे नियति और पुरुषार्थ का दर्शन समझाया कि **अपने मे लीन होना नियति है और सभी पदार्थों को भूल जाना पुरुषार्थ है।** यह परिभाषा बिलकुल नई है, जो शब्द-साधनाजन्य है। देखिये, अक्षर-अक्षर से कैसे अर्थ निकाला है -

"नि" यानी निज मे ही
"यति" यानी यतन-स्थिरता है
अपने मे लीन होना ही नियति है
निश्चय से यही यति है,
और
"पुरुष" यानी आत्मा-परमात्मा है
"अर्थ" यानी प्राप्तव्य प्रयोजन है
आत्मा को छोडकर
सब पदार्थों को विस्मृतकरना ही
सही पुरुषार्थ है। (पृष्ठ ३४९)

सेठ अन्यमनस्क-सा होकर घर वापिस आया कान्तिहीन बादलो की भाँति टिमटिमाते दीपक समान मन्थर गति से चलता हुआ सवेदनशून्य होकर। घर की ओर जा रहे सेठ का मानसिक चित्रण उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकालकारो के माध्यम से कवि ने प्रस्तुतकर काव्यात्मक शक्ति का प्रदर्शन किया है। जैसे सिसकते शिशु की तरह, वन-जीवन-वदन-सम, सरकती-पतली-सरिता-सा, प्रकाश पुञ्ज प्रभाकर-सम, शान्तरस से विरहित कविता-सम, पछी की चहक से वचित प्रभातसम, शीतल चन्द्रिका से रहित रात-सम, अबला के भाल-सम, पाषाण-खण्ड की भाति आदि (पृष्ठ ३५१-३५२)।

उदासी से घिरे सेठ को देखकर कुम्भ ने सन्त समागम की सार्थकता बताई कि इससे व्यक्ति सतोषी, सयत, नीरोग हो जाता है और वैराग्य की दशा में स्वागत-आभार भी भार लगने लगता है। कुम्भ की भाव-भाषा सुनकर सेठ को ऐसा लगा जैसे वह साधुता का साक्षात् आस्वादन कर रहा हो। उसका मन वैराग्य से आप्लावित हो गया, रजत आसन छोड़कर काष्ठासन पर बैठ गया, सारी भोगोपभोग की सामग्री से मुँह मोड लिया। फलत स्वर्णकलश का आक्रोश और कुठन उसे

सहना पड़ा । माटी ने उसका सटीक और सामयिक उत्तर दिया अध्यात्मरस में पगा हुआ और आलोचना की स्वर्णकलश की यह कहकर कि तुम अशान्ति के दूत हो ।

परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम,
पूंजीवाद केअभेद्य
दुर्गम किला हो तुम
और
अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला । (पृष्ठ ३६६)

माटी कुम्भ में भरे पायस और स्वर्णकलश के बीच हुए सवाद ने अनेक तथ्य उजागर किये कि स्वर्णकशल (धन) का पैर पाप से सना रहता है, ईर्ष्या से जला रहता है, वह माटी का ही उच्छिष्ट रूप है पर माटी स्वय दया से भीगती है और औरों को भी भिगोती है, उसमें अकुरित बीज लहलहाता है, समता का पाठ पढाता है । चिन्तक कवि ने इन दोनों को दीपक और मशाल के उदाहरण से भी अन्तरित किया है । दीपक सयमशील, मितव्ययी, नियमित, स्व-पर प्रकाशक और समग्रता से साक्षात्कार करनेवाला होता है, पर मशाल इसके बिलकुल विपरीत होती है दुराशयी और भयभीतकारी ।

हे स्वर्णकलश !
तुम तो हो मशाल के समान,
कलुशित आशय वाली
और
माटी का कुम्भ है
पथ-प्रदर्शक दीप-समान
तामस-नाशी
साहस सहस-स्वभावी । (पृष्ठ ३७१)

माटी की इन विशेषताओ के कारण ही आचार्यश्री ने उसे अपने काव्य में रूपकतत्वो में शिरस्थ रखा । तभी तो पर-निन्दा में निमित्त बनाये जाने पर स्वय को धिक्कारा और प्रभु से समभावी और परा-भव के अनुभव होने की प्रार्थना की । झारी की आलोचना के उत्तर में भी माटी ने ज्ञान और ज्ञानफल को दार्शनिक आवरण दिया -

"स्व" को स्व के रूप में
"पर" को पर के रूप में
जानना ही सही ज्ञान है,

और
"स्व" में रमण करना
सही ज्ञान का फल । (पृष्ठ ३७५)

झारी की तीखी आलोचना करते हुए माटी ने उसकी भोगाभिलाषा को असीम और समता को अछूत बताया तथा साथ ही स्वय की किसी भी वस्तु से अप्रभावित माना, जो समता का सही लक्षण है -

किसी रग-रोगन का मुझ पर प्रभाव नहीं
सदा-सर्वथा एक-सी दशा है मेरी
इसी का नाम तो समता है
इसी समता की सिद्धि के लिए
ऋषि महर्षि सन्त-साधुजन
माटी की शरण लेते हैं
यानी भू-शयन की साधना कर्ज है
और
समता की सखि, मुक्ति वह
सुरों-असुरो जलचरों
और नभश्चरों को नही
समता सेवी भूचरों को वरती है । (पृष्ठ ३७८)

कमरे मे सीसम के श्यामल आसन पर चांदी की चमकती तश्तरी मे पडा केसरी हलुवा श्रमण के लिए उपयोगी नही है । इसलिए उसका, उसमे पडी चम्मच का, घृत के उपेक्षित भरे मनोविज्ञान को दार्शनिकता की पुट देकर कवि ने प्रस्तुत किया है कि ज्ञान मे ही ज्ञान रहता है और ज्ञेय में ही ज्ञेय । फिर भी ज्ञान का जानना ही नही, ज्ञेयाकार होना भी स्वभाव है । इसलिए यदि श्रमण सत इस ओर देख भी लेते तो क्या हानि थी ?

इस तरह कुम्भ और अन्य पात्रों में वादविवाद होता रहा और प्राय सभी पात्रो ने माटी को उपहास का पात्र बनाया तथा सेठ और श्रमण की अविनय की । कवि ने इसे बहुमत का परिणाम माना और उसे उपहासास्पद कहा, इस कारण कि जहाँ पात्र भी अपात्र की कोटि में आ जाता है ।

कवि को धनिको से कोई स्नेह नही है । इसलिए उन्होंने अनक स्थानों पर धन और धनिको की आलोचना की है । पर सेठ के चरित्र को ऊपर उठाकर यह भी कहना चाहा है कि सभी धनिक एक जैसे नही रहत । परिवार के सभी

सदस्य तो सो जाते हैं पर ज्वर से दग्ध होने के कारण सेठ की आँखें निद्रा से बहुत दूर हैं। इसी प्रसंग में कवि ने मच्छर व मत्कुण को लाकर धनिकों की और भी आलोचना की है। उदाहरणार्थ मच्छर धनिकों पर कटाक्ष करता है -

अरे, धनिकों का धर्म दमदार होता है,
उसकी कृपा कृपणता पर होती है,
इनके मिलन से कुछ मिलता नहीं,
काकतालीय-न्याय से
कुछ मिल भी जाये
वह मिलन लवण-मिश्रित होता है
पल में प्यास दुगुनी हो उठती है। (पृष्ठ ३८५)

मत्कुण भी मानव को कृपण और परिग्रही कहता है। वह तथ्यात्मक संकेत करता है कि मानव के सिवा और कोई भी प्राणी परिग्रह का संग्रह नहीं करता। वही पाणिग्रहण को प्राणग्रहण का निष्ठुर रूप दे बैठता है। वह स्वयं को नियन्त्रित, निश्छली, पुरुषार्थी मानता है। मत्कुण का माध्यस्थ भाव सुनकर सेठ को प्रसन्नता हुई और उसे जीवन में उदारता, विशालता व निष्कपटता लाने की उससे शिक्षा भी मिली (पृष्ठ ३८८)।

इधर सेठ का ज्वर और भी बढ़ने लगा। वैद्यो, डॉक्टरो, तन्त्रवेत्ताओं को बुलाया गया। रोगी को देखकर सभी इस बात से एकमत हुये कि सेठ को कोई विशेष रोग नहीं है। बस, उन्हें तन की भी कुछ चिंता करनी चाहिये। आचार्यश्री इसी संदर्भ में अपनी बात कहते हैं कि प्रकृति से विपरीत चलना साधना की कोई रीति नही कही जा सकती है और बिना प्रीति के विरति के पालने मे साधना की जीत भी नहीं मानी जा सकती। पुरुष भोक्ता है और प्रकृति भोग्या। प्रकृति सदा लाड-प्यार बिखेरती रहती है। साधना की शिखा तक वह श्रमी आश्रयार्थी को आश्रय देती रहती है। नारी के प्रति यह कवि की सम्यक् दृष्टि पुनः दृष्टव्य है। उसकी दृष्टि में नारी के बिना पुरुष का जीवन समाप्त-प्राय हो जाता है।

यह कहना भी अनुपयुक्त नहीं है कि
पुरुष में जो कुछ भी
क्रियायें-प्रतिक्रियायें होती है,
चलन-स्फुरण-स्पन्दन,
उनका सबका अभिव्यक्तिकरण,
पुरुष के जीवन का ज्ञापन
प्रकृति यानी नारी

नाड़ी के विलय में
पुरुष का जीवन ही समाप्त------ ।   (पृष्ठ ३९२)

चिकित्सकों की दृष्टि में सेठजी को शरीर की शक्ति के अनुसार तप करना चाहिए, यह सकेत था। इसी सकेत पर आचार्यश्री ने सम्यक् तप का आख्यान किया है जिसमें मात्र दमन की प्रक्रिया को निष्फलवती कहा है -

थोडी-सी
तन की भी चिंता होनी चाहिये,
तन के अनुरूप वेतन अनिवार्य है,
मन के अनुरूप विश्राम भी ।
मात्र दमन की प्रकिया से
कोई भी क्रिया
फलवती नहीं होती है
केवल चेतन-चेतन की रहन से,
चिन्तन-मनन से
कुछ नहीं मिलता ।   (पृष्ठ ३९१)

सेठ का परिवार भी परिचर्या मे सहभागी बनता है । पारिवारिक सदस्यों के कथनोपकथन में दर्शन और अध्यात्म झलकता है। सेठजी के पारिवारिक सस्कारो को द्योतित करता है । वे कला को सुख-शान्ति सम्पन्नता लाने में एक परम साधन मानते हैं ।

उसी बीच कुम्भ बोल पडता है कि जहाँ तक पथ्य की बात है, उसमें सभी चिकित्सक एकमत है कि निर्दिष्ट पथ्य का सहज पालन किया जाय तो औषधि की कोई आवश्यकता नही रह जाती । वह औषधि का आधार लेकर आध्यात्मिक दिशा में चिन्तन को मोड देता है और कहता है कि इससे तन विषयक रोग ही क्या, चिरन्तन चेतनगत रोग भी नव-दो-ग्यारह हो जाते हैं, यदि श, ष बीजाक्षरों पर ध्यान कोई दे ले । श का अर्थ है- कषायों का शमन करनेवाला, स का अर्थ है, समष्टि-समता का अजस्र स्रोत और ष जो प के पेट को फाडकर बना है, पुण्यापुण्य के पेट को फाडता है अर्थात् कर्मातीत । ये तीनों अक्षर जीव और अजीव की प्रकृति का दर्शन करा देते है और साधनारत होने का वातावरण बना देते हैं । (पृष्ठ ३९२-३९८)।

कथा मे फिर कुछ मोड आता है । माटी भू का मना है अर्थात् भू धातू से मिट्टी का अमिट सबध है । इसलिए "माटी, पानी और हवा, सौ रोगो की एक दवा" बिलकुल सही है । प्राकृतिक चिकित्सा सरलतम और अल्प अर्थ साध्य है । यह

सोचकर शीघ्र ही काली मृदु माटी में शीतल जल मिलाकर एक लौंदा बनाकर सेठजी के शिर पर रख दिया गया, जिससे उसकी ज्वर-बाधा कम हो गई।

सेठ ज्वर ग्रस्त होनेपर भी णमोकारमन्त्र और ओंकार का उच्चारण करता रहा। इसी संदर्भ में कवि ने विपश्यना, मध्यमा, वैखरी आदि का सुन्दर चित्रण किया है। ध्यान विद्या की दृष्टि से यह चित्रण महत्त्वपूर्ण है।

माटी का उपयोग हृदयस्थल को छोडकर किसी भी भाग में किया जा सकता है। चाहे घाव हो या भीतरी-बाहरी चोट, कर्णपीडा हो या शिर-शूल, नासूर हो या अस्थिभग, सभी रोगों में माटी कार्यकारी होती है। आँख और नाभि के निचले भाग पर माटी की पट्टी रखने से ज्वर और पेट के विकार शान्त हो जाते हैं। आचार्यश्री को यह अहिंसापरक चिकित्सा पद्धति सर्वाधिक उपयुक्त लगती है। उसमें घी निकला हुआ मट्ठा और मट्ठे में मिला कर्नाटकी ज्वार का रवादार दलिया बड़ा लाभकारी होता है। (पृष्ठ ४०७) लगता है, आचार्य को पूर्वोक्त महेरी (पृष्ठ ३६४) और मट्ठा के साथ कर्नाटकी दलिया कदाचित् अधिक पसद है। (पृष्ठ४०६-७)

अल्पव्यय वाली इस अहिंसा-परक चिकित्सा पद्धति को देखकर स्वर्णकलश (धन) एक बार पुन विचलित हो जाता है, आत्मा की आस्था से च्युत हो जाता है और परेशान हो जाता है यह देखकर कि पतितों को पावन समझ आज उन्हे सम्मान के साथ सिहासन पर बिठाया जा रहा है और पाप को खण्डित करने वालों को पाखण्डी-छली कहा जा रहा है (पृष्ठ ४१०)।इसे वह कलिकाल का प्रभाव ही मानता है जहा मधुमेह, खासी, श्वास, क्षय रोगादि को दूर करने वाले पुखराज आदि मणियो के स्थान पर काच के टुकडों को महत्त्व दिया जाता है, चादी-सोने के बर्तनो की जगह इस्पात का प्रयोग लोकप्रिय है, चन्दन और घृत की जगह माटी का प्रयोग किया जाता है। इत्यादि प्रकार से स्वर्णकलश ने मूक माटी (कुम्भकलश) को भला-बुरा कहा पर माटी पर उसका कोई असर नही हुआ, क्षमा का प्रतीक है वह जो।क्षमा के सामने क्रोध की क्षमता है ही क्या ?

क्रोध की क्षमता है कितनी !
क्षमा के सामने कब तक टिकेगी वह ?
जिसे सर्प काटता है
वह मर भी सकता है
और नहीं भी,
किन्तु
काटने के बाद सर्प वह
मूर्छित अवश्य होता है। (पृष्ठ ४१७)

माटी ने "काल-सी" कहकर स्वर्णकलश का अपमान किया, जिसे सुनकर उसमें शोध-प्रतिशोध के भाव जागे । फलत. उसने आतंकवाद को आमन्त्रित किया । कवि की दृष्टि में आतंकवाद का जन्म अतिपोषण या अतिशोषण का परिणाम है । समय पाकर उसमें भी असतुष्ट दल का निर्माण होता है, जो आतकवाद के विघटन का कारण बनता है । आचार्यश्री आतंकवाद को उसकी दूरदर्शिता का अभाव मानते हैं ।

आतकवाद में असंतुष्ट दल का नेतृत्व झारी कर रही है, जिसने उसके निर्णय को नकारा है और उसे अन्याय-असभ्यता कहा । साथ ही यह भी निवेदन किया कि अन्याय का ताण्डव-नृत्य मत करो । जो समता की ओर बढ़ रहा है, सोने की गिट्टी और माटी को एक मान रहा है, मानातीत है, उसके चरणों का नमन करो । दुराग्रह छोड़ो, आतक को जन्म मत दो, पर झारी के निवेदन का कोई असर स्वर्णकलश पर नही पड़ा । बस, शीतलजल की चार-पॉच बूँदे गिरी-सी लगी उस पर । बिना कुछ विचार किये आतकवाद ने सर्वप्रथम चक्रवात चलाने का निर्देश दिया । झारी ने इसका सकेत माटी के कुम्भ को दे ही दिया था । तदनुसार माटी के कुभ के निर्देशन में सेठ सपरिवार अपने घर से बाहर चुपचाप वन की ओर निकल पड़ा । जहां प्रकृति ने उनका भरपूर स्वागत किया । सिह दल से त्रस्त गज-दल ने अपने गजमुक्ता छोड़कर उनका अभिवादन किया । इसी बीच हथियारो से लैश आतंकवादी आक्रमण करने के लिए आते हुए दिखाई दिये । स्थिति को देखकर गज-दल परिवार को घेरकर खड़ा हो गया और भयकर गर्जना की, जिसे सुनकर पशु, पक्षी दहल उठे । उन्होने पाया कि गजदल एक निर्दोष और पुण्यशाली परिवार को बचाने का प्रयत्न कर रहा है । सभी ने सहयोग दिया उसके इस कार्य मे । सर्पों के प्रधान का निर्देश पाकर किसी ने भी परिवार के सदस्य को काटा नहीं, बल्कि आतकवादियो को डरा-धमका दिया । कवि यहाँ कहता है, माना, दण्डों में कठोरतम दण्ड प्राणदण्ड है, प्राणदण्ड से ओरो को तो शिक्षा मिलती है पर दण्डित व्यक्ति के सुधार के सारे मार्ग समाप्त हो जाते है । यह बात सही है, इसीलिए अनेक राष्ट्रो में प्राणदण्ड समाप्त हो रहा है ।

जिसे दण्ड दिया जा रहा है
उसकी उन्नति का अवसर ही समाप्त ।
दण्ड संहिता इसको माने या न माने,
क्रूर अपराधी को
क्रूरता से दण्डित करना भी
एक अपराध है,
न्याय - मार्ग से स्खलित होना है । (पृष्ठ ४३१)

आतंकवाद धीरे-धीरे निष्क्रिय होने लगा। सर्प संप्रदाय ने संहार और हार की बात न कर संघर्ष और उत्कर्ष की बात कही और यह भी कहा कि उनकी जाति ने कभी भी आजतक अकारण किसी पर भी आक्रमण नहीं किया है बल्कि पददलितो को उर से चिपकाया है। इसलिए उन्हें 'उरग' कहा गया है। उन्होंने पदवालों की भी आलोचना की कि वे पदलिप्सा से ही दूसरों को पददलित करते हैं। परन्तु यह बात गजदल के साथ लागू नहीं होती।

आतकवाद ने अभी भी घुटने नहीं टेके। वह प्रच्छन्न रूपसे अपना काम करने लगा। उसके सहयोगी दल के एक सदस्य पवन ने प्रचण्ड हवा चलायी और वर्षा ने मूसलाधार पानी बरसाया, बांस-वृक्ष धराशायी होने लगे, बिजली कौंधने लगी, ओलावृष्टि ने फसल नष्ट कर दी, शीतलहर का प्रकोप बढ गया। इन सारी विपरीत परिस्थितियों में भी गजदल परिवार का पूरा सरक्षण रहा। नदी के कठोर प्रवाह ने परिवार को पीछे लौट जाने को विवश किया परन्तु कुम्भ के आग्रह से उसे अभी भी आतकवाद से सघर्ष करना पडा। न चाहते हुए भी कुम्भ के गले में रस्सी बाधकर और उस रस्सी को अपनी कमर में कसकर परिवार के सभी सदस्य नदी पार करने केलिए नदी में कूद पडे। इस पद्धति ने महायज्ञ का काम किया। यहाँ नदी और वर्षा का मनमोहक काव्यात्मक वर्णन हुआ है।

विकराल नदी को पार करते समय एक विशालकाय हाथी पर सिंह बैठे हुए देखा। सकट में पडे परिवार को इससे साहस बटोरने में मदद मिली। नदी को कुम्भ ने एक बार पुन ललकारा कि धरती पर तुम आश्रित हो और धरती एक तीरथ है शरणस्थल है। शरणागत को मारा नहीं जाता और फिर हम भी अर्थक्रिया के आधार पर धरणी के ही अश हैं। वहीं कृतज्ञता स्वरुप कुम्भ को एक महामत्स्य ने बहुमूल्य मुक्तामणि भेंट कर दिया, जिसके माहात्म्य से उसका धारक कभी भी पानी में डूब नही सकता। **"बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख"** की उक्ति यहा चरितार्थ हो गई। इस मुक्ता से नदी की व्यग्रता समाप्त हुई और कुम्भ ने इसे त्याग-तपस्या का फल माना। (पृष्ठ ४५५)।

नदी से प्रार्थना करता है आंतकवाद सेठ के परिवार को समाप्त करने के लिए, जिसे नदी अस्वीकार कर देती है यह कहकर कि इनसे ही धरती की शोभा है। झल्लाकर आंतकवाद ने पत्थरों की वर्षा प्रारम्भ कर दी, ताकि कुम्भ को फोडा जा सके, परन्तु यह सभव नहीं हो सका। तब आतकवाद ने मत्स्यजाल उन पर फेंकने का प्रयत्न किया, जिसे स्वयं पवन ने असफल कर दिया। फिर भी आंतकवाद का उपद्रव बढ़ता गया। सेठ विवश होकर आत्मसमर्पण करने का विचार करने लगा। पर नदी ने इसे उचित नहीं समझा। वह सोचती है। "सत्य का

आत्मसमर्पण असत्य के सामने किसी भी तरह उचित नहीं कहा जा सकता ---।"

सत्य का आत्मसमर्पण
और वह भी
असत्य के सामने ?
हे भगवन् !
यह कैसा काल आ गया,
क्या असत्य शासक बनेगा अब ?
हाय रे ! जौहरी के हाट मे
आज हीरक-हार की हार।
हाय रे ! काँच की चकाचौंध मे
मरी जा रही --
हीरे की झगझगाहट।
अब
सती अनुचरी हो चलेगी
व्यभिचारिणी के पीछे-पीछे । (पृष्ठ ४७०)

आतकवाद सेठ के परिवार को समाप्त करने का अतिम क्षण तक प्रयास करता रहा, विद्या बल की भी सहायता ली, पर वह सफल नही हो सका और अन्तत अवरुद्ध कठ से कह उठा सेठ से "**क्षमा करो, क्षमा करो, क्षमा के हे अवतार, हमसे बडी भूल हुई, पुनरावृत्ति नहीं होगी, हम पर विश्वास हो** । (पृष्ठ ४७४) सेठ यह सुनकर सान्त्वना देता है उसे और कहता है कि माँ भले ही जब कभी उद्वेलित हो जाये - किन्तु -

किन्तु, आज तक
माँ की गौरव पूर्ण गोद में
गुस्से-का घुस आना
न सुना, न देखा -
जिस गोद मे सुख के क्षण
सहज बीतते हैं शिशु के । (पृष्ठ ४७६)

सेठ के शान्तिपूर्ण और द्वेषहीन वचन सुनकर आतकवाद ने अपने हथियार डाल दिये, घुटने टेक दिये और डूबती हुई नाव से दल कूद पड़ा धार में माँ के अक में नि शक होकर शिशु की भाति। परिवार के प्रत्येक सदस्य ने दल के प्रत्येक सदस्य को आदर के साथ सहारा दिया, नवजीवन-दान दिया। और

इसतरह आतंकवाद का अन्त और अनन्तवाद का श्रीगणेश हो गया। तभी कुम्भ के मुख से मंगलकामना निकल पड़ी -

यहाँ सब का सदा
जीवन बने मंगलमय
छा जावे सुख छाँव,
सब के सब टलें -
अमंगल-भाव,
सब की जीवन लता
हरित भरित विहँसित हो
गुण के फूल विकसित हों
नाश की आशा मिटे
आमूल महक उठे
---बस ! (पृष्ठ ४७८)

इधर कुंभ का स्वागत करने बाल-भानु की भास्वर आभा गुलाबी-साड़ी पहने मदवती अबला-सी स्नान करती लज्जावश सकुचा-सी रही है। तभी कुम्भ ने तट का चुम्बन लिया, जो स्वयं झाग और आभा के मिश्रण के बहाने गुलाब का हार लेकर स्वागत में खड़ा हुआ है। सभी सदस्य तट तक पहुँच गये । सभी ने एक-दूसरे की कटि में बंधी रस्सी को खोला। रस्सी ने सभी से क्षमा-याचना की कि उसके निमित्त सभी को कष्ट हुआ ; और सभी ने उसके प्रति कृतज्ञता व्यक्त की कि उसी का परिणाम है जो सभी के सभी तट के पार हो गये । वस्तुत: उपादान कारण कार्य का जनक है पर निमित्त की कृपा भी अनिवार्य है। वे कहते हैं -

आज हमें /किसकी क्या योग्यता है,
किसका कार्यक्षेत्र,
कहाँ तक है,
सही-सही ज्ञात हुआ।
केवल उपादान कारण ही
कार्य का जनक है -
यह मान्यता दोषपूर्ण लगी,
निमित्त की कृपा भी अनिवार्य है
हां ! हां !
उपादान कारण ही
कार्य में ढलता है

यह अकाट्य नियम है।
किन्तु
उसके ढलने में
निमित्त का सहयोग भी आवश्यक है,
इसे यूँ कहें तो और उत्तम होगा कि
उपादान का कोई यहाँ पर
पर-मित्र है--- तो वह
निश्चय से निमित्त है
जो अपने मित्र का
निरन्तर नियमित रूप से
गन्तव्य तक साथ देता है। (पृष्ठ ४८०-४८१)

एक बार पुन परिवार रस्सी की ओर देखकर कृतज्ञता ज्ञापन करता है और छने जल से कुम्भ को भरकर आगे बढा। कुम्भ ने परिवार सहित शिल्पी कुम्भकार को अभिवादन किया। सभी की स्मृतिया ताजी हो गई हैं। वही पुराना स्थान जहाँ माटी लेने कुम्भकार आया था। पवन का स्पर्श पाकर सरोवर तरगायित हो आया।

धरती माँ कहती है माटी से कि "माँ सत्ता को प्रसन्नता है तुम्हारी उन्नति देखकर। तुमने मेरी आज्ञा का पालन किया और कुम्भकार का ससर्ग किया। सृजनशील जीवन का यह आदिम सर्ग हुआ। अह का उत्सर्ग कर उसे चरणों में तुम्हारा समर्पण, द्वितीय सर्ग हुआ। समर्पण के बाद सोत्साह अग्नि-परीक्षा और उपसर्ग सहन, तृतीय सर्ग हुआ और परीक्षा के बाद ऊर्ध्वगामी ऊर्ध्वमुखी होकर स्वाश्रित निसर्ग किया, यह सृजनशील जीवन का अतिम सर्ग हुआ। तथा तुमने जो स्वय को निसर्ग किया सो सृजनशील जीवन का वर्गातीत अपवर्ग हुआ।"

धरती की यह पुनीत भावना सुनकर कुम्भ सहित सभी ने कुम्भकार की ओर कृतज्ञता भरी दृष्टि से देखा और कुम्भकार ने फिर नम्र होकर कहा -

यह सब
ऋषि सतों की कृपा है,
उनकी ही सेवा में रत
एक जघन्य सेवक हूँ मात्र
और कुछ नहीं। (पृष्ठ ४८४)

थोड़ी ही दूर पर वीतराग साधु दिखाई दिये। सभी ने उन्हें प्रदक्षिणा के साथ प्रणाम किया और उत्तर में उनका अभय भरा हाथ उठा जिसमें भाव भरा है

"शाश्वत सुख का लाभ हो"। इस पर तुरंत आतंकवाद ने कहा– समग्र संसार दुख से भरपूर है, कहीं सुख कहीं नहीं है। परन्तु आपके सुख पर विश्वास हो नहीं रहा। यदि अविनश्वर सुख पाने के बाद आप स्वयं उस सुख को हमें दिखा सकें तो संभव है, हम भी आश्वस्त हो जायें और आप जैसी साधना को कर सकें अन्यथा मन की बात मन में ही रह जायेगी। इसलिए "तुम्हारी भावना पूरी हो" ये वचन दें तो कृपा होगी।

संत साधु ने स्पष्टतः इसे असंभव कहा। उन्होंने कहा कि गुरु का स्पष्ट आदेश है कि दिशाबोध चाहनेवाले को प्रवचन तो देना, पर कभी किसी को भूलकर स्वप्न में भी वचन नहीं देना। दूसरी बात है, बन्धन रूप तन, मन और वचन का आमूल मिट जाना ही मोक्ष है। इसी की शुद्ध दशा में अविनश्वर सुख होता है जिसे प्राप्त होने के बाद संसार में वापिस आना संभव नहीं है उसीतरह जिसतरह घृत का दुग्ध के रूप में लौट आना संभव नहीं होता। इतने पर भी यदि तुम्हें अक्षय सुख के संबंध में विश्वास न हो रहा हो तो फिर तुम क्षेत्र की नहीं, आचरण की दृष्टि से मुझे देख लो कहीं पर भी, तुम्हे उसकी सही-सही पहचान हो जाएगी। तुम्हारे विश्वास को अनुभूति अवश्य मिलेगी, मगर मार्ग में नहीं, मंजिल पर (पृष्ठ ४८८)। यह कहकर संत महामौन में डूब गये और माहौल को अनिमेष निहारती-सी 'मूक माटी' खड़ी रह गई कुछ सोचते-विचारते चिन्तन की गंभीर मुद्रा में।

"मूक माटी" की प्रस्तुत विषय-वस्तु और उसकी अभिव्यञ्जना की स्थिति में सुन्दर तारतम्य दिखाई देता है। विषय बिलकुल नया है और उसकी अभिव्यक्ति भी उतनी ही नयी है। कही भी कृत्रिम सृजनशीलता दिखाई नही देती। आधुनिक कविता में विषयों का आधिक्य और वस्तुगत वैविध्य अधिक है, जिससे उसमें वह गम्भीरता नहीं आ पाती जो 'मूक माटी' जैसे एकनिष्ठ काव्य में सम्भव है। प्रकृति चित्रण में परम्परा के साथ नवीनता का समावेश मिलता है, पर कवियों ने उसका उपयोग अपनी श्रृंगारिक भावनाओं के परिपोषण में ही अधिक किया है, जबकि "मूक माटी" में प्रकृति का प्रयोग पूरे सौन्दर्य-बोध के साथ आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति मे ही किया गया है। रामनरेश त्रिपाठी ने "स्वप्न" काव्य में कश्मीर यात्रा के दौरान देखे गये सौन्दर्य को अंकित किया है, पर "मूक माटी" का कवि "स्वप्न" की कितनी सुन्दर आध्यात्मिक व्याख्या करता है, उसे जरा देखिये —

"स्व" यानी अपना
"प्" यानी पालन-संरक्षण
और

"न" यानी नहीं,
जो निज-भाव का रक्षण नहीं कर सकता
वह औरों को क्या सहयोग देगा ?
अतीत से जुड़ा
मीत से मुड़ा
बहु उलझनों में उलझा मन ही
"स्वप्न" माना जाता है।
जागृति के सूत्र छूटते हैं स्वप्न-दशा में
आत्म-साक्षात्कार सम्भव नहीं तब,
सिद्ध-मन्त्र भी मृतक बनता है। (पृष्ठ २९५)

छायावादी कवियो की रोमान्टिक मनोवृत्ति ने उन्हे पलायन की ओर प्रवृत्त किया, परन्तु 'मूक माटी' का कवि अथ से इति तक उस आत्म-संघर्ष की बात करता है, जो उसे वीतरागता की दिशा मे आगे ले जाये। नारी के शृंगारिक चित्रण का तो प्रश्न ही नहीं है, बल्कि उसके सारे पर्यायार्थक शब्दों को नया आयाम दिया गया है (पृ.२०२-२०८) जो अन्यत्र कही नहीं मिलता। इसी तरह रहस्यात्मकता की अभिव्यक्ति छायावादी कवियों के समान प्रकृति पर सचेतनता के आरोप एव प्रियतम-प्रेमिका के रूपको के माध्यम से नहीं हुई, बल्कि उसके प्रति तटस्थतावादी दृष्टिकोण से हुई है। समकालीन काव्य मे 'मूक माटी' की ये विशेषताये दुर्लभ है।

अन्त में यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यहाँ हमने विषय-वस्तु के प्रस्तुतीकरण मे समीक्षात्मक दृष्टि को अपनाया है। मात्र विषय-वर्णन हमारा ध्येय नही रहा है। इसलिए हमे यहाँ जीवन-दर्शन भी मिला है और अध्यात्म भी, काव्य भी मिला है और समाज-चिन्तन भी। सभी का समन्वित रूप इस परिवर्त में देखा जा सकता है। इसके अध्ययन से कथ्य और तथ्य आसानी से समझ मे आ सकेगा।

****

चतुर्थ परिवर्त
आध्यात्मिक चेतना

आध्यात्मिक चेतना व्यक्तित्व के विकास का प्रतीक है, अहिंसा और सयम को अपने आचरण मे उतारने का फल है जो साधक एक लम्बी साधना के बाद पा पाता है। दु ख के उद्वेलित महासागर से पार होकर सुख के प्रशान्त महासागर मे गोते लगाने के लिए निर्जरापेक्षी होना आवश्यक है और निर्जरापेक्षी वही हो सकता है जो विधायक भावो का विकास कर स्वानुभूति का रसास्वादन कर ले । ये विधायक भाव हैं - मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भाव। ये चारो भाव अध्यात्म साधना की कसौटियाँ हैं जिनपर कसकर साधक के अनासक्त भाव की तरतमता का अन्दाज लगाया जा सकता है।

मूक माटी का मूल उद्देश्य व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत करना और उसको साधना के माध्यम से विकसित करना रहा है। जैन-श्रमण साधना के धनी होते है, आचार-विचार के पक्के होते है। उनकी समूची चर्या मे वीतरागता भरी रहती है, स्व-पर कल्याण के भाव सने रहते है जो मन को अमन कर देते है और सकल्प को दृढ बना देते है। सकल्प की दृढता से साधक आस्था और ज्ञान तथा आचरण की समीचीनता को परखने की आत्मशक्ति जाग्रत कर लेता है और हर पडौसी स्वय अपने पडौसी से आत्मीयता भरे स्नेह के सस्कार मे रहकर बात करने लगता है। उसका पर्यावरण विशुद्ध होने लगता है और आसपास का वातावरण सहज और सरल हो जाता है। उसके हर कोने से आध्यात्मिकता झाकने लगती है।

पर्यावरण और अध्यात्म

पर्यावरण प्रकृति की विराटता का महनीय प्रागण है, भौतिक तत्त्वो की समग्रता का सांसारिक आधार है और आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत करने का महत्त्वपूर्ण संकेत - स्थल है। प्रकृति की सार्वभौमिकता और स्वाभाविकता की परिधि असीमित है, स्वभावत वह विशुद्ध है, पर भौतिकता के चकाचौंध में फंसकर उसे अशुद्ध कर दिया जाता है। प्रकृति का कोई भी तत्त्व निरर्थक नही है। उसकी सार्थकता एक-दूसरे से जुडी हुई है। सारे तत्त्वों की अस्तित्व - स्वीकृति पर्यावरण का निश्चल सन्तुलन है और उस अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह खडा कर देना उस सन्तुलन को डगमगा देना है। पर्यावरण का यह

असन्तुलन अनगिनत आपत्तियो का आमन्त्रण है जो हमारी सासारिकता और वासना से जन्मा है, पनपा है।

सासारिकता और वासना यद्यपि अनादिकालीन आचल है पर प्राचीन काल में वह इतना मैला नही हुआ था जितना आज हो गया है। जनसंख्या की बेतहाशा वृद्धि ने समस्याओ का अबार लगा दिया है और प्रकृति से छेडछाड कर विप्लव-सा खडा कर दिया है। हमारे प्राचीन ऋषियों-महर्षियो की दूरदृष्टि मे इस विप्लवता का सभावित रूप उपलक्षित हो गया था, इसलिए उन्होने लोगो को सचेत करने के लिए प्रकृति के अपार गुण गाये, उसकी पूजा की, काव्य मे उसे प्रमुख स्थान दिया, ऋतु-वर्णन को महाकाव्य का अन्यतम लक्षण बनाया, रस को काव्य का प्रमुख गुण निर्धारित किया और काव्य की सपूर्ण महत्ता और लाक्षणिकता को प्रकृति के सुरम्य आगन में पुष्पाया। दूसरे शब्दो मे प्रकृति की गोद से काव्य का जन्म हुआ ओर उसी मे पल-पुसकर वह विकसित हुआ । पर्यावरण के प्रदूषित होने का भय भी वहा अभिव्यञ्जित है।

जीवन का हर पक्ष काव्य का परिसर है और उसकी हर धडकन आगम का प्रतिबिम्बन है। जिस सस्कृति ने जीवन को जिस रूप मे समझा है उसने अपने आगम मे उसे वैसा ही प्रतिरूपित किया है । जैन-आगम श्रमण धारा का परिचायक है। इसलिए उस के आगम मे उसी रूप मे जीवन को समझने के सूत्र गुम्फित हुए है। इन्ही सूत्रो ने जीवन दर्शन को समझने और पर्यावरण को सन्तुलित बनाये रखने का अमोघ कार्य किया है।

आज की पर्यावरण समस्या व्यक्तिगत न होकर सामूहिक हो गई है। उसने समाज और राष्ट्र की सीमा को लाघकर अन्तर्राष्टीय सीमा मे प्रवेश कर लिया है। पर्यावरण प्रदूषण से एक ओर प्राकृतिक सम्पदा विनष्ट हो रही है तो दूसरी ओर राग-द्वेषादिक विकारो से ग्रस्त होकर व्यक्ति और राष्ट्र पारस्परिक सघर्ष कर रहे हैं और विनाश के कगार पर खडे हो गये है । यह सघर्ष सामाजिक आर्थिक, आध्यात्मिक आदि सभी क्षेत्रो में घर कर गया है। इसलिए सभी धार्मिको का ध्यान इस ओर बरबश खिच गया है और उन्होने अपने-अपने आगमो मे से अपने-अपने ढग से पर्यावरण सुरक्षा के सिद्धान्त, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आचरण-सहिता का निर्माण, कार्यान्वयन का तरीका, आर्थिक

संसाधनों के उपयोग में सामाजिक दूरदृष्टि, आध्यात्मिक चेतना का जागरण आदि जैन सिद्धान्तों को प्रकाशित करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया है।

मूक माटी महाकाव्य पर्यावरण की इसी समस्या को दूर करता है, समाज से असामाजिक तत्त्वों को विगलित करता है और पथदृष्टि देता है उन पथिकों को जो हाशिये पर खड़े हो गये हैं और जिन्हें जीवन का रस विरस बन गया है। जीवन को सरस, स्वतन्त्र, निरामय, आनन्दमय और पवित्र बनाने की ओर मोड़ने का अनूठा कार्य करने वाला यह महाकाव्य आत्मशक्ति को जाग्रत करता है और फिर रत्नत्रय की साधना से जीवन मे रूपान्तरण प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

रूपान्तरण प्रक्रिया

आध्यात्मिक चेतना एक रूपान्तरण प्रक्रिया है जहाँ साधक सन्तों का समागम कर अपने व्यक्तित्व मे साधना के सूत्र जोड़ता है और ससार की वास्तविकता को अपनी सिन्दूरी आखों से देखकर प्रज्ञा भावसे पदार्थ की तह तक पहुंचकर स्वय की यथार्थता को समझने का प्रयत्न करता है। स्वय को इस स्थिति में पहुँचाने का तात्पर्य है स्वयं के संस्कारों में परिवर्तन लाने का सकल्प कर लेना। स्वभाव सस्कारजन्य होता है और वह अपरिवर्तनीय नही होता। यदि कुसगतिवश व्यक्ति के सस्कार बुरे हो गये तो वह सारी जिन्दगी मन से सतप्त होता रहेगा, झुलसता रहेगा और आन्तरिक वृत्तियों को कष्ट देता हुआ मानसिक प्रताड़ना सहता रहेगा। जब भी उसे सोचने का समय मिलेगा, वह उस प्रताड़ना से मुक्त हो जाने की राह पर भी चलना चाहेगा। यह चाह विशिष्ट चेतना के जागरण का सूत्र है जहाँ वह अपने पूर्वकृत दुष्कर्मों और बुरे सस्कारो पर विलाप करता है, दुःख का अनुभव करता है। इसी चेतना से उसमे रूपान्तरण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य के भाव जाग्रत हो जाते हैं और सृजनात्मक चेतना का प्रस्फुटन हो जाता है।

इस सृजनात्मक चेतना के जागरण में वातावरण की अहं भूमिका रहती है। वातावरण यदि पवित्र मिल जाये, सगति यदि अच्छी हो जाये तो हमारे अवचेतन मन में पड़े हुए संस्कार, प्रतिशोधात्मक भाव और प्रतिक्रियात्मक तत्त्व उभर उठेंगे और वे हमारी परिष्कृत चेतना से विगलित हो जायेंगे। सस्कार की गहरी गांठें एक-एक कर बिखर जायेंगी। दोषो का अबार धीरे-धीरे ढह जायेगा। काम - क्रोधादि विकार भाव शनै शनै विराम ले लेंगे और हमारे जीवन में एक नयी ज्योति प्रवेश कर जायेगी। इस ज्योति में

होगी आत्मानुशासन की क्षमता, श्रद्धा का जागरण, समता, मानवता, सयम और तपस्या का परिवर्तन, सम्यक् आचरण का पोषण जो श्रमण संस्कृति की मूलभूत विशेषतायें है आदि

श्रमण सस्कृति मानवतावादी सस्कृति है जिसमें व्यक्ति को आध्यात्मिक शिखर की सर्वोच्च चोटी पर पहुचने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी गई है। वहा जाति, वर्ण, लिंग जैसा कोई भी व्यवधान विकास के लिए बाधक नही माना गया है और न ही किसी ईश्वर विशेष के आंचल को पकडने की होड है। न किसी तरह के अवतारवाद की कल्पना है और न धर्म में किसी भी प्रकार की हिसा को प्रश्रय दिया गया है। जैन श्रमण परम्परा तो वस्तुतः पूर्णतः विशुद्धवादी, परम आत्मवादी, समतावादी और श्रमवादी परम्परा है जिसमे प्राणी मात्र की भलाई पर पूरी तरह से विचार किया जाता है और उसके जीवन के सस्कारो को सुसस्कृत करने का मार्ग प्रशस्त बना दिया जाता है।

जीवन क्या है? क्या कभी हमने इस प्रश्न पर विचार किया है? क्या यह भी हमने कभी सोचा है कि जीवन के आगे-पीछे के सूत्र क्या है ? ये कुछ ऐसी अनबुझी पहेलिया है जिन्हे या तो हम पूर्व परम्परा से चल आये विचारो को स्वीकार कर बुझा ले या फिर स्वय की अनुभूति से उन पर निष्कर्ष निकाल ले। हम यह भी जानते है कि जिसे स्वानुभूति का रस प्राप्त नही हो पाता उसके लिए सयुक्तिक ढग से परम्परा की तथ्यात्मकता को झाक लेना ही एक रास्ता बच जाता है।

जैन श्रमण परम्परा जीवन की सत्ता को अतीत और अनागत से जोडती है। वह यह मानती है कि वर्तमान से जुडी हुई इस सत्ता के सूत्र सस्कार के रूप मे पूर्वजन्म से आते है। वर्तमान जन्म मे पुराने सस्कार के आधार पर जो भी हम पाते हैं उसमे अपने ही शुभ-अशुभ, कुशल-अकुशल सस्कारो - कर्मो को और जोड-घटा लेते हैं तथा आगामी जन्म के लिए पाथेय के रूप में हम शुभ कर्मो की ओर प्रवृत्त हो जाते है।

इस प्रवृत्ति में हमारा मन बहुत सहयोगी होता है। यह मन स्वभावतः बडा चचल और भटकाने वाला है। यह रात-दिन राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या आदि विकार भावो के आसपास मडराता रहता है, अहकार और आसक्ति के दो कठोर पाटो के बीच व्यक्ति को पीसता रहता है। दुनियादारी के प्रपञ्च से बचने के लिए हमें सोचने का भी मौका नही मिलता। यदि मौका मिलता भी है तो हम उसका उपयोग करना नही चाहते । ऐसे कीचड में फसा व्यक्ति अपने जीवन के मूल सूत्र को काट देता है। न उसे वह पकड पाता है, न सवार पाता है, न

उसकी सुगंध को सूंघ पाता है, न उसे बिखेर पाता है। यह स्थिति तब तक बनी रहती है जब तक वह स्वयं के जीवन को नजदीक से देखने का प्रयत्न नहीं करता, अपने किये हुए कार्यों का लेखा-जोखा निष्पक्ष रूप से सामने नहीं लाता।

वस्तुतः जीवन का अर्थ मात्र जन्म नहीं है। उसे हम यों समझ सकते हैं कि उसके दो पहलू हैं - जन्म और मृत्यु। जन्म सस्कारों के रूप में अपने साथ बीज लाता है जो अंधेरे मे छिपा पड़ा रहता है। बाहर आकर विकास करने के लिए उसे स्वच्छ मिट्टी, रोशनी और स्वाद की जरूरत रहती है। यदि इस जरूरत को हमने पूरा नहीं किया तो वह बीज सड जायेगा और दुर्गन्ध पैदा कर देगा। उसे हरा-भरा करने के लिए मेघ रूपी सत्संग की आवश्यकता होती है। सत्सग की जलधारा बिना उसकी सुगन्ध बिखरेगी नही और जीवन की गाडी को चलाने के लिए सामग्री मिलेगी नहीं। यह सामग्री एक साधना है, एक सस्कार यज्ञ है जिसे हमें कल्पना लोक से उतरकर यथार्थ लोक में खोजना पडता है।

वर्षायोग और अध्यात्म - दुनियाँ के बावरेपन पर क्या कभी हमने सोचा है? क्या कभी हमने यह विचार किया है कि हमारा यथार्थ कर्तव्य क्या है? हमारा मन वस्तुत बहुरगी है, जो रात दिन राग, द्वेष, मोह, ईर्ष्या आदि विकार भावो के फदे में फसकर आध्यात्मिक साधना से कोसो दूर रहता है, तपाराधना से विमुख रहता है ।

वर्षावास ऐसी ही साधना और सस्कार को जागृत करने का एक सुनहरा अवसर है, जब साधक शान्ति पूर्वक एक स्थान पर रहकर जीवन-सूत्र को सकलित करता है, आध्यात्मिक साधना का सयोजन करता है और पाता है उस जागरण को जो सुप्तावस्था मे अभी तक अन्तर मे पडा हुआ था । अन्तर मे पडा हुआ तत्त्व ही सस्कार कहलाता है, जो सत्सग्‍ति से जागृत होता है। यह सत्सगति है उन महापुरुषों और साधकों की जिन्होंने अपने सम्यग्‍ और सम्यक्चारित्र से आत्मज्ञान पा लिया है और जो निर्वाण पथ के पथिक बने हुए हैं।

ऐसे साधक और आध्यात्मिक सन्त समूचे वर्ष भर पैदल घूमते रहते हैं। जब वर्षाकाल आ जाता है तब किसी उपयुक्त स्थान पर वर्षावास कर लेते हैं यह वर्षावास इसलिए आवश्यक हो जाता है कि वर्षाकाल में जगह-जगह कीडे उत्पन्न हो जाते हैं और गमन करने पर उनकी हिंसा होने की संभावना अधिक होती है। इसके अतिरिक्त मार्ग पानी से भर जाते हैं, गड्ढे दिखाई नहीं देते हैं, कांटे लगने का भय बना रहता है।

जैन, बौद्ध और वैदिक संस्कृतियों में यह वर्षावास मुनिचर्या का एक आवश्यक अंग है। इसे चातुर्मास, वर्षावास और पर्युषण कल्प भी कहते हैं। कल्प का अर्थ है-नीति, आचार, मर्यादा और विधि। जैन संस्कृति मे ऐसे दस कल्प हैं जिनमें पर्युषण कल्प अन्तिम है। पर्युषण का अर्थ है आत्मा के समीप निवास करना और पर पदार्थों से हटकर स्वभाव मे रमण करना। इसका एक और अर्थ है - उचित स्थान पर वर्षाकाल में चार माह तक ठहरना। ये चार माह हैं-श्रावण, भाद्रपद, आश्विन तथा कार्तिक। इस वर्षावासकाल मे साधक अपना आध्यात्मिक विकास करता है। श्रावण कृष्ण चतुर्थी से कार्तिक शुक्ल पचमी तक का समय वर्षावासकाल माना जाता है। कही - कही यह तिथि आषाढ शुक्ला चतुर्दशी की पूर्व रात्रि से प्रारम्भ होकर कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की पश्चिम रात्रि तक मानी जाती है। इसके बाद भी यदि वर्षा रहे तो लगभग पद्रह दिन और भी समय बढाया जा सकता है। वर्षाकाल मे अनन्त जीवराशि उत्पन्न होती है और मरती है। साधु उससे दूर रहने के उद्देश्य से वर्षावास करता है। पर इस राशि को देखकर मन मे यह प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है कि फिर जन साधारण के लिए ऐसे वर्षावास की क्या उपयोगिता है? पर यह प्रश्न तुरत तिरोहित हो जाता है यदि हम जीवन निर्माण की बात सोचे।

साधु-सन्त जब भी आते हैं, एक नये आध्यात्मिक वातावरण का सृजन स्वयमेव हो जाता है। धर्म की व्याख्या, जीवन और धर्म का सम्बन्ध, अध्यात्म से व्यक्ति का रिश्ता, राष्ट्रीयता और धर्म की परिधि, राजनीति और धर्म, धर्म और सम्प्रदाय, सम्प्रदाय और मानवता, शिक्षा और धर्म, व्यवहार और धार्मिकता, अहिंसा, सामुदायिक चेतना, मनोनिग्रह, असग्रहवृत्ति, समन्वयवादिता आदि अनेक ऐसे विषय है जिन पर ढग से प्रकाश डालकर साधुवृ द साम्प्रदायिक सद्भाव का निर्माण कर सकते हैं। तीर्थों और सस्थानों का विकास भी उनके माध्यम से अधिक सार्थक हो सकता है।

आज आवश्यकता यह है कि चूँकि धर्म की पारम्परिक व्याख्या नयी पीढी के गले नहीं उतरती। उसे आधुनिक परिवेश मे व्याख्यायित किया जाए और वैज्ञानिकता से उसका सम्बन्ध स्पष्ट कर दिया जाए तो निश्चित ही धर्म के प्रति अनुराग बढ सकता है

जैन धर्म विशुद्ध मानवतावादी धर्म है, जाति, वर्ग और सम्प्रदाय से निर्मुक्त धर्म है। वह तो आत्मकल्याण की बात करता है और साथ ही प्राणिमात्र की सुरक्षा पर भी पूरा ध्यान देता है। वर्षावास इसका एक सुन्दर नमूना है। प्राचीन काल में जैन साधुओ का वर्षावास

इतना अधिक लोकप्रिय था कि तथागत बुद्ध को भी वर्षावास का नियम बनाना पड़ा। विनयपिटक में एक घटना का उल्लेख है इस संदर्भ में। बौद्ध भिक्षु जब वर्षाकाल में हरी घास आदि को रौंदते हुए चलते दिखे तो लोगों ने इसकी तीखी आलोचना की और कहा कि तीर्थंकर महावीर के अनुयायी साधु वर्षावास के नियम का परिपालन कर जीव-हिंसा से दूर रहते हैं जबकि बौद्ध भिक्षु उन्हें कुचलते हुए चलते हैं। यह उचित नहीं है। भगवान बुद्ध ने यह सुनकर अपने सघ के लिए भी वर्षावास का विधान कर दिया।

जैन साहित्य के दशवैकालिक, निशीथ, मूलाचार आदि ग्रथ वर्षावास के विधान पर अच्छा प्रकाश डालते हैं, उनमें समूची जैन साधुचर्या का भी विस्तार से वर्णन मिलता है। जन साधारण को भी उसकी समुचित जानकारी दी जानी चाहिए, ताकि वह उसकी हेयोपादेयता पर सोच सके और साथ ही साधु को उससे तौल सके।

साधु का चरित्र एक खुली किताब है। श्रावक उसे आदर्श मानकर अपने चरित्र का निर्माण करता है, इसलिए दोनो सस्थाओं को सजग रहना आवश्यक है। दोनो एक दूसरे के परिपूरक हैं। साधु के माध्यम से यदि श्रावक सही श्रावक बन जाए तो साधु के सत्सग का और उसके वर्षावास का इससे अधिक औचित्य और क्या हो सकता है? यह तो वस्तुत सस्कार यज्ञ है जिससे हम अपने सस्कारों को जागृत कर, ध्यान साधना कर जीवन निर्माण के सूत्र खोज सकें। सन्तो के चातुर्मास का यही महत्त्वपूर्ण फल है।

आचार्यश्री ने मूकमाटी के माध्यम से ऐसे वर्षावास काल में सन्तो के समागम की उपयोगिता पर प्रकाश डाला है और रूपान्तरण की प्रक्रिया में उसकी सार्थकता को सन्निहित किया है।

आध्यात्मिक चेतना

श्रमण सस्कृति यद्यपि मूलत स्व-पुरुषार्थवादी सस्कृति है पर व्यवहार में वह अपने परम वीतराग इष्टदेव के प्रति श्रद्धा और भक्ति की अभिव्यक्ति से विमुख नहीं रह सकी। इस सदर्भ में आवश्यक क्रियायें आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत करने के लिए महत्त्वपूर्ण साधन मानी जाती हैं। जो कषाय, राग, द्वेष आदि के अधीन नहीं होता वह अवश कहलाता है। उस अवश का जो आचरण है वह आवश्यक है। अर्थात् व्याधि आदि से ग्रस्त होने पर भी इन्द्रियों के वशीभूत न होकर दिन-रात जिन्हें किया जाना चाहिए उन्ही को आवश्यक कहते हैं। ये आवश्यक कर्म श्रावक और साधु दोनों के लिये संयोजित

हुए है, कसाय पाहुड (प्रक.८२, पृ. १००) मे दान, पूजा, शील और उपवास को श्रावक का धर्म माना है। आचार्य कुन्दकुन्द और जटासिंहनन्दि ने उपवास के स्थान पर तप नाम देकर इन्ही को स्वीकार किया है। उत्तरकाल मे इन्ही का विकासकर आचार्यो ने षट्कर्मों की स्थापना की। भगवज्जिनसेनाचार्य, सोमदेव और पद्मनन्दि ने जिनपूजा, वार्ता, दान, स्वाध्याय, सयम और तप को षट्कर्म कहा तथा अमितगति ने सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह को आवश्यक क्रियाओ में गिना है। रयणसार (गाथा १५३) मे समूची श्रावक क्रियाओ की सख्या ५३ बतायी है। इन्ही आवश्यक क्रियाओ को गहराई से पालना साधु के लिये भी आवश्यक माना गया है। मूलाचार (गा ५१६) राजवार्तिक (६ २२), भगवती आराधना (गा ११६), उपासकाध्ययन अनगार धर्मामृत (८ १७) आदि ग्रन्थो में ये आध्यात्मिक छह आवश्यक इस प्रकार मिलते है -

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। अमितगति आदि चिन्तको ने साधु की इन षडावश्यक क्रियाओं को श्रावक के साथ भी जोड दिया। पर स्वाध्याय को इन क्रियाओ में से बाहर क्यो कर दिया गया? यह प्रश्न उभरकर सामने आ जाता है। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये पाच भेद स्वाध्याय के माने गये है। इनके माध्यम से साधक आगमाभ्यास करके आत्मध्यान करता है। लगता है, शील के स्थान पर वार्ता, स्वाध्याय और तप रखा गया है उत्तरकाल मे। बाद मे वार्ता के स्थान पर गुरूसेवा आयी और सोमदेव ने देवपूजा, गुरू-उपासना, स्वाध्याय, सयम, तप और दान को षट्कर्म के रूप मे प्रस्थापित किया। परन्तु साधुओ के षडावश्यको मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ। श्रावको के षट्कर्मो मे से स्वाध्याय को यहा अलग अवश्य कर दिया। यह कदाचित् इसलिए हो कि साधु से यह आशा की जाती है कि वह सर्व प्रथम आगम का पूर्ण ज्ञानी हो। उस स्थिति मे उसे फिर स्वाध्याय की आवश्यकता उस रूप मे नही रहती। उसका अधिक झुकाव हो जाता है अर्हद्भक्ति की ओर। शायद इसीलिए आशाधरजी ने कहा है कि जो साधु निरन्तर अर्हन्त भगवान के ध्यान मे लीन रहता है उसके "अर्हन् श वो दिश्यात्" तथा "सदास्तु व शान्ति" इत्यादि वचनों को भी स्वाध्याय में गिना जाना चाहिए। अर्थात् स्वाध्याय के स्थान पर चतुर्विंशतिस्तव रखा गया है साधु के लिए। निर्ग्रन्थ अवस्था में ग्रन्थो की आवश्य[illegible] ही कहा है? वहा तो कर्मनिर्जरा के लिए तप अधिक आवश्यक है। स्वाध्याय उसी का एक अग है।

मूक माटी में स्पष्टरूप से षट्कर्मों और षडावश्यकों का उल्लेख नहीं हुआ है पर यत्र तत्र जिनस्तुति (पृ ३१२) गुरूपासना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान आदि का वर्णन काव्यात्मक रूप से अवश्य हुआ है जिसे हम यथास्थान देख चुके हैं। स्व-पर का ज्ञान होना इसी का फल है।

> 'स्व' को स्व के रूप में, / 'पर' को पर के रूप मे
> जानना ही सही ज्ञान है, और स्व मे रमण करना
> सही ज्ञान का फल। पृ ३७५

नवधा भक्ति

मूक माटी के तृतीय - चतुर्थ खण्ड में दाता और श्रमण की विशेषतायें दी गई हैं (पृ ३२६) जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। चतुर्थ खण्ड में नवधाभक्ति के साथ उसकी आहार प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन है (पृ ३२३)। वसुनन्दि श्रावकाचार (२२६-२३१) में यह नवधा भक्ति इस प्रकार दी हुई है - १ पात्र को अपने घर के द्वार पर देखकर अथवा अन्यत्र से विमार्गणकर "हे स्वामिन् , नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु। अत्र, अत्र अत्र। तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ," कहकर प्रतिग्रह किंवा स्वागत करना, २ साधु से दो-तीन हाथ दूर रहकर उनकी प्रदक्षिणा देकर उन्हें अपने घर मे ले जाकर निर्दोष तथा उच्च पीठ पर बैठाना ३ उनके चरणो को धोना, ४ पवित्र पादोदक को सिर मे लगाकर पुन जल-गन्ध- अक्षत-पुष्प-नैवेद्य-दीप-धूप-और फलार्घ से पूजन करना, ५ चरणो के समीप पुष्पाजलि क्षेपण कर वन्दना करना, ६. आर्त-रौद्र ध्यान छोडकर म ा-शुद्धि करना, ७ निष्ठुर और कर्कश आदि वचन त्याग कर वचन-शुद्धि करना ८ , विनीत अग से कायशुद्धि करना और ९ चौदह मल दोषो से रहित, यत्न से शोधकर सयमी जन को आहार देना। "हे स्वामिन् , मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि आहार जल शुद्ध है, हे स्वामिन्, अजुलि मुद्रा छोडकर भोजन ग्रहण कीजिए" इन शब्दो के साथ आहार दिया जाता है।(पृ ३२६)।

इसी प्रसग में स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है (पृ. २८८), पात्र दान, अतिथि सत्कार (पृ ३००-१), पाणिपात्री, हस- परमहंस विशेषतायें (पृ ३००-३०४), सप्त स्वरों का भावसगीत (पृ ३०५), दान (पृ ३०७), स्वस्तिक अर्थ (पृ-३०९), आहार प्रक्रिया (पृ ३४४), इन्द्रियवर्णन (पृ ३२८), आहारवृत्ति(पृ.३३३), उपदेश (पृ ३४४), कर्म की

प्रकृति (पृ. ३४७), सन्त समागम (पृ.३५२), वैराग्यदर्शन (पृ ३५३), सस्कार (पृ.३५७), चरणरज (पृ ३५८), स्वर्ण-माटी कलश सवाद (पृ.३५६-३७२), झारी (पृ.३७२), माटी की समता (३७८), दमन साधना (पृ ३९१), आरोग्य लाभ (पृ.३९५), पथ्यापथ्य (पृ. ३९७), माटी का उपचार (पृ ४०५-९), श्रीफल (पृ ३१०), दाता केगुण (पृ. ३१७), क्षुधा (पृ ३२८) आदि प्रसग भी उदाहरणीय हैं।

सापेक्षता और सर्वोदयवाद

स्वाध्याय से और षडावश्यकों के परिपालन से मन सापेक्षता की ओर बढता है, दूसरों के विचारो के प्रति समादर भाव जाग्रत होता है और सर्वोदय की भावना का उदय होता है। सर्वोदयदर्शन आधुनिक काल मे गाधीयुग का प्रदेय माना जाता है। गाधीजी ने रस्किन की पुस्तक "अन टू दी लास्ट" का अनुवाद सर्वोदयदर्शन शीर्षक से किया और तभी से उसकी लोकप्रियता में बाढ आयी। यहा सर्वोदयदर्शन का तात्पर्य है-प्रत्येक व्यक्ति को लौकिक जीवन के विकास के लिए समान अवसर प्रदान किया जाना। इसमे पुरुषार्थ का महत्त्व तथा सभी के उत्कर्ष के साथ स्वय के उत्कर्ष का सम्बन्ध भी जुडा हुआ है। गाधीजी के इस सिद्धान्त को विनोबाजी ने कुछ और विशिष्ट प्रक्रिया देकर कार्यक्षेत्र में उतार दिया है।

सर्वोदय दर्शन वस्तुत: आधुनिक चेतना की देन नही। उसे यथार्थ मे महावीर ने प्रस्तुत किया था। उन्होने सामाजिक क्षेत्र की विषमता को देखकर क्राति के तीन सूत्र दिये - १ समता २ शमता और ३ श्रमता। समता का तात्पर्य है - सभी व्यक्ति समान हैं। जन्म से न तो कोई ब्राह्मण है, न क्षत्रिय है, न वैश्य है, और न शूद्र है। मनुष्य तो जाति नामकर्म के उदय से एक ही है। आजीविका और कर्म के भेद से अवश्य उसे चार वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है।

मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा।
वृत्तिभेदाहिताद् भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥

जिनसेनाचार्य, आदिपुराण ३८।४५।२४३

शमता कर्मों के समूल विनाश से संबद्ध है। इस अवस्था को निर्वाण या मोक्ष कहा जाता है और श्रमता से मतलब है व्यक्ति का विकास उसके स्वय के पुरुषार्थ पर निर्भर

करता है, ईश्वर आदि की कृपा पर नहीं। ये तीनों सूत्र व्यक्ति के उत्थान के मूल सबल हैं। इनका मूल्यांकन करते हुए ही अनेकांतवाद- स्याद्वाद के प्रतिष्ठापक आचार्य समन्तभद्र ने तीर्थंकर महावीर की स्तुति करते हुए युक्त्यनुशासन में उनके तीर्थ को सर्वोदयतीर्थ कहा है।

शब्द वस्तु का प्रतिनिधित्व नहीं करते। वे तो हमारी अनुभूति को व्यक्त करते हैं। अनुभूति की परिधि भी ससीम और विविध होती है इसलिए उनकी क्रमिक अभिव्यक्ति होती है। वस्तु के अनन्त गुण-पर्यायों की यह क्रमिक अभिव्यक्ति "स्यात्" या "कथञ्चित्" शब्द के माध्यम से की जाती है। सत्य को खंडश: जानने का यह प्रमुख साधन है। वीतरागी होने पर यही सत्य अखड और युगपत् अवस्थित व भासित हो जाता है।

हम यह अनुभव करते हैं कि जब कभी शब्द कुछ और, और उसका अर्थ कुछ और हो जाता है। वास्तविक अर्थ मूलार्थ से हटकर सदर्भ को भी छोड देता है। यही सामाजिक और वैयक्तिक सघर्ष का उत्स है। अभिव्यक्ति की मूल भित्ति तो भाषा है ही पर अपनी अनुभूति को अधिक से अधिक पूर्णता और विवादहीनता के साथ अभिव्यक्त किया जा सके, यह आवश्यकता वहा उठ खडी हो जाती है। महावीर ने इसी समस्या को, सघर्ष के उत्स को "विभज्जवाय च वियागरेज्ज" कहकर विभज्जवाद अथवा सापेक्षवाद की बात कह दी है।

सघर्ष का क्षेत्र दर्शन ही नही, व्यवहार भी होता है। दोनो पक्षो में समन्वय साधना की अपेक्षा होती है, सामाजिक साधना के लिए, विषमता को दूर करने के लिए। लोकैषणा के कारण धर्म का सयम किवा आचार पक्ष गौण हुआ तथा उपासना पक्ष प्रबल होता गया। उपासना में पारलौकिक विधि - आश्वासनो का भडार रहता ही है, पुरुषार्थ की उतनी आवश्यकता नही रहती। इसी क्रम से धार्मिक चेतना कम होती चली जाती है, उपासना तत्त्व बढता चला जाता है और हम मूल को छोडकर अन्यत्र भटक जाते हैं। कदाचित् यही स्थिति देखकर सोमदेव ने समन्वय की भाषा में गृहस्थ के लिए दो धर्मों की बात कही-लौकिक धर्म और पारलौकिक धर्म। लौकिक धर्म लोकाश्रित है और पारलौकिक धर्म आगमाश्रित है।

व्यवहार की भाषा किंवा अनुभूति को शास्त्रीय भाषा का जामा पहनाकर समाज को एक आन्तरिक सघर्ष से बचा लिया सोमदेव ने । यह उनकी समन्वय साधना थी। इसी साधना के बल पर साधक समत्व की साधना करता है, आत्मदर्शन करता है चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो या राजनीतिक । अनेकान्तवाद के अनुसार सर्वथा विरोध किसी भी क्षेत्र में नही होता । इसलिए विरोध में भी अविरोध का स्रोत उपलब्ध हो जाता है। मैं सप्तभगियो को चिन्तन के क्षेत्र मे पडाव मानकर चलता हूँ। वे समन्वय की विभिन्न दिशाये है। सर्वोदय दर्शन की मूल भावना से उनका जुडाव बधा हुआ है।

अनेकान्तवाद और सर्वोदयदर्शन समाज के लिए वस्तुत एक सजीवनी है। वर्तमान सघर्ष के युग मे अपने आपको सभी के साथ मिलने-जुलने का अमोघ अनुदान है, प्रगति का एक नया साधन है, पारिवारिक विद्वेष को शान्त करने का एक अनुपम साधन है, अहिसा और सत्य की प्रतिष्ठा का केन्द्रबिन्दु है, मानवता की स्थापना मे नीव का पत्थर है, पारस्परिक समझ और सह अस्तित्व के क्षेत्र मे एक सबल है। उनकी उपेक्षा विद्वेष और कटुता का आह्वान है, सघर्षों की कथाओ का हिसक प्लाट है, विनाश उसका क्लाइमैक्स है, विचारो और दृष्टियो की टकराहट तथा व्यक्ति-व्यक्ति के बीच खडा हुआ एक लबा गैप वैयक्तिक और सामाजिक सघर्षों की सीमा को लाघकर राष्ट्र और विश्व स्तर तक पहुँच जाता है। हर सघर्ष का जन्म विचारो का ्तभेद और उसकी पारस्परिक अवमानना से होता है। थोथा बुद्धिवाद उसका केन्द्रबिन्दु ह

अनेकान्तवादी बुद्धिवादी होने का आग्रह नही करता। आग्रह से तो वह मुक्त है ही। पर इतना अवश्य कहता है कि बुद्धिनिष्ठ बनो। बुद्धिवाद खतरावाद है, पण्डितवाद है। परन्तु बुद्धिनिष्ठ होना खतरा औग सघर्षा से मुक्त होने का अकथ्य कथ्य है। यही वास्तविक मर्वोदयवाद है। इमे जैनवाद कहना सबसे बडी भूल होगी। यह तो मानवतावाद है जिसमे अहिंसा, सत्य , सहिष्णुता, समन्वयात्मकता, सामाजिकता, सहयोग, सद्भाव और सयम जैसे आत्मिक गुणो का विकास सम्बद्ध है। समाज और राष्ट्र का उत्थान भी इसकी सीमा से बहिर्भूत नही रखे जा सकते। व्यक्तिगत, परिवारगत, सस्थागत और सम्प्रदायगत विद्वेष की विषैली आग का शमन भी इसी के माध्यम से होना सभव है। अत सामाजिकता के मानदण्ड मे अनेकान्तवाद और सर्वोदयदर्शन खरे उतरते हैं। आइन्सटीन ने इसी दर्शन को विज्ञान पर खडा कर दिया है।

वस्तुत जीवन और सत्य के बीच अनेकान्तवाद एक धुरी का काम करता है औग सर्वोदयदर्शन उसके पथ को प्रशस्त करता है। दोनो दर्शन अनुस्यूत होकर जीवन को विशद,

निश्छल, समरस, निरुपद्रवी तथा निर्विवादी बना देता है। जीवन की आध्यात्मिकता और सामाजिकता के उत्कर्ष की ऊंचाईयों को छूने के लिए उसकी उपेक्षा न उचित है और न सभव ही। मूक माटी में इसी अनेकान्तवाद और सर्वोदयवाद की प्रस्तुति बड़े ही सुन्दर ढग से हुई है। यही स्वस्थ ज्ञान अध्यात्म है (पृ २८८) तभी तो उसमें नया सगीत खिलता है और सूक्ष्म से सूक्ष्म विचारों को तौल दिया जाता है निष्पक्षता के साथ।

अन्तिम भाग / बाल का भार भी / जिस तुला में तुलता है
वह कोयले की तुला नहीं साधारण / सी
सोने की तुला कहलाती है असाधारण !
सोना तो तुलता है / सो अतुलनीय है और
तुला कभी तुलती नहीं है सो अतुलनीय रही है
परमार्थ तुलता नहीं कभी / अर्थ की तुला में
'अर्थ को तुला बनाना / अर्थशास्त्र का अर्थ ही नहीं जानना है और
सभी अनर्थों के गर्त मे / युग को ढकेलना है,
अर्थशास्त्री को क्या ज्ञात है यह अर्थ? पृ १४२

भक्ति और मन्त्र परम्परा

इस सापेक्षता और सर्वोदयवाद की बात करने वाले जैनाचार्यों मे प्रमुख मानतुग भक्तिप्रवण आचार्य थे। सिद्धसेन के कल्याणमंदिर स्तोत्र की परम्परा उनके सामने थी। भगवद् अनुग्रह भक्ति क साथ जुड चुका था। उस भक्ति मे परमात्मा के प्रति अनुराग था पर उस अनुराग से वीतरागी परमात्मा को कोई मतलब नहीं था। भक्त अपनी सहज सिद्धि के लिए अवश्य परमात्मा की भक्ति करके शुभकर्म करने की प्रेरणा लेता है और अन्त करण शुद्ध कर लेता है। उदाहरणार्थ कल्याण मदिर स्तोत्र - ४२ में इस स्थिति को स्पष्ट किया गया है कि हे प्रभो, आपकी स्तुतिकर मं आपसे अन्य किसी फल की आकाक्षा नही करता। बस, केवल यही चाहता हूँ कि भव - भवान्तरों में सदा आप ही मेरे स्वामी रहे जिससे आपको अपना आदर्श बनाकर अपने को आपके समान बना सकू

यद्यस्ति नाथ भव दङ्घ्रिसरोरुहाणां
भक्ते फल किमपि सन्ततसञ्चिताया,।

तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य भूयाः
स्वामी त्वमेव भुवनेऽत्र भवान्तरेऽपि।।

इसी तथ्य को आचार्य समन्तभद्र ने इस प्रकार स्पष्ट किया है -

न पूजया ऽर्थस्त्वयि वीतरागे
न निन्दया नाथ! विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृति र्न
पुनातु चित्त दुरिताञ्जनेभ्य ।।

यद्यपि वीतराग देव को किसी की स्तुति प्रशसा या निन्दा से कोई प्रयोजन नही हैं फिरभी उनके गुणों का स्मरण करने से भक्त का मन पवित्र हो जाता है।

इसलिए जैन भक्ति पर यह दोषारोषण सही नही है कि वह ईश्वरवाद पर झुकी हुई है। किसी भी स्तोत्र मे सृष्टिकर्तक ईश्वर का रूप प्रतिबिम्बित नही होता। परमात्मा की परम विशुद्ध अवस्था का वर्णन करते हुए उसे पाने की आकाक्षा को अभिव्यक्त करने की पृष्ठभूमि मे ही जैन भक्ति का उद्भव और विकास हुआ है। आचार्यश्री ने भी आचार्य समन्तभद्र और मानतुग के चरण चिन्हो पर चलकर मूक माटी मे जिनदेव के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की है और ईश्वरवाद को नकारा है। इतना ही नहीं, उन्होंने न भुक्ति की चाह की और न मुक्ति की, बस यही भावना व्यक्त की है कि सकट में कभी भी आह की तरग भी न उठे -

भुक्ति की ही नहीं मुक्ति की भी / चाह नहीं है इस घट मे
वाह-वाह की परवाह नहीं है प्रशसा के क्षण मे।
दाह के प्रवाह मे अवगाह करू परन्तु / आह की तरग भी /
कभी नहीं उठे / इस घट मे . .. सकट में।
इसके अग-अग मे / रग-रग मे
विश्व का तामस आ भर जाय
कोई चिन्ता नहीं किन्तु विलोम - भाव से।
यानी , ता-म-स स-म-ता। (पृ २८४)

भक्ति तन्त्र से मन्त्र परम्परा का उद्भव हुआ। भक्ति के प्रवाह में आकर साधक परमात्मा की स्तुति करता है और उस स्तुति में वह वाचाल हो उठता है। मन्त्र उस वाचालता

को कम करता है और मन को एकाग्र करके आध्यात्मिक अनुभव के पाने का प्रयत्न करता है। नामस्मरण, श्रवण, मनन, चिन्तन की पृष्ठभूमि में मन्त्र की उत्पत्ति होती है, मांगलिक कार्य करने के लिए इष्टदेव की स्तुति होती है, समास प्रवृत्ति का आधार लेकर भगवान का अनुचिन्तन होता है और फिर मंगलवाक्य के रूप में मन्त्र की रचना हो जाती है। इस दृष्टि से णमोकारमन्त्र पर प्रथमतः विचार किया जाना अपेक्षित है। उसमें द्वादशांग श्रुत और परमेष्ठी का समूचा रूप सन्निहित है। साधक इस मन्त्र से आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त करता है और सम्यक्त्व प्राप्तकर मोक्ष-साधना में जुट जाता है। इसलिए इसे महामंगल मन्त्र कहा गया है। इसमें उपद्रवों को प्रशान्त करने की अनन्तशक्ति और स्रोत है, ज्ञान ज्योति को प्रज्ज्वलित करने की प्रगाढ क्षमता है। तन्त्र परम्परा का भी विकास यहीं से हुआ है जैन संस्कृति मे।

आत्मवाद की धुरी पर बैठकर आत्मशक्ति को जाग्रत करने और आध्यात्मिक क्षेत्र मे उसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय निश्चित रूप से जैन संस्कृति को दिया जायेगा। विशुद्ध आत्मा के चिरस्थायी प्राकृतिक स्वरूप को जिस ढग से जैनाचार्यों ने उद्घाटित किया है वह वैयक्तिक और सामाजिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके दार्शनिक ऐतिहासिक अध्ययन करने से यह तथ्य प्रच्छन्न नही रहता कि आत्मा के समग्र आयामो की प्रस्तुति मे जैनधर्म की एक अह भूमिका रही है।

विस्तार स समास की ओर जाने की एक सर्वमान्य स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मन्त्रवाद उसी का प्रारूप है। तन्त्र परम्परा भी उसी से सबद्ध है। स्वानुभूति की सरसता का पान करने के लिए मन्त्र ही एक ऐसा माध्यम है जिससे मानसिक चचलता की दौड को विराम दिया जा सकता है। इसलिए मन्त्र की परिधि में समग्र तत्त्वचिन्तन आ जाता है जो हमारे शुभ-अशुभ भावों के साथ घूमता रहता है। मन्त्र की सार्थकता हमारे भावो पर अधिक निर्भर करती है। मत्र का सम्बन्ध इष्टदेव के मनन और चिन्तन से है। साधक श्रद्धा और भक्ति के साथ अपने इष्ट देव का चिन्तन करता है, उसकी शरण मे जाता है और आत्म-समर्पण कर अहंकार से मुक्त होने का प्रयत्न करता है । "मन्त्र परमोऽज्ञेयो मननत्राणे ह्यतो नियमात्"। इससे वह कर्म विकार नष्ट करने की ओर बढ जाता है, आत्मशक्ति स्फुरित होती है और मनोविकार शान्त हो जाते हैं। णमोकारमन्त्र ऐसा ही मन्त्र है जिससे

भक्त साधक अपने चचल मन को एकाग्रकर स्वय को जिनभक्ति मे केन्द्रित कर लेता है। इसलिए यहाँ पर हम इस मन्त्र के संबन्ध में कुछ विशेष रूप से विचार कर रहे हैं।

णमोकारमन्त्र और आध्यात्मिकता

प्रत्येक सस्कृति में किसी न किसी रूप में मत्र-तत्र परम्परा रही है। जैन संस्कृति यद्यपि ईश्वर कर्तुत्व को नहीं मानने से निरीश्वरवादी है फिर भी उसमें श्रद्धा और भक्ति का स्थान कम नही है। मत्र तत्त्व भक्ति की भूमिका पर फलित होता है और सदाचरण उसकी पृष्ठभूमि में काम करता है। जैन संस्कृति का णमोकार मत्र ऐसा ही महामन्त्र है जिसमें श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान, आचार सब कुछ सम्यक् रूप से समाहित है। साधना मार्ग मे वह एक मील का पत्थर है जो अपवर्ग की प्राप्ति में दिशादान का काम करता है, सम्यक्त्व और समत्व को प्रवाहित करता है, स्वस्थ मानसिकता और सजगता से आबद्ध करता है। इसीलिए आचार्य ने कहा है -

> **आकृष्टिं सुरसपदा विदधते मुक्तिश्रियो वश्यता**
> **मुच्चाटं विपदा चतुर्गतिभुवां विद्वेषमात्मैनसाम् ।**
> **स्तभ दुर्गमन प्रति प्रयततो मोहस्य संमोहन**
> **पायात् पचनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता।।**
>
> **णमोकारमन्त्रका माहात्म्य, श्लोक २**

जैन परम्परानुसार यह णमोकार महामन्त्र अनादिकालीन है। इस परम्परा को हम इस ढंग से स्वीकार कर सकते हैं कि अक्षर अनादि है, मानवता अनादि है और आत्मा अनादि है। अत इन तीनो को व्यक्त करने वाला महामत्र भी अनादि है। इसके बावजूद यदि हम इसके ऐतिहासिक विकास क्रम को देखें तो हमे उसका प्राचीनतम उपलब्ध रूप कलिंग सम्राट् खारवेल द्वारा निर्मित हाथीगुम्फा शिलालेख की प्रथम पक्ति मे मिल सकता है जहा उसके मात्र दो पद इस रूप मे उट्टकित हैं -

नमो अरहतान । नमो सव सिधान

हम जानते हैं, खारवेल का समय ई.पू. द्वितीय शताब्दी है। इसके पूर्व का रूप हमारे देखने में नही आया। यहा 'न' क्षेत्रीय प्राकृत उच्चारण भेद की ओर इगित करता है। यह अर्धमागधी प्राकृत की विशेषता है। शौरसेनी प्राकृत में यही न णकार में बदल जाता है।

उसके बाद के ग्रन्थो में आचार्य पुष्पदन्त भूतवलि द्वारा रचित धवला (१ १ १ सूत्र १/८) को उल्लिखित किया जा सकता है जिसमे णमोकार मत्र का रूप इस प्रकार है - **णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।** यह निबद्ध मगल है और सभवत. आचार्य पुष्पदन्त ने उत्तरवर्ती तीन पद और जोडकर णमोकार मत्र के वर्तमान में प्रचलित रूप को तैयार किया हो।

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे लेखक अपने इष्टदेव को नमस्कार मानसिक, वाचिक अथवा कायिक रूप में करता है। परन्तु यह नियम आगम ग्रन्थो मे नही लगता क्योंकि आगम स्वय मगलमय होते हैं और चित्त को केन्द्रित करने में वे सहायक भी बनते हैं। शायद इसी दृष्टि स आचारांग, सूत्रकृतांग, कसायपाहुड, ज्ञातृधर्मकथांग, प्रश्नव्याकरणांग आदि प्राचीन आगम ग्रन्थों मे मगल वाक्य नही मिलता। मात्र भगवतीसूत्र के प्रारभ मे मगलवाक्य णमोकार मत्र के रूप में उपलब्ध है-

नमो अरहताण, नमो सिद्धाण, नमो आयरियाण, नमो उवज्झायाण, नमो सव्व साहूण। उसी के पद्रहवे शतक के प्रारम्भ मे "नमो सुयदेवयाए भगावईए" भी मिलता है। इनके अतिरिक्त "नमो बभीए लिवीए" "नमो सुयस्स" जैसे पद भी। अभयदेव सूरि ने भगवतीसूत्र की वृत्ति के प्रारभ मे इस महामत्र की व्याख्या भी की है।

प्रज्ञापना सूत्र के प्रारभ में महामत्र मगलवाक्य के रूप में लिखा गया है पर हरिभद्रसूरि और मलयगिरि ने उसकी व्याख्या नही की है। प्रज्ञापना सूत्र के रचयिता आचार्य श्यामार्य हैं और उनका भी यह मगलवाक्य निबद्ध मगल है।

वयगयजरमरणभए सिद्धे अभिवदिऊण तिविहेण।
वंदामि जिणवरिंद तेलोक्कगुरु महावीर।

वस्तुत यह महावाक्य णमोकार मत्रात्मक नही है बल्कि स्तुति रूपात्मक है। दशाश्रुत स्कन्ध की वृत्ति म मगलवाक्य के रूप मे णमोकार मत्र है पर उसकी चूर्णि मे उसकी व्याख्या नही की गई है। कल्पसूत्र (पर्युषणाकल्प) दशाश्रुत स्कन्ध का आठवा अध्ययन है। उसमे भी णमोकार मत्र का उल्लेख मगलवाक्य के रूप में मिलता है। परन्तु मुनि जिनविजयजीने इसे प्रक्षिप्त माना है इसलिए कि न यह अन्य प्रतियों में उपलब्ध है और न उस पर वृत्तिकार ने वृत्ति लिखी है[२]।

१ एत्थ पुण णियमो णत्थि परमागमुवजोगम्मि णियमेण मंगलफलोवलंभादो, कसायपाहुड भाग१, गाथा१, पृ ९ २ कल्प सूत्र प्रस्तावना, पृ ३

महानिशीथ के पचम अध्ययन में बताया गया है कि वज्रस्वामी ने नमस्कार महामन्त्र का उद्धार किया और उसे मूलसूत्र में सम्मिलित किया। निर्युक्ति भाष्य और चूर्णी में यद्यपि उसका कोई उल्लेख नहीं है। दशाश्रुतस्कन्ध और महानिशीथ छेदसूत्र हैं जिनका समय मध्यकाल माना जा सकता है।

उत्तराध्ययन मूलसूत्र के बीसवे अध्ययन के प्रारभ में आये "सिद्धाण नमो किच्चा, सजयाण भावओ" से नमस्कार मत्र के अल्परूप को उल्लिखित माना जा सकता है पर उसकी कोई यथार्थ रूप की कल्पना करना सभव नही है। आवश्यक मूलसूत्र के प्रथम अध्याय मे कहा गया है कि जब तक मैं अर्हन्त भगवान् के नमस्कार मन्त्र का उच्चारण कर कायोत्सर्ग न करू तब तक मैं अपनी काया को एक स्थान पर रखूगा, मौन रहूगा, ध्यान मे स्थित रहूगा। निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने भी कहा है कि पच परमेष्ठी को नमस्कार कर सामायिक करना चाहिए।[१] महाप्रज्ञ आचार्य जी ने इसी आधार पर नमस्कारमन्त्र का मूलस्रोत सामायिक अध्ययन माना है और अपने समर्थन मे यह कहा है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण[२] ने उसी आधार पर नमस्कार मत्र को सर्वश्रुतान्तर्गत बतलाया।[३]

परन्तु महाप्रज्ञ जी का यह निष्कर्ष युक्तिसगत नही लगता। हम जानते हैं, मूलसूत्रो का समय निश्चित करना सरल नही है। और फिर जो आया है वह भद्रबाहु की निर्युक्ति से है जिसका समय लगभग छठी शताब्दी माना जा सकता है। इसलिए यह कहना अधिक सही लगता है कि महामन्त्र की समूची रचना का श्रेय आचार्य पुष्पदन्त को है। उनकी ही परम्परा का आकलन उत्तरकालीन आचार्यों ने अपने-अपने ढग से किया है। महानिशीथ आदि ग्रन्थ आचार्य पुष्पदन्त के बाद ही लिपिबद्ध हुए हैं। अत उनका निबद्ध मगल सभी आचार्यों ने स्वीकार कर लिया। कालान्तर में जिस तरह वीरसेन[४] दिगम्बराचार्यों ने धवला टीका में णमोकार मंत्र के विषय मे विस्तार से लिखा है उसी तरह आवश्यक निर्युक्ति[५] आदि श्वेताम्बर ग्रन्थो मे महामत्र पर काफी विवेचन किया गया है।

---

१ कय पंच नमोक्कारो करेइ सामाइंति सोऽभिहितो। सामाइयंगमेव य जं सो सेसं अतो वोच्छं।। गाथा १०२७

२ सो सव्वसुतक्खन्धब्भंतरभूतो जओ ततो तस्स। आवासयाणुयोगादिगहणगहितोऽणुयोगो वि।। विशेषावश्यकभाष्य गाथा - ९

३ नमस्कार महामंत्र एक विश्लेषण केसरीमलसुराणा अभिनन्दन ग्रन्थ पृ १२६

पदक्रम

जैन परम्परा णमोकार मंत्र को अनादि मानती है। उसका कोई रचयिता नहीं है, मात्र व्याख्याता है। यह निश्चित ही श्रद्धा मूलक मान्यता है अन्यथा वेदों की अपौरुषेयता पर प्रश्नचिन्ह कैसे खड़ा किया जा सकता है? सभी पांचों पदों मे 'णमो' की पुनरावृत्ति हुई है जिसका तात्पर्य है साधक में आत्मसमर्पण, अहकार और ममकार का विसर्जन तथा रत्नत्रय का परिपोषण होना आवश्यक है। नमनकर्ता के समक्ष कोई साम्प्रदायिक व्यक्ति विशेष नही है। न ऋषभ हैं, न महावीर, न अन्य कोई जैन तीर्थंकर। वह तो उन्हें नमस्कार कर रहा है जो अर्हन्त हो गये हैं, सिद्ध हो गये हैं और सही अर्थ मे आचार्य, उपाध्याय और साधु बन गये हैं। इन सभी पदो का सुन्दर विश्लेषण जैनाचार्यों ने किया है।

प्रथमपद अर्हन्त है जिन्होने घातिया कर्मों का विनाशकर साकार अवस्था मे जन साधारण को उपदेश दिया है और जो उन्हे अपवर्ग की प्राप्ति मे लगाये रहते हैं। वे ४६ मूल गुणधारी तीर्थ प्रवर्तक पूज्य होते हैं। इसलिए कृतज्ञता वश उनको प्रथमत नमस्कार किया जाता है। सिद्ध समूचे अष्ट कर्मों का विनाशकर स्वरूप में स्थिर हो जाते हैं और परमोच्च विशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर निराकार बन जाते हैं।

इसके बाद आत्मविकास की दृष्टि से आचार्य का क्रम आता है जिसके ३६ मूलगुण होते हैं - १२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक और ३ गुप्ति। उपाध्याय जैनागम के कुशल ज्ञाता और साधुओं के शिक्षक रहते है। तथा साधु शुभोपयोग से शुद्धोपयोग की ओर यात्रा करने वाले आध्यात्मिक यात्री होते हैं। इन पाचो को परमेष्ठी कहा जाता है। सव्व और लोए शब्द त्रिकालवर्ती परमेष्ठियो के प्रति व्यक्त नमस्कार की सार्वभौमिकता की ओर इंगित करते हैं।

मूलाचार के अधिकार सात के प्रारम्भ में ही इन पदो को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है।

काऊण णमोक्कार अरहंताणं तहेव सिद्धाणं।
आइरियउवज्झाये लोगम्मि य सव्वसाहूण।।

इन पाच पदों के साथ ही कही गयी निम्न गाथा का भी पाठ किया जाता है जिसमें चार पद हैं। इस तरह कुल मिलाकर नव पदवाला णमोकार मन्त्र कहा जाता है।

एसो पंचणमुक्कारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं।।

यहां 'च उं' शब्द से बारह मन्त्र सूचित होते हैं - अर्हन्नतमंगलं, अर्हन्नतलोकोत्तमा, अर्हन्तसरण, सिद्धमंगल, सिद्धलोकोत्तमा, सिद्धशरण, साधुमंगल, साधुलोकोत्तमा, साधुसरण और केवलिप्रणीत धर्ममंगल धर्मलोकोत्तमा, धर्मशरण। यहां 'साधु' शब्द से आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु का ग्रहण हो जाता है (भाव पाहुड) इस मंत्र के साथ जहां कहीं निम्न चत्तारिदण्डक भी बोला जाता है -

चत्तारिमंगलं - अरिहंता मंगलं, सिद्धा मंगलं,
साहू मंगलं, केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं।
चत्तारि लोगुत्तमा-अरिहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा,
साहू लोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा।
चत्तारि सरणं पव्वज्जामि - अरिहन्ते सरणं पव्वज्जामि,
सिद्धे सरणं पव्वज्जामि साहू सरणं पव्वज्जामि
केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि।

यह चत्तारि दण्डक पाठ णमोकारमंत्र के साथ बहुत समय से पढ़ा जा रहा है। सम्भव है बौद्ध धर्म के त्रिशरण के समान इसकी रचना हुई हो। आचार्य कुन्दकुन्द के भावपाहुड मे उसे इस रूप मे देखा जा सकता है -

झायहि पंच वि गुरवे, चउमंगलसरणलोयपरियरिए।
णरसुरखेचरमहिए आराहणणायगे वीरे।।१२४।

आचार्य विमलसूरि के पउमचरिय मे भी यह लगभग इसी रूप मे उपलब्ध होता है- जो उसकी प्राचीनता की ओर संकेत करता है -

णमो अरहंताणं सिद्धाणं णमो सिव उवगयाणं।
आयरिय उवज्झायाणं णमो सया सव्वसाहूणं।।६३।।
अरहंतो सिद्धो विय साहू तह केवलीण धम्मो य।
ए ए हवंति नियमं चत्तारि वि मंगलं मज्झ।।६४।।
जावइया अरहंता माणुसखित्तादि होंति जयनाहा।
तिविहेण पणामिऊणं ताणं सरणं पवण्णो ऽहं।।१०७।।

इसके बाद तो चत्तारि दण्डक पाठ ज्ञानार्णव, सागार धर्मामृत, योगशास्त्र आदि अनेक ग्रन्थों में उल्लिखित हुआ है।

पाठान्तर

इस णमोकारमन्त्र के अनेक पाठ दिगम्बर - श्वेताम्बर परम्पराओ मे प्रचलित हैं।

१ णमो - नमो । दिगबर परम्परा णमो को स्वीकारती है और श्वेताम्बर परम्परा नमो पर बल देती है। उसका मूल कारण यह है कि श्वेताम्बर परम्परा के आगम ग्रन्थ अर्धमागधी प्राकृत मे है जहाँ विकल्प से ण स्थान पर न हो जाता है। यह तो मात्र रूप भेद है परन्तु मन्त्रशास्त्र की दृष्टि से मूर्धन्य ण मे जो प्राणविद्युत का सचार होता है वह दन्त्य न मे नही होता।

२ अरहताण - अरिहताण, अरुहताण । अरहताण और अरिहताण शतृप्रत्ययात रूप अर्ह धातु मे बने हैं जिस के अरहइ और अरिहइ दोनो रूप मिलते हैं। इसलिए उनमे कोई अर्थ भेद नही है। हा, यदि अरिहत शब्द की सस्कृत के आधार पर व्याख्यायित करे तो अवश्य कर्म रूप शत्रु का हनन करने वाला अर्थ निकल जायेगा। अर्हता का अर्थ अवश्य पूज्यार्थक रहा है- अतिशयपूजार्हत्वाद्वार्हन्त ।

अरुहताण पाठ भगवती सूत्र की वृत्ति (पत्र ३)मे उपलब्ध होता है जो "भ्रष्टबीजवन्निशक्तीकृताघातिकर्मणो हननात् ' सूचक है। धवला टीका[१] मे भी यह पाठ मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी बोध प्राभृत की गाथा क्र ३१, ३६ ३९ ४१ मे इसका प्रयोग किया है। फिर भी अरहंत पाठ अधिक प्राचीन है और अहिंसा सस्कृति का प्रतीक भी । सर्वाधिक मगलमय भी यही पद लगता है । शेष दो पाठ कदाचित् उस समय प्रचलित हो गये हो जब मारण, मोहन, उच्चाटन आदि विधियो का प्रयोग तन्त्रशास्त्र मे समाहित हो गया।

३ आइरियाण - अयरियाण । प्राकृत व्याकरण मे इकार के स्थान पर उच्चारण भेद से यकार भी हो जाता है।

४ णमो लोए सव्वसाहूण = णमो सव्वसाहूण। अभय देवसूरि[२] ने भगवती सूत्र के मगलवाक्य के रूप मे "णमो सव्व साहूण" स्वीकार किया है और "णमो लोए सव्व

---

१ धवला, षटखण्डागम, १ १ १ पृष्ठ ४३-४५ २ आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ९२१

साहूणं" को पाठान्तर माना है (पत्र ४)। दशाश्रुतस्कन्ध की वृत्ति में भी अभयदेव का अनुकरण किया गया है। पाठान्तर की व्याख्या मे उन्होंने लिखा है कि परिपूर्णता की दृष्टि से 'सव्व' शब्द का भी प्रयोग होना चाहिए (पत्र ४)

५ नमो अरहतान, नमो सव सिधान। यह पाठ जैसा हम पीछे सूचित कर चुके हैं, खारवेल के हाथी गुम्फा शिलालेख मे मिलता है। अन्यत्र नहीं। यह बोली का रूपान्तरण हो सकता है।

अत सशोधित पाठ इस प्रकार होना चाहिए -

णमो अरहताण णमो सिद्धाण णमो आइरियाण णमो उवज्झायाण, णमोलोए सव्वसाहूण।।

इस णमोकार मन्त्र म पाच पद है जिनमे ३५ अक्षर है। 'णमो अरहताण' पद के अ का लोप हो जाने से इन अक्षरो में ३४ स्वर और ३० व्यंजन हैं। इस प्रकार कुल स्वरो और व्यंजनो की सख्या ६४ है। मूल वर्णों की सख्या भी ६४ हो है[१]। अकार से लेकर क्षकार पर्यन्त सभी ध्वनिया मातृका कहलाती हैं[२]। इनमे अकारादि स्वर शक्ति रूप हैं और ककार से लेकर हकार पर्यन्त व्यंजन बीज सज्ञक हैं - "हलो बीजानि चोक्तानि स्वरा शक्त्य ईरिता" (जयसन प्रतिष्ठापाठ श्लोक ३७७)। इन मे सृष्टि, स्थिति और सहार करने की शक्ति होती है[३]। णमोकार मन्त्र मे भी यह शक्ति है। कर्म शत्रुओ को विनाश करने की उसकी शक्ति सहार क्रम मे आती है तथा आत्मकल्याण क साथ भौतिक अभ्युदय का सम्बन्ध सृष्टिक्रम और स्थतिक्रम से है।

मन्त्र की ध्वनि से आध्यात्मिक शक्ति का विकास किया जाता है। तदर्थ इच्छा शक्ति द्वारा ध्वनि का सचालन होता है और उसके लिए नैष्ठिक आचार की आवश्यकता होती है। मन्त्रो की रचना के लिए ओ ह्री, ह्री क्ली आदि बीजाक्षरो का उपयोग किया

---

१ इन्ही मूल वर्णों से श्रुत ज्ञान की रचना हुई है
- चउसट्ठिपय विरलियदुग दाऊण सगुण किच्चा।
सऊर्ण च कए पुण सुदणाणस्सक्खरा होंति।।
एक टु च चय छस्सत्तयं च च य सुण्णसत्ततिय सत्ता।
सुण्ण णव पणपच य एक्कंछक्केक्कगो य पणय च।।
२ अकारादि क्षकारान्ता वर्णा प्रोक्तास्तु मातृका।
सृष्टिन्यास स्थितिन्यास संहतिन्यासतस्त्रिधा।।
जयसेन प्रतिष्ठापाठ ३७६
३ बीजों का सविस्तर वर्णन बीजकोश में वर्णित है। विद्यानुवाद में भी इसका सुन्दर स्पष्टीकरण है।

जाता है जिसमें अपरिमित शक्ति है - निर्बीजमक्षरं नास्ति नास्तिमूलमनौषधम्। प्रत्येक मन्त्र बीजात्मक होता है और बीज एक ऐसे विशाल वृक्ष का रूप ले लेता है जो साधकों का शरणस्थल बन जाता है। समस्त मन्त्रों के रूप बीज पल्लव इसी मंत्र से निकले हैं। समस्त मन्त्रों की उत्पत्ति इसी महामन्त्र से मानी गई है।

स्फोटवादियो ने इसकी सुन्दर मीमासा की है। उनका कहना है कि नाद जब नाभि-कमल से निकलकर अनाहतचक्र से बढ़ता हुआ कण्ठ मे आहूत होता है तब वह अक्षर बन जाता है। प्रथम अक्षर या ध्वनि अ है जो समस्त वर्णों का मूल है। इसलिए इसे सगुण ब्रह्म कहा जाता है। महर्षि पाणिनि ने भी अपने १४ माहेश्वरसूत्रों का प्रारभ 'अ' से ही किया है। नाभि-चक्र मे भी अ ध्वनि सुप्त रूप में रहती है जिसे निर्गुण ब्रह्म कहा जाता है। यही अ ध्वनि जब तालु को स्पर्श करेगी तो वह 'इ' हो जायेगी जो माया शक्ति रूप मानी जाती हैं। सगुण ब्रह्म इसी से ससार की सृष्टि करता है। यही ध्वनि ओष्ठ तक पहुचकर 'उ' बन जाती है जो विष्णु रूपात्मक है। तालु से ओष्ठ के बीच मे वह मूर्द्धाजन्य ऋ और दतजन्य लृ बन जाती है। 'ऋ' रूप है और 'लृ' रस है। रूप के ही रस का हम आस्वादन करते है। ससार की सृष्टि रूपमय प्रकाशात्मक है जो 'ण' से ध्वनित होता है।

आचार्य शुभचन्द्र का ज्ञानार्णव ध्यान परम्परा का सुन्दर विश्लेषण करने वाला एक महान् ग्रन्थ है। उन्होने पदस्थ ध्यान के प्रकरण मे णमोकारमन्त्र के ध्यान पर विशेष बल दिया है। इस ध्यान के प्रथम स्तर पर योगी नाभिमण्डल से निकलने वाले १६ स्वरो को सोलह पत्तो वाले कमल के पत्तो पर रखकर ध्यान करे। उसके बाद कवर्गादि २५ वर्णों का तथा य र ल व श स ष ह इन आठ वर्णों पर चिन्तन करे। समस्त श्रुत इन स्वरो और वर्णों मे समाहित है। इसलिए इन अनादि सिद्ध वर्णों का ध्यान करने से श्रुतज्ञान हो जाता है। मन्दाग्नि, खासी, श्वास आदि रोग भी समाप्त हो जाते हैं।

ध्यान करने के लिए उस मन्त्रराज को नासिका के अग्रभाग पर अथवा भृकुटियो के मध्य निश्चल स्वरूप मे धारण करना चाहिए। प्रथम पद 'णमो अरहताण' में मात्र सात अक्षर हैं। गहरी श्रद्धा और भक्ति के साथ जब इस पद पर ध्यान किया जाता है तो साधक का अहकार और ममकार विसर्जित हो जाता है। वह अरहंत के पक्ष पर स्वय को प्रतिष्ठित कर लेता है। अरहत एक मजिल है जिसमे किसी प्रकार का कोई भी भावो का विकार नहीं। इसलिए उसकी नकारात्मक अभिव्यक्ति की गई। नकारात्मक अभिव्यक्ति 'नेति

नेति' जैसी श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति हैं, सीमा से जो बंधी नही रहती। 'अर्ह' कहकर भी अरहंत की साधना की जा सकती है।

दूसरा संक्षिप्तीकरण है पच परमेष्ठी वाचक ओम्। इसमे अरहत का अ अशरीर (सिद्ध) का 'अ', आचार्य का 'आ', उपाध्याय का 'उ', और मुनिका 'म' गर्भित है जो अ + अ + आ + उ + म रूप ओकारात्मक है। इसके ध्यान से तन्मयता और तादात्म्य का अनुभव होता है। इसमे 'अ' ज्ञान का 'उ' दर्शन का और म चारित्र का प्रतीक है। इसलिए इससे रत्नत्रय की भी आराधना हो जाती है। पच परमेष्ठी वाचक होने से 'ओं' को समस्त मन्त्रो का सारभूत माना गया है। इसे प्रणववाचक भी कहते है। अधो-मध्य-ऊर्ध्व-लोक के प्रारम्भिक अ + ऊ + म् के सन्धि होने सी भी ओकार शब्द बनता है।

णमोकार मन्त्र के आधार पर उत्तरकाल मे जैन मन्त्र - तन्त्र परम्परा का अहिसात्मक पृष्ठभूमि पर काफी विकास हुआ। बीजाक्षरो के मेलजोल से तरह तरह के मन्त्र और यन्त्र तैयार किये गये। उनके बारम्बार उच्चारण तथा जप विधि से आभामण्डल पवित्र बनता है, भावो की विशुद्धि होती है और आत्मचिन्तन मे चित्त की एकाग्रता बढती है। पदस्थ और रूपस्थ ध्यान में उसका स्मरण सहयोगी होता है। जैन धर्म और दर्शन का सारा केन्द्रीय तत्त्व इस णमोकार महामन्त्र मे भरा हुआ है। इसलिए आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से इस महामन्त्र की जपसाधना एक अत्यन्त उपयोगी तत्त्व है। ज्ञानकेन्द्र पर 'णमो अरहताण' का ध्यान श्वेत आन्तरिक शक्तियो को जाग्रत करने वाले श्वेत वर्ण के साथ किया जाता है। 'णमो सिद्धाण' का ध्यान दर्शन कन्द्र मे आन्तरिक दृष्टि को जाग्रत करने वाले रक्त वर्ण के साथ की जाती है। 'णमो आयरियाण' का वर्ण पीला है जा मन को सक्रिय बनाता है। णमो 'उवज्झायाण' का रंग समाधि और एकाग्रता पैदा करने वाला नीला है जिसका स्थान आनन्द केन्द्र है और णमो लोए सव्वसाहूण का रग काला है और उसका स्थान शक्ति केन्द्र है। यह काला रंग बाह्य प्रभाव को भीतर नही आने देता।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो लगता है मन्त्रो के पूर्व स्तोत्र का विकास हो चुका था। स्तोत्र और स्तवन मे इष्टदेव के प्रति समर्पण भाव रहता है, समग्र जीवन को शुभ की ओर ले जाने का संकल्प रहता है। पर मन्त्र में अन्तर्मुखी शक्ति को जाग्रत करने की भावना रहती है और उस भावना को हवन के माध्यम से स्व-पर कल्याण करने की कामना की जाती है। समर्पण मन्त्र की आधार-शिला का काम करता है। इसलिए स्तोत्र और मन्त्र-तन्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध अस्वीकारा नही जा सकता।

मन्त्र मनन, चिन्तन और ध्वनन क्रिया का प्रतीक है। शब्दोच्चारण या ध्वनि पुद्गल या ऊर्जायुक्त सूक्ष्म कणमय पदार्थ है जो मन और प्राण के संयोग से आकाश में कम्पन पैदा करता है और केन्द्र तक लौटते-लौटते उसे शक्तिशाली बना देता है। इच्छा की सूक्ष्म तरंगे सहस्रार और आज्ञाचक्र से निकलकर मूलाधार चक्र से टकराती हैं और ऊपर की ओर लौटती हैं। बीच में वे कण्ठ प्रदेश में टकराकर स्फोटित होती हैं। इससे शब्द बाहर को भीतर से जोड़ता है और अन्तर को अभिव्यक्ति देता है। मन्त्र की आवृत्ति सूक्ष्म ग्रन्थियो षट्चक्रों और शक्ति केन्द्रो को प्रभावित करती है और चैतन्य कोश को आन्दोलित करती हुई अध्यात्म चेतना को सशक्त बनाती है।

मत्र भावना के आधार पर तीन श्रेणियों मे विभाजित किये जा सकते हैं- सात्विक राजस और तामसिक। सात्विक मन्त्र निष्काम होते हैं, शुद्ध होते हैं पर तामसिक मन्त्र सहारक होते हैं। स्तम्भन, सम्मोहन, उच्चाटन, वशीकरण जृम्भण, विद्वेषण, मारण आदि मन्त्र संहारक होते हैं। इन्हें पुल्लिगी मन्त्र कहा जाता है और इनके अन्त में "हुं, फट्, वषट्" बोला जाता है। इसी तरह स्त्री लिंगी में 'स्वाहा' और नपुसक लिंगी में 'नम' कहा जाता है। 'नम' वाला मन्त्र सात्विक होता है। अल्पाक्षरी मन्त्र अधिक प्रभावक होते हैं। इन मन्त्रो मे तीन भाग होते हैं- मातृकाक्षर, बीजाक्षर और पल्लव या लिग। आकारादि मातृकाक्षर है कवर्ग मे हकारान्त बीजाक्षर हैं और ओ, हुं, फट्, स्वाहा पल्लव है। इनका जप वाचिक उपांशु (शब्दोच्चारण) क्रिया अन्तर मे होती है। और वह मानसिक होती है। जप की यह सतत क्रिया विद्युत-धारा के समान ऊर्जा उत्पन्न करती है और साध्य सिद्धि मे सहायक होती है। ऐसे मन्त्रो की सख्या शताधिक है। पूजा, विधानादि के लिए सामान्य मन्त्रो का प्रयोग होता है और गर्भाधानादि क्रियाओं के लिए विशेष मन्त्रो का।

मन्त्रो के यन्त्र भी बनाये जाते हैं। इन यन्त्रो मे अक्षर, शब्द व मन्त्र कोष्ठक मे चित्रित किये जाते है और उनमे अलौकिक शक्ति मानी जाती है। पूजा, प्रतिष्ठा विधान आदिको मे इनका प्रयोग बहुत होता है। ऋषिमण्डल, कर्मदहन, कलिकुण्डदण्ड, चिन्तामणि चौबीसी मण्डल णमोकार, मृत्तिकानयन, मृत्युञ्जय, रत्नत्रय, भक्तामर, विनायक, शान्तिचक्र, शान्तिविधान, सर्वतोभद्र, सिद्धचक्र, स्तंभन आदि अनेक यन्त्र हैं जिनका प्रयोग विधान आदि में अधिक लोकप्रिय है।

मन्त्र-तन्त्र की साधना से विद्याओं की सिद्धि होती है। ऐसी विद्याओ का वर्णन विद्यानुवाद पूर्व में हुआ था जो लुप्त हो गया है। इसलिए मन्त्र - तन्त्र परम्परा का प्रारम्भिक

भाग उपलब्ध नही है। हाँ, चामत्कारिक सिद्धि प्राप्त विद्याधरो का उल्लेख जैन साहित्य में बहुत आता है। परवर्ती ग्रन्थों मे स्त्री देवताधिष्ठित को विद्या और पुरुष देवताधिष्ठित को मत्र माना गया है। प्राचीन जैन ग्रन्थो में देवी-देवताओं, और यक्ष-यक्षिणियों का उल्लेख नहीं मिलता। परवर्ती ग्रन्थों में अवश्य उनकी सख्या सोलह और चौबीस तक पहुच गई है। इन शासन देव और देवियो की मूर्तिया जैन मन्दिरो में काफी मात्रा में प्रतिष्ठित हुई हैं। सरस्वती, अम्बिका, पद्मावती, ज्वालामालिनी, चक्रेश्वरी, आदि देवियो के स्वतन्त्र मन्दिर भी निर्मित हुए हैं। शाक्त तत्रो के समान जैन सस्कृति पचमकारो और हिंसक देवियो को स्थान नहीं दे सकी। यह उसकी अहिंसक भावना के प्रति निष्ठा का फल है।

आचार्यश्री ने मूक माटी में नवकार मन्त्र के नवबार उच्चारण करने का उल्लेख किया है शाश्वत शुद्ध तत्त्व को स्मरण में लाकर (पृ २७४) अवा कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व। ओंकार भी णमोकार मन्त्र का एक अभिन्न अग है जिसे विपत्ति के समय स्मृतिपथ मे लाया जाता है (पृ ४४२)। इसी सदर्भ मे मन्त्र-तन्त्र परम्परा का एक रूप यहा प्रस्तुत किया गया है जिसमें मन्त्रो से सात नीबू साधित होकर काली डोर के साथ बधे हुए हैं -

साधित मन्त्रो से मन्त्रित होते हैं,
सात नीबू।
प्रति नीबू में / आर-पार हुई है सूई
काली डोर बधी है जिन पर।
फिर / फल उछाल दिये जाते हैं / शून्य आकाश मे
काली मेघ-घटाओ की कामना के साथ।
मन्त्र प्रयोग के बाद /
प्रतीक्षा की आवश्यकता नहीं रहती।
हाथों-हाथ फल सामने आता है।
यह एकाग्रता का परिणाम है। (पृ.४३७)

मन्त्र-तन्त्र परम्परा मे बीजाक्षर का बडा महत्त्व है। अकार से लेकर क्षकार पर्यन्त मातृका वर्ण कहलाते हैं। इनका तीन प्रकार का क्रम है- सृष्टिक्रम, स्थितिक्रम और सहारक्रम। णमोकार मन्त्र मे ये तीनों क्रम सन्निविष्ट हैं। इसलिए इस मन्त्र से मारण,

मोहन और उच्चाटन तीनो प्रकार के मन्त्रों की उत्पत्ति हुई है। आत्मकल्याण तथा अष्टकर्म विनाश की भूमिका इसमें सन्निहित है। द्रव्यसंग्रह की ४८ वी गाथा में इस महामन्त्र से उत्पन्न होने वाले अनेक मन्त्रों का उल्लेख किया है।

ककार से लेकर हकार पर्यन्त व्यञ्जन बीजसंज्ञक है और अकारादि स्वर शक्ति रूप है। मन्त्रबीजो की निष्पत्ति बीज और शक्ति के सयोग से होती है। आचार्यश्री ने श, ष और स बीजाक्षरो की शक्ति का उल्लेख किया है। मन्त्र परम्परा की दृष्टि से इन बीजाक्षरो की ध्वनि शक्ति इस प्रकार मानी जाती है।

श - निरर्थक, सामान्यबीजों का जनक या हेतु, उपेक्षा धर्मयुक्त शान्ति का पोषक।

ष - जनक सिद्धिदायक, अग्निस्तम्भक, जलस्तम्भक, सापेक्ष ध्वनि ग्राहक, सहयोग या सयोग द्वारा विलक्षण कार्य साधक, आत्मोन्नति से शून्य, रुद्रबीजो का जनक भयकर और वीभत्स कार्यो के लिए भी प्रयुक्त होने पर कार्यसाधक।

स - सर्व समीहित साधक, सभी प्रकार के बीजो मे प्रयोग योग्य, शान्ति के लिए परम आवश्यक, पौष्टिक कार्यो के लिए परम उपयोगी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय आदि कर्मो का विनाशक क्लीं बीज का सहयोगी, काम बीज का उत्पादक, आत्मसूचक और दर्शक।

मूक माटी का प्रारम्भ स-श बीजाक्षरो से होता है और उसकी समाप्ति षान्त शब्द मे होती है जो आदि - अन्त मगल सूचक है -

सीमातीत शून्य मे/ नीलिमा बिछाई
और इधर नीचे/ निरी नीरवता छाई
निशा का अवसान हो रहा है
उषा की अब शान हो रही है।(पृ. १)
महामौन मे/डूबते हुए सन्त/ और माहौल को
अनिमेष निहारती - सी मूक माटी।(पृ.४८८)

आचार्यश्री ने श, स और ष का विश्लेषण अपने ढग से किया है। उन्होंने कहा- - 'श' कषाय का शमन करने वाला है और शाश्वत शान्ति की पाठशाला है। 'स' सहज सुख

न्न सघन और समता का अजस्र स्रोत है और 'प' पाप पुण्य मे मुक्त करानेवाला अक्षर है (पृ ३९८)। इन तीनो अक्षरों के ध्यान से शारीरिक और आध्यात्मिक कष्ट दूर हो जाते हैं। ओकार ध्वनि के रूप मे इन्हे श्वास को भीतर रोककर नासिका से निकालते हैं। इस प्रक्रिया से वीतरागता का विकास होता है और आत्मा का सच्चिदानन्द रूप प्रगट होने लगता है ।

ओकार सभी भारतीय परम्पराओ मे अह भूमिका लिये हुए है। जैन परम्परा मे वह पचपरमेष्ठी का द्योतक है। इसमे अरहत का प्रथम अक्षर अ, सिद्ध अथवा अशरीरी का प्रथम अक्षर अ, आचार्य का प्रथम अक्षर आ, उपाध्याय का प्रथम अक्षर उ, तथा मुनि का प्रथम अक्षर म मिलकर ओम बन जाता है। यही ओम्कार त्रिलाकाकार रूप भी माना गया है। ॐ तीन वातवलयो मे वेष्टित पुरुषाकार है जिसके ललाट पर अर्धचन्द्राकार म विन्दु रूप सिद्ध लोक शोभित होता है । बीचो बीच हाथी की सूडवत् त्रसनाली है। इस ओकार की उपासना सुदीर्घ साधना का फल है। (पृ ४०१-४४२) इन मन्त्रो का जप होता है, सस्वर पाठ होता है जिससे आभामण्डल पवित्र होता है और सगीत आस्था को स्थायित्व देने मे सहयोग करता है । इसी की समन्विति धर्म की आत्मा है।

आचार्यश्री का झुकाव साख्य-योग दर्शन - साधना की ओर भी दिखाई देता है तभी तो उन्होने उसे इस रूप मे देखा है -

पुरूष और प्रकृति
इन दोनो के खेल का नाम ही
ससार है, यह कहना
मूढता है, मोह की महिमा मात्र।
खेल खेलने वाला तो पुरुष है
और
प्रकृति खिलौना मात्र।
स्वय को खिलौना बनाना
कोई खेल नहीं है,
विशेष खिलाडी की बात है यह। (पृ ३९४)

धर्म और योग

धर्म जीवन है और जीवन धर्म है। जीवन पवित्रता का प्रतीक है। उसकी पवित्रता संसार के राग रगों से दूषित हो गई है। इसलिए उस दूषण को दूर करने के लिए तथा जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने के लिए धर्म का अवलम्बन लिया जाता है। यह अवलम्बन साधन है। साध्य और साधन की पवित्रता धर्म की अन्तश्चेतना है। यह अन्तश्चेतना विवेक का जागरण करती है और जागरण से व्यक्ति नई सास लेता है। नई प्रतिध्वनि मे उसका हृदय गूँज उठता है। गभीरता, उदारता, दयालुता, सरलता निरहकारता आदि जैसे मानवीय गुण उसमे स्वत स्फुरित होने लगते हैं। जीवन अमृत सरिता मे डुबकी लेने लगता है। देश, काल, स्थान आदि की सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं और विश्वबन्धुत्व या सर्वोदय की भावना का उदय हो जाता है।

जैनधर्म इस दृष्टि से वस्तुत जीवनधर्म है। वह जीवन को सही ढग से जीना सिखाता है जात-पात के भेदभाव से ऊपर उठकर अपने सहज स्वभाव को पहिचान करने का मूलमन्त्र देता है, श्रमशीलता का आह्वानकर पुरुषार्थ को जाग्रत करता है। विवाद के घेरो मे न पडकर सीधा-सादा मार्ग दिखाता है, सकुचित और पतित आत्मा को ऊपर उठाकर विशालता की ओर ले जाता है, सद्वृत्तियो के विकास से चेतना का विकास करता है और आत्मा को पवित्र, निष्कलक व उन्नत बनाता है। यही उसकी विशेषता है, यही जैनधर्म है और यही सर्वोदयवाद है।

कटघरो को तैयार करने वाला धर्म धर्म नही हो सकता। भेदभाव की कठोर दीवाल खडीकर खेत उगाने की बात करने वाला सकीर्णता के विष से बाधित हो जाता है तुरन्त फल का लाभ दिखाकर जनमानस को शकित और उद्विग्न कर देता है दूसरों को दु:खी बनाकर अपने क्षणिक सुख की कल्पनाकर आच्छादित होता है, विसगतियों के बीज बोकर समाज को गर्त में ढकेल देता है, बिखराव खडा कर साम्प्रदायिकता की भीषण आग जला देता है और सारी सामाजिक व्यवस्था को चकनाचूर कर नया बखेडा शुरू कर देता है। इन काले कारनामों से धर्म की आत्मा समाप्त हो जाती है। धर्म का मौलिक स्वरूप नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है और बच जाता है उसका मात्र ककाल जो किसी काम का नही रहता।

जैनधर्म व्यक्ति और समाज को धर्म की इस ककाल मात्रता से ऊपर उठाकर ही बात करता है। उसका मुख्य उद्देश्य जीवन के यथार्थ स्वरूप को उद्घाटित कर नूतन पथ

का निर्माण करता रहा है। वही धारण करने वाला तत्त्व है जिसका अस्तित्व धर्म के अस्तित्व से जुडा है और जिसके टूट जाने से मानवता का सूत्र भी कट जाता है मानव मानव के बीच कटाव के तत्त्वो को समाप्तकर सर्वोदय के मार्ग को प्रशस्त करना धर्म की मूल भावना है। व्यक्ति और समाज के उत्थान की भूमिका में धर्म नींव का पत्थर होता है। और यह नींव का पत्थर योगसाधना पर टिका हुआ है।

आध्यात्मिक साधना के लिए चित्त वृत्तियो का निरोध होना आवश्यक है। योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने अपने योग भाष्य मे इस तथ्य को एक सुन्दर रूपक द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है । चित्त एक नदी के समान है जिसमे वृत्तियो का प्रवाह बहता है। इसकी दो धारायें हैं। एक धारा ससार सागर की ओर बहती है और दूसरी कल्याण सागर की ओर। पूर्वजन्म में जिन व्यक्तियो के सस्कार ससारी विषय भोगो को भोगने के रहे है उनके मन की वृत्तियो की धारा विगत सस्कारों के फलस्वरूप सुख-दु ख रूपी विषम मार्ग से बहती हुई ससार-सागर मे जा मिलती है और जिन व्यक्तियो ने कैवल्यार्थ आत्म स्वरूप की उपलब्धि के लिए काम किये हैं , विगत सस्कारो के परिणाम स्वरूप उनके मन की वृत्तियो की धारा विवेक मार्ग से बहती हुई कल्याण-सागर मे जा मिलती है। जैसे किसी नदी के बांध से दो नहरे निकलती है तो एक नहर मे तख्ता डालकर उसके जल मार्ग को रोककर दूसरी नहर मे जल छोड देते है तो पहली नहर सूख जाती है इसी तरह अभ्यास तथा वैराग्य से दु खदायी वृत्तियो को सासारिक विषयो से मोडकर कल्याण-सागर मे ले जाते है (१ १२)।

योगशास्त्र के आचार्यों ने आध्यात्मिक साधना मे आयुर्वेद की प्रणाली को अपनाया है। वैद्य रोग के सम्बन्ध में चार बातो को जानना आवश्यक मानता है - रोग का लक्षण, रोग के कारणो का निदान रोग से मुक्ति का स्वरूप और रोग को दूर करने का उपाय। इसी तरह योगशास्त्र मे ज्ञातव्य है - हेय, हेय हेतु, हान और हानोपाय। यहा गुरू का साहचर्य भी आवश्यक है। आचार्यश्री ने मूक माटी मे इस प्रणाली को अपनाया है और मुक्ति प्राप्ति मे इन चारो सोपानो पर चर्चा की है। वहा गुरू के महत्त्व को और आहार के पथ्य-अपथ्य को भी निर्दशित किया है तो पथ्य का सही पालन हो तो औषध की आवश्यकता ही नही और यदि पथ्य का पालन नही हो तो भी औषधि की आवश्यकता नही (पृ ३९७)। प्राकृतिक चिकित्सा को अहिंसापरक चिकित्सा पद्धति (पृ ४०८) बताना भी इसी तथ्य का सूचक है।

आचार्यश्री ने धर्म-अधर्म की बड़ी सुन्दर परिभाषा की है जो अहिंसा की भी व्याख्या व्यावहारिक स्तर पर करती दिखाई दे रही है -

सहज प्राप्त शक्ति का / सदुपयोग करना है, धर्म है ।
और, दुष्टों का निग्रह नहीं करना
शक्ति का दुरुपयोग करना है, अधर्म है /
मेरे .दोषों को जलाना ही
मुझे जिलाना है,
स्व-पर दोषों को जलाना
परम - धर्म माना है सन्तो ने ।(पृ. २७७)

धर्म योग से अनुस्यूत है। योग के आठ अग माने गये हैं - यम नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि। पातञ्जलि ने पांच यम गिनाये हैं - अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन पाचो यमो पर हर धर्म ग्रन्थ में विवेचन मिलता है। जैनधर्म मे इनकी गणना पचव्रतो मे की गई है। मूक माटी मे भी प्रासगिक रूप से इनकी व्याख्या हुई है। यहा हम इनमे से मात्र अहिंसा और अपरिग्रह पर विचार कर रहे हैं जो नियम सयम के अन्तर्गत व्याख्यायित हुए हैं। ये दोनो तत्त्व जैनधर्म के मुख्य अग रहे होगे और इनमे भी अपरग्रह मूल अग रहा होगा । आचार्यश्री ने इन दोनो अगो के महत्त्व को इस प्रकार आका है -

नियम संयम के सम्मुख / असयम ही नहीं यम भी
अपने घुटने टेक देता है / हार स्वीकारना होती है
नभश्चरों सुरासुरों की। (पृ २६९)

अहिंसा

अहिंसा अपरिग्रह की भूमिका है। वह समत्व पर प्रतिष्ठित है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावों का अनुवर्तन, ममता और अपरिग्रह का अनुचिंतन, नय और अनेकान्त का अनुग्रहण तथा संयम और सच्चरित्र का अनुसाधन अहिंसा के प्रमुख रूप हैं। उसकी पुनीत प्राप्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पर अवलंबित है। इसी चारित्र को धर्म कहा गया है। यही धर्म सम है। वह समत्व राग-द्वेषादिक विकारों के प्रनष्ट होने पर उत्पन्न होने वाला विशुद्ध आत्मा का परिणाम है। धर्म से परिणत

आत्मा को ही धर्म कहा गया है। धर्म की परिणति निर्वाण है। आचार्य कुन्दकुन्द का यही चिंतन है -

> **सपज्जदि णिव्वाण देवासुरमणुयरायविहवेहिं।**
> **जीवस्स चरित्तादो दसणणाणप्पहाणादो।।**
> **चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।**
> **मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो।।**
>
> **प्रवचनसार १ ६-७**

धर्म वस्तुत आत्मा का स्पन्दन है जिसम कारुण्य, सहानुभूति सहिष्णुता, परोपकार वृत्ति आदि जैसे गुण विद्यमान रहते हैं। वह किसी जाति या सप्रदाय से सबद्ध और प्रतिबद्ध नही। उसका स्वरूप तो सार्वजनिक सार्वभौमिक और लोकमागलिक है। क्योंकि समाज राष्ट और विश्व का अभ्युत्थान इसे ही धर्म की परिसीमा से सभव है।

धर्म और अहिसा म शब्दभद है गुणभद नही। धर्म अहिसा है और अहिसा धर्म है। क्षत्र उसका व्यापक है। अहिसा एक निषेधार्थक शब्द है। विधेयात्मक अवस्था के बाद ही निषधात्मक अवस्था आती है। अत विधिपरक हिसा के अनन्तर इसका प्रयोग हुआ होगा। इसलिए सयम तप दया आदि जैसे मानवीय शब्दो का प्रयोग पूर्वतर रहा होगा।

हिसा का मूल कारण है प्रमाद और कषाय। इसके वशीभूत होकर जीव के मन, वचन कार्य म क्रोधादिक भाव प्रगट होते है जिनसे स्वय के शब्द प्रयोग रूप भाव प्राणो का हनन होता है। कषायादिक तीव्रता के फलस्वरूप उसके आत्मघात रूप द्रव्य प्राणो का हनन होता है इसके अतिरिक्त दूसरे को मर्मान्तिक वेदना दाम अथवा पर-द्रव्यव्यपरोपण भी इन्ही भावोका कारण है। इस प्रकार हिसाके चार भेद हो जाते हैं - स्व-भावहिंसा, स्व-द्रव्यहिसा, पर-भावहिसा और पर-द्रव्यहिसा (पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ४३)। आचार्य उमास्वामी ने इसी को सक्षेप मे "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिसा" कहा है। इसलिए भिक्षुओ को कैसे चलना-फिरना चाहिए, कैसे बोलना चाहिए आदि जैसे प्रश्नो का उत्तर मूलाचार दशवैकालिक आदि ग्रन्थो मे दिया गया है कि उसे यत्नपूर्वक अप्रमत्त होकर उठना-बैठना चाहिए, यत्नपूर्वक भोजन, भाषण करना चाहिए।

कहं चरे? कहं चिट्ठे? कहमासे कहं सए?
कहं भुंजन्तो भासन्तो? पावं कम्मं न बन्धई?
जयं चरे, जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुजन्तो भासन्तो पावं कम्मं न बंधई।।

दशवैकालिक ४, ७-८

हिंसा का प्रमुख कारण रागादिक भाव हैं। उनके दूर हो जाने पर स्वभावत. अहिंसा भाव जाग्रत हो जाता है। दूसरे शब्दो मे समस्त प्राणियो के प्रति सयम भाव ही अहिंसा है - अहिंसा निउण दिट्ठा सव्वभूएसु संजमो (दश वैकालिक ६, ९)। उसके सुख सयम मे प्रतिष्ठित हैं। सयम ही अहिंसा है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के उत्थान के लिए यह आवश्यक है कि वे परस्पर एकात्मक कल्याण मार्ग से आबद्ध रहे। उसमे सौहार्द आत्मोत्थान, स्थायी शान्ति, सुख और पवित्र साधनों का उपयोग होता रहे, यही यथार्थ मे उत्कृष्ट मगल है।

धम्मो मगल मुक्किट्ठ अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमसंति जस्स धम्मे सया मणो।।

दशवैकालिक

मन वचन काय से सयमी व्यक्ति स्व-पर का रक्षक तथा मानवीय गुणो का आगार होता है। शील, सयमादि गुणो से आपूर व्यक्ति ही सत्पुरुष है। जिसका चित्त मलीन व दूषित रहता है वह अहिंसा का पुजारी कभी नही हो सकता। जिस प्रकार घिसना, छेदना, तपाना, रगड़ना इन चार उपायो से स्वर्ण की परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार श्रुत, शील, तप और दया रूप गुणो के द्वारा धर्म एव व्यक्ति की परीक्षा की जाती है -

संजमु सीलु सउज्जु तवु सूरि हि गुरु सोई।
दाह छेदक सघायसु उत्तम कंचणु होई।।

भाव पाहुड १४३ की टीका.

जीवन का सर्वांगीण विकास करना सयम का परम उद्देश्य रहता है। सूत्रकृतांग में इस उद्देश्य को एक रूपक के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया गया है। जिस प्रकार कछुआ निर्भय स्थान पर निर्भीक होकर चलता फिरता है किन्तु भय की आशका होने पर शीघ्र ही अपने अग-प्रत्यंग प्रच्छन्न कर लेता है, और भय-विमुक्त होने पर पुनः

अंग-प्रत्यग फैलाकर चलना - फिरना प्रारंभ कर देता है, उसी प्रकार संयमी व्यक्ति अपने साधना मार्ग पर बडी सतर्कता पूर्वक चलता है। सयम की विराधना का भय उपस्थित होने पर वह पचेन्द्रियो व मन को आत्मज्ञान (अंतर) में ही गोपन कर लेता है -

जहा कुम्मे स अगाइ सए देहे समाहरे।
एवं पावाइ मेहावी अज्झप्पेण समाहरे ।। सूत्रकृताग,१ ८ ६

सयमी व्यक्ति सर्वोदयनिष्ठ रहता है। वह उस बात का प्रयत्न करता है कि दूसरे के प्रति वह ऐसा व्यवहार करे जो स्वय को अनुकूल लगता हो। तदर्थ उसे मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावना का पोषक होना चाहिए। सभी सुखी और निरोग रहें, किसी को किसी प्रकार का कष्ट न हो, ऐसा प्रयत्न करे।

सर्वे पि सुखिन सन्तु सन्तु सर्वे निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु खमाप्नुयात् ।।
मा कार्षीत् कोऽपि पापानि मा च भूत कोऽपि दु खत ।
मुच्यतां जगदप्येषा मति मैत्री निगद्यते।।
यशस्तिलकचम्पू उत्तरार्ध

दूसरो के विकास मे प्रसन्न होना प्रमोद है। विनय उसका मूल साधन है। ईर्ष्या उसका सबसे बडा अन्तराय है। कारुण्य अहिसा भावना का प्रधान केन्द्र है। दु खी व्यक्तियो पर प्रतीकात्मक बुद्धि से उनके उद्धार की भावना ही कारुण्य भावना है। माध्यस्थ्य भावना के पीछे तटस्थ बुद्धि निहित है। नि शक होकर क्रूर कर्मकारियो पर, आत्मप्रशसको पर, निदको पर उपेक्षा भाव रखना माध्यस्थ भाव है। इसी को समभाव भी कहा गया है। समभावी व्यक्ति निर्मोही, निरहकारी, निष्परिग्रही, त्रस-स्थावर जीवो का सरक्षक तथा लाभ-अलाभ मे, सुख-दु ख में, जीवन-मरण में, निन्दा-प्रशंसा में, मान-अपमान में विशुद्ध हृदय से समद्रष्टा होता है। समभावी व्यक्ति ही मर्यादाओं व नियमो का प्रतिष्ठापक होता है। वही उसकी समाचारिता है। वही उसकी सर्वोदयशीलता है।

महावीर की अहिसा पर विचार करते समय एक प्रश्न हर चिन्तक के मन मे उठ खडा होता है कि ससार में जब युद्ध आवश्यक हो जाता है तो उस समय साधक अहिसा का कौन-सा रूप अपनायेगा। यदि युद्ध नहीं करता है तो आत्मरक्षा और राष्ट्ररक्षा दोनों खतरे में पड जाती है और यदि युद्ध करता है तो अहिसक कैसा? इस प्रश्न का समाधान

जैन चिन्तको ने किया है। उन्होंने कहा है कि आत्मरक्षा और राष्ट्ररक्षा करना हमारा कर्तव्य है। चन्द्रगुप्त, चामुण्डराय, खारवेल आदि जैसे धुरन्धर जैन अधिपति योद्धाओं ने शत्रुओं के शताधिक बार दांत खट्टे किए हैं। जैन साहित्य मे जैन राजाओं की युद्धकला पर भी बहुत कुछ लिखा मिलता है। बाद में उन्ही राजाओ को वैराग्य लेते हुए भी प्रदर्शित किया गया है। यह उनके अनासक्ति भाव का सूचक है। अतः यह सिद्ध है कि रक्षणात्मक हिंसा पाप कारण नही है। ऐसी हिंसा को तो वीरता कहा गया है। यह विरोधी हिंसा है। चूर्णियो और टीकाओं में ऐसी हिंसा को गृहस्थ के लिए गर्हित नही माना गया है। सोमदेव ने इसी स्वर में अपना स्वर मिलाते हुए स्पष्ट कहा है।

य शस्त्रवृत्ति समरे रिपु स्यात्
य कण्टको वा निजमण्डलस्य।
तमेव अस्त्राणि नृपेषु क्षिप्तानि
न दीनकालीनकदाशयेषु।।

स्व-पर ज्ञानी साधक समताधारी होता है, निर्भय होता है। पर आवश्यकता पडने पर वह हाथ भी क्यो नही उठा सकता है और कलियुग मे क्यों नही सतयुग ला सकता है? यह प्रश्न मूक माटी के पात्र कलश के मन में उठता है जो एक साधारण जन को प्रतिनिधित्व करता है व्यगात्मक स्वर मे -

कोष के श्रमण बहुत बार मिले हैं/ होश के श्रमण होते विरले ही /और/ उस समता से क्या प्रयोजन/ जिसमे इतनी भी क्षमता नहीं है जो समय पर / भयभीत को अभय दे सके/ श्रय-रीत को आश्रय दे सके/ यह कैसी विडम्बना है? भयभीत हुए बिना/ श्रमण का भेष धारण कर/ अभय का हाथ उठा कर/ शरणागत को आशीष देने की अपेक्षा/ अन्याय मार्ग का अनुसरण करने वाले/ रावण जैसे शत्रुओं पर/ रणांगण मे कूदकर/ राम जैसे/ श्रमशीलो का हाथ उठाना ही/ कलियुग मे सतयुग ला सकता है/ धरती पर -- यहीं पर/ स्वर्ग को उतार सकता है/ श्रम करे सो श्रमण / ऐसे कर्महीन् कगाल के लाल लाल-गाल को / पागल से पागल शृगाल भी / खाने की बात तो दूर रही/ छूना भी नहीं चाहेगा/ (पृ ३६१-६२)

यह प्रश्न एक साधारण गृहस्थ के संदर्भ में हो सकता है पर साधु के संदर्भ में नहीं। साधु किसी भी जीव का अपघात नही कर सकता। हा, गृहस्थ के लिए विरोधी हिंसा कथञ्चित् मान्य हो सकती है। सागारधर्मामृत की टीका (४ ५)मे लिखा है -

दण्डो हि केवलो लोकमिम चामु च रक्षति।
राजा शत्रौ च पुत्रे च यथा दोष सम धृत ।।

जैनधर्म म हिसा दो प्रकार की बताई गई है - आरभी और अनारभी। बाद में सकल्पी और विरोधी का जोडकर चार प्रकार की हिसा हो गई है। गृहस्थ श्रावक चूकि इस प्रकार की हिसा से बच नही पाता इसलिए वह किसी सीमा तक अनासक्त भाव से उसे कर सकता है। लगभग दसवी शती म विरोधी हिसा को भी विहित मान लिया गया है जो परिस्थिति सापेक्ष दिखाई देती है गृहस्थ के लिए।

आचार्यश्री ने भी धर्म - अधर्म की व्याख्या म दुष्टो का निग्रह नही करना शक्ति का दुरुपयोग करना है, अधर्म है (पृ २७७)यह स्पष्ट कहा है। यह व्याख्या परिस्थिति सापेक्ष है कायरता नही, वीरता की निशानी को द्योतित करने वाली है। एक ओर दया का होना जीव-विज्ञान का सम्यक् परिचय माना है(पृ ३७) अहिसा को उपास्य देवता स्वीकार किया है (पृ ८४) और पदाभिलाषी बनकर पार के ऊपर पदपात न करू(पृ ११५) का भाव व्यक्त किया है वही दुष्टो के निग्रह करने का आह्वान करना एक अहमियत रखता है। अहिसा की यही यथार्थ व्याख्या है। सयम का भी यही स्वरूप है।

अपरिग्रह

व्यक्ति और समाज परस्पर आश्रित है। एक दूसरे के सहयोग के बिना जीवन का प्रवाह गतिहीन-सा हो जाता है। (परस्परोपग्रहो जीवानाम्) प्रगति सहमूलक होती है सघर्षमूलक नही। व्यक्ति-व्यक्ति के बीच सघर्ष का वातावरण प्रगति के लिए घातक होता है। एस घातक वातावरण के निर्माण मे सामाजिक विषम वातावरण प्रमुख कारण होता है। तीर्थ कर महावीर ने इस तथ्य की मीमासाकर अपरिग्रह का उपदेश दिया और सही समाजवाद की स्थापना की।

समाजवादी व्यवस्था मे व्यक्ति को समाज के लिए कुछ उत्सर्ग करना पडता है। दूसरो के सुख के लिए स्वय के सुख को छोड देना पडता है। सासारिक सुखो का मूल साधन सपत्ति का सयोजन होता है। इस सयोजन की पृष्ठभूमि में किसी न किसी प्रकार

का राग, द्वेष मोह आदि विकार भाव होता है। सपत्ति के अर्जन में सर्वप्रथम हिसा होती है। बाद में उसके पीछे झूठ चोरी, कुशील अपना व्यापार बढाते हैं। सपत्ति का अर्जन परिग्रह है और परिग्रह ही ससार का कारण है।

जैन सस्कृति वस्तुत मूलरूप से अपरिग्रहवादी सस्कृति है। जिन, निर्ग्रन्थ वीतराग जैसे शब्द अपरिग्रह के ही द्योतक है। अप्रमाद का भी उपयोग इसी सदर्भ में हुआ है। मूर्च्छा को परिग्रह कहा गया है। यह मूर्च्छा प्रमाद है और प्रमाद कषायजन्य भाव है। राग-द्वेषादि भाव से ही परिग्रह की प्रवृत्ति बढती है। मिथ्यात्व-कषाय, नोकषाय, इन्द्रिय विषय आदि अन्तरंग परिग्रह हैं और धन-धान्यादि बाह्यपरिग्रह हैं। ये आस्रव के कारण हैं। इन कारणों से ही हिसा होती है। प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिसा। यह हिंसा कर्म है और कर्म परिग्रह है। आचार्यश्री ने मिथ्यात्व को अकिञ्चित्कर बताकर इस तथ्य को और भी स्पष्ट कर दिया है।

आचारागसूत्र कदाचित् प्राचीनतम आगम ग्रन्थ है जिसका प्रारम्भ ही शस्त्रपरिज्ञा से होता है। शस्त्र का तात्पर्य है हिसा। हिसा के कारणो की मीमा सा करते हुए वहा स्पष्ट किया गया है कि व्यक्ति वर्तमान जीवन के लिए, प्रशसा-सम्मान और पूजा के लिए, जन्म-मरण और मोचन के लिए दु ख-प्रतिकार के लिए तरह-तरह की हिसा करता है। द्वितीय अध्ययन लोकविजय मे इसे और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि सासारिक विषयो का सयोजन प्रमाद के कारण होता है। प्रमादी व्यक्ति रात दिन परितप्त रहता है, काल या अकाल मे अर्थार्जन का प्रयत्न करता है संयोग का अर्थी होकर और अर्थ लोलुपी चोर या लुटेरा हो जाता है लालची होकर। उसका चित्त अर्थार्जन में ही लगा रहता है। अर्थार्जन में सलग्न पुरुष पुन पुन शस्त्रसहारक बन जाता है। परिग्रही व्यक्ति मे न तप होता है, न शान्ति और न नियम होता है। वह सुखार्थी होकर दु ख को प्राप्त करता है।

इस प्रकार ससार का प्रारम्भ आसक्ति से होता है और आसक्ति ही परिग्रह है। परिग्रह का मूल साधन हिसा है। झूठ, चोरी कुशील उसके अनुवर्तक है और परिग्रह उसका फल है। अत जैन सस्कृति मूलत. अपरिग्रहवादी सस्कृति है जिसका प्रारम्भ अहिसा के परिपालन से होता है। महावीर ने अपरिग्रह को ही प्रधान माना है।

आधुनिक युग में मार्क्स साम्यवाद के प्रस्थापक माने जाते हैं। उन्होंने लगभग वही बात कही है जो आज से २५०० वर्ष पूर्व तीर्थंकर महावीर कह चुके थे। तीर्थंकर

महावीर ने ससार के कारणों की मीमासाकर, उनसे मुक्त होने का उपाय भी बताया पर मार्क्स से आधे रास्ते पर ही खडे रहे। दोनो महापुरुषो के छोर अलग-अलग थे। महावीर ने आत्मतुला की बात कर समविभाजनकी बात कही और हर क्षेत्र में मर्यादित रहने का सुझाव दिया। परिमाणव्रत वस्तुत सपत्ति का आध्यात्मिक विकेन्द्रीकरण है और अस्तित्ववाद उसका केन्द्रीय तत्त्व है। जबकि मार्क्स वादमें ये दोनो तत्त्व नहीं है।

परिग्रही वृत्ति व्यक्ति को हिसक बना देती है। आज व्यक्ति-निष्ठा कर्तव्यनिष्ठा को चीरती हुई स्वकेन्द्रित होती चली जा रही है। राजनीति और समाज मे भी नये-नये समीकरण बनते चल आये है। राजनीति का नकारात्मक और विध्वसात्मक स्वरूप किकर्तव्य विमूढ-सा बना रहा है। परिग्रह लिप्सा से आसक्त असामाजिक तत्त्वो के समक्ष हर व्यक्ति घुटने टेक रहा है। डग-डग पर असुरक्षा का भान हो रहा है। ऐसा लगता है, सारा जीवन विषाक्त परिग्रही राजनीति मे उदरस्थ हो गया है। वर्गभेद, जातिभेद, सप्रदायभद जैसे तीखे कटघरे परिग्रह के धूमिल साये मे स्वतन्त्रता / स्वच्छन्दता पूर्वक पल-पुस रहे है।

इस हिसकवृत्ति से व्यक्ति तभी विमुख हो सकता है जब वह अपरिग्रह के सोपान पर चढ जाये परिग्रहपरिमाणव्रत का पालन साधक को क्रमश तात्त्विक चित्तन की ओर आकर्षित करगा और तभी समता भाव तथा समविभाजन की प्रवृत्ति का विकास होगा।

मूक माटी मे अपरिग्रह के सदर्भ मे अनेक प्रसग आये हैं। वहा "**हम निर्ग्रन्थ पथ के पथिक है / इसी पन्थ की हमारे यहा/ चर्चा अर्चा प्रशसा /सदा चलती रहती है** (पृ ६४) इन शब्दो मे अपरिग्रह का भाव भरा हुआ है। मुह मे राम बगल में छुरी (पृ ७२), कलियुग की पहचान (पृ ८२), राजसत्ता राजसता की राजधानी है (पृ १०४), मे परिग्रह का ही विश्लेषण है। तृतीय खण्ड का प्रारभ परिग्रह की निन्दा से होता है -

> **पर-सम्पदा की ओर दृष्टि जाना / अज्ञान को बताता है, / और /**
> **पर-सम्पदा हरण कर सग्रह करना / मोह-मूर्च्छा का अतिरेक है**
> **यह अति निम्न-कोटि का कर्म है / स्व-पर को सताना है,**
> **नीच-नरको मे जा जीवन बिताना है। (पृ १८९)**
> **अर्थ की आखे परमार्थ को देख नहीं सकतीं / अर्थ की**

लिप्सा ने, बड़ों-बड़ो को निर्लज्ज बनाया है (पृ.१९२)

गणतन्त्र या धनतन्त्र (पृ.२७१), सेठ का रूप-स्वरूप (पृ.३०२), स्वर्णकलश मशाल सम्मान (पृ.३६७-७१) आदि जैसे प्रसगो में परिग्रह की निन्दा और निर्ग्रन्थ या अपरिग्रह अवस्था की प्रशसा की गई है।

लेश्या और आभामण्डल

व्यक्ति अनेक चित्त वाला होता है, - अणेगचित्ते खलु अय पुरिसे। उसके भाव समय, प्रकृति और परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते हैं। सक्लेश परिणामो के कारण वह बुरा हो जाता है और असक्लेश परिणामो के कारण उसकी प्रकृति शान्त रहती है। एक मे मूर्च्छा का दबाव रहता है तो दूसरे मे जागरण और विवेक काम करता है। जागरण और विवेक से उपशमन और क्षय की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। इस प्रक्रिया में आत्मा के अस्तित्व पर जबर्दस्त आस्था होना आवश्यक है।

आत्मा अथवा चेतन तत्त्व के साथ अचेतन शरीर तत्त्व ससारी जीव के साथ जुड़ा हुआ है। चेतन तत्त्व चित्त के आगे खडा है जिसके चारो ओर कषाय का वलय अपनी पूरी शक्ति के साथ जमा रहता है। उसके चारो ओर एक अध्यवसाय का तन्त्र होता है जो सभी जीवो मे विद्यमान रहता है। मन सभी मे नही रहता । ये अध्यवसाय या भाव शुद्ध और अशुद्ध दोनो प्रकार के होते हैं जिनमे कर्मबन्ध होता है । कर्मशरीर और तैजस शरीर का सम्बन्ध भी अध्यवसाय से रहता है। यही से ज्ञान का स्रोत प्रवाहित होता है। अध्यवसाय का सम्बन्ध चित्त से होता है और चित्त का निर्माण मस्तिष्क से होता है। अध्यवसाय और चित्ततन्त्र के बीच स्थूल शरीर अभिव्यक्ति का साधन है। ज्ञान उसी के माध्यम से व्यक्त होता है। चित्ततन्त्र ज्ञेय को जानने का साधन मात्र है। अध्यवसाय या भावधारा चित्त पर उतरती है जो रग के परमाणुओ से प्रभावित होती है । भाव का निर्माण भी इसी से होता है जिसे पारिभाषिक शब्दावली में लेश्यातन्त्र या भावतन्त्र कहा जाता है। इसी से सारा नाडी सस्थान और मस्तिष्क प्रभावित होता है और उससे शरीर भी प्रभावित हुए बिना नही रहता। इस क्रिया तन्त्र के तीन अग हैं - मन वचन और शरीर । ये तीनो चित्ततन्त्र और भावतन्त्र के निर्देशो का पालन करते हैं। उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नही है ।

हमारी सारी यात्रा स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है। भावो का जन्म भी सूक्ष्म जगत् मे होता है और उनकी अभिव्यक्ति स्थूल शरीर मे होती है। क्रोध भाव नही हैं, क्रोधी तरग है । अध्यवसाय का तात्पर्य है सूक्ष्म चैतन्य का स्पन्दन जहाँ क्रोध की तरग पहुचती है। जब

यह तरंग सघन होकर भाव का रूप लेती है तब उसे लेश्या कहते हैं और यही भाव जब सघन हो जाता है तो वह क्रिया का रूप ले लेता है। इसका तात्पर्य है कषाय की स्थिति, उसकी शुद्धता-अशुद्धता पर हमारे अध्यवसाय की शुद्धता-अशुद्धता अवलम्बित होती है। इसीसे हमारा आभामण्डल बनता है।

कषाय को मन्द करने का उपाय है साधना आत्मनियन्त्रण, तप, परीषह सहन, उपवास। इसके लिए साधक को अपनी आदतो मे परिवर्तनकर शरीर की साधना करनी पडती है, उसे अपनी साधना के अनुकूल बनाना पडता है जो कायोत्सर्ग द्वारा ही सभव होता है। आत्मनियत्रण का एक और सूत्र है प्रतिसलीनता अर्थात् जो हो रहा है उसके क्रम को बदलना। इसमे साधक क्रोधादि कषायो के निमित्तो से बचने का उपाय करता है। इस बचाव को ही आत्मनियन्त्रण कहते हैं और आत्मनियत्रण के बिना आत्मशोधन हो नही सकता। उसके लिए अहकार और ममकार का विसर्जन करना नितान्त आवश्यक है। यह विसर्जन स्वाध्याय और तप द्वारा हो पाता है।

तप आदि का केन्द्र है हमारा स्थूल शरीर जिसे हमने जीव या आत्मा मान लिया है। यही से व्यक्ति सूक्ष्म तक पहुँच पाता है। इसके लिए दस केन्द्र माने गये हैं - गति, इन्द्रिय कषाय, लेश्या, योग उपयोग, ज्ञान, दर्शन , चारित्र और वेद। इन सस्थानो से ही जीव की पहचान हो पाती है।

इन सस्थानो मे लेश्या सस्थान बडा महत्त्वपूर्ण है। हर पदार्थ मे एक ओरा होती है जहाँ से रश्मियाँ विकीर्ण होती है। अचेतन तत्त्व का यह ओरा स्थिर रहता है पर सचेतन तत्त्व का ओरा परिवर्तित होता रहता है। इस ओरा का नियामक तत्त्व है लेश्या। लेश्या दो प्रकार की होती है - द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। हमारा स्थूल शरीर औदारिक शरीर है, लेश्या तैजस शरीर है और अध्यवसाय कार्मण शरीर है अतिसूक्ष्म सस्थान है। शरीर का वर्ण द्रव्यलेश्या है और कषाय के उदय से अनुरजित मन-वचन-काय रूप योग की प्रवृत्ति भावलेश्या है। लेश्या छह प्रकार की होती है - कृष्ण नील कापोत तेज या पीत पद्म और शुक्ल। कषायो के उदय से ये लेश्याये तीव्र मन्द होती रहती हैं।

भाव से विचार और विचार से व्यवहार या क्रिया होती है। भाव स्नायविक या शारीरिक प्रवृत्ति नही है शारीरिक प्रवृत्तियाँ हैं विचार और क्रिया की। स्नायविक क्रियाओ का त्याग और नियन्त्रण हो सकता है। भाव लेश्या का केन्द्र चेतना है। उसका

नियन्त्रण नहीं, शोधन होता है। यही शोधन रूपान्तरण है। व्यक्तित्व की कसौटी भी यही भाव जगत् है, व्यवहार जगत् नहीं है। हमारा आभामण्डल भावों को पकड लेता है। रूपान्तरण व्यवहार के नियन्त्रण मे होता है, विधि और निषेध के संयुक्त प्रयत्नो से होता है, लेश्या की चेतना के स्तर पर होता है। पच सग्रह (१-१९२) मे इस चैतमास्तर का अच्छा उदाहरण दिया गया है। कोई पुरुष वृक्ष क फलो को जड़मूल मे उखाडकर कोई स्कन्ध से काटकर कोई गुच्छा को तोडकर, कोई शाखा को काटकर, कोई फलों को चुनकर और कोई गिरे हुए फलो को बीनकर खाना चाहे तो उसके भाव उत्तरोत्तर विशुद्ध हैं। उसी प्रकार कृष्णादि छहो लेश्यायो क भाव भी क्रमश उत्तरोत्तर विशुद्ध माने जाते हैं ।

हमारी यह यात्रा स्थूल शरीर स प्रारभ होती है। यहाँ रगो का बडा महत्त्व है। कृष्ण, नील और कापोत रग क्रमश हिंसा आदि असत् कार्य, रस लोलुपता, और वक्रता - क्रोधादि भावो का आकर्षित करते है और पीत, पद्म और शुक्ल रग शुद्ध और अध्यात्म की ओर ले जाते हे।

हमारे शरीर के दो भाग हैं-नाडी तन्त्र और ग्रन्थि तन्त्र। हमारी सारी आदतो का जन्म ग्रन्थितन्त्र से होता है और उनकी अभिव्यक्ति नाडी तन्त्र से होती है। वृत्तियो का केन्द्र है लेश्यातन्त्र। प्रथम तीन लेश्याओ स क्रूरतामयी भावो का जन्म होता है आर अन्तिम तीन लेश्याये जितेन्द्रियता और आध्यात्मिक साधना की आवाहिका होती है। क्रूरतामयी भावो की उत्पत्ति अधिवृक्क ग्रन्थियां (एड्रीनल ग्लेण्ड्स)तथा जनन ग्रन्थियां (गोनाड्स)मे होती हैं जो योगशास्त्र की परिभाषा मे स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूरचक्र और अनाहतचक्र कहलाते है। नाभि के ऊपर का भाग ऊर्ध्व लोक कहलाता है, नाभिभाग तिर्यक् या मध्यलोक कहलाता है और नाभि के नीचे का भाग अधोलोक कहलाता है। सारी बुरी वृत्तियो का जन्म नाभि क नीचे के भाग मे होता है। इसलिए कहा जाता है कि मन् को नाभि क ऊपर ले जाना चाहिए। वही ऊर्ध्व गमण है, वही से अध्यात्मयात्रा शुरू होती है। वही तेजो लेश्या है पीला रग है। ध्यान के माध्यम से यही स परिवर्तन प्रारभ हो जाता है।

ध्यान मे कायोत्सर्ग और अनुप्रेक्षा पर विशेष बल दिया जाता है। विवेक पूर्वक दर्शनकेन्द्र (भृकुटियो के बीच का स्थान) पर ध्यान किया जाता है और रगो का चिन्तन किया जाता है। यहाँ हम लेश्याओ के प्रतीक रगो के परिणमन के बारे में समझ ले -

१ कृष्ण लेश्या (काला रग) - निर्दयता नृशसता, अविरति, क्षुद्रता आदि।

२. नील लेश्या (नीला रग) - ईर्ष्या, कदाग्रह, अज्ञान, माया, निर्लज्जता, विषय-वासना, क्लेश, रसलोलुपता आदि ।

३ कापोत लेश्या (कबूतर रग) - वक्रता, परिग्रहभाव, स्वदोषावरण प्रवृत्ति, मिथ्या-दृष्टिकोण, अप्रिय कथन।

४. पीत लेश्या (पीला रग) - दर्शनशक्ति वृद्धि कारक प्रसन्नता का प्रतीक, मस्तिष्क और नाडी सस्थान को बलदायक।

५ पद्म लेश्या (लाल रग) - अग्नितत्त्व, प्रतिरोधात्मक शक्ति का प्रतीक, अध्यात्मजनक।

६ शुक्ल लेश्या (सफेद रग)- परम विशुद्ध अवस्था।

प्रथम तीन लेश्यायें अप्रशस्त हैं अन्धकार की प्रतीक है और अन्तिम तीन लेश्याये प्रशस्त लेश्याये प्रकाश की प्रतीक हैं। पीत या तेजो लेश्या से आध्यात्मिक यात्रा का प्रारभ होता है और शुक्ल लेश्या मे साधक विशुद्ध अवस्था को पा लेता है। आर्त और रौद्र ध्यान मे लेश्याये विकृत हो जाती है और धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मे वे शुद्ध हो जाती हैं ।

सासारिक सुख-दु ख चेतनाशक्ति की अनुभूति है। मूर्च्छा, मिथ्यादृष्टि और आसक्ति के कारण व्यक्ति इष्ट-वियोग और अनिष्ट-सयोग के हो जाने से तनावग्रस्त हो जाता है । उस तनाव से मुक्त होने के लिए तत्त्व-चिन्तन और यथार्थ दृष्टि की आवश्यकता होती है। ध्यान यह दृष्टि देता है समता भाव पैदा करता है पदार्थ का विश्लेषण (विचय) करता है वृत्तियो की निर्जरा करता है और निर्विचार हो जाने की साधना करता है। यह तेजोलेश्या की स्थिति है। पद्मलेश्या मे बुरे विचार नही आ पाते और शुक्ललेश्या का जब आभामण्डल बनता है तब बाहर का सारा सक्रमण बन्द हो जाता है। ध्यान ऐसी ही प्रक्रिया प्रस्तुत करता है जिससे मूर्च्छा दूर हो जाती है और व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास प्रारम्भ हो जाता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने 'आभामण्डल' मे इसे और भी अधिक स्पष्ट किया है ।

मूक माटी मे यह आध्यात्मिक विकासयात्रा प्रारभ मे ही प्रतिबिम्बित हुई है । सिन्दूर धूल उडती सी प्राची की मधुरिम मुस्कान, उषा की प्रकाश-रश्मियां पीत लेश्या का प्रतीक है जहां मुक्ति-कामना जागृत होती है और जिज्ञासा भरा सकल्प रगीन-राग की

आशा के साथ उठ खड़ा होता है (पृ १८-१९) और यह माटी रूप शिष्य भी पीत पद्म लेश्या धारी है। ओला की वर्षा का प्रसग अशुभ लेश्या तथा गन्धवान् पवन सद्भावो का संघात और पौधे पर लगा फूल शुभ लेश्या का प्रतीक है। विभाव रूप ककर, आराधना और रस्सी के बीच गाँठ का आना (पृ ६४) कृष्ण और नील लेश्या का प्रतीक हैं। कुम्भ के तपने की प्रक्रिया प्रशस्त लेश्या का प्रतीक है। आतकवाद अन्त और आनन्दवाद का श्रीगणेश भी यही ध्वनित करता है। तीन घन बादलो (पृ २२७-३०) के वर्णन में क्रमश कृष्ण, नील और कापोत लेश्या की प्रकृति की मीमांसा हुई है। उसके बाद प्रभाकर के माध्यम से प्रशस्त लेश्याओ को चित्रित किया गया है जहाँ अमन की स्थिति आ जाती है। इन सारे सदर्भो में "जैसी सगति मिलती है वैसी मति होती है"(पृ. ८) जैसे प्रसग आभामण्डल को स्पष्ट करते चले जाते हैं। मूक माटी के एतत् सम्बन्धी उद्धरण हम पीछे दे चुके हैं।

ध्यान और योग-साधना

ध्याता का ध्येय के साथ सयोग हो जाना योग है। चित्तवृत्तियों के विरोध से साधक समाधिस्थ हो जाता है और तदाकारमय हो जाता है। पतञ्जलि के अष्टांग योग की तुलना हम जैन योगसाधना से निम्नप्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं -

१ यम	महाव्रत जिनकी सख्या पाँच है,
२ नियम	मूलगुणो और उत्तरगुणों का पालन करना
३. कायक्लेश	विभिन्न प्रकार के तप करना, परीषह सहन करना
४ प्राणायाम	जैनधर्म मे मूलत हठयोग का कोई स्थान नही पर उत्तर काल मे उसका समावेश हो गया
५. प्रत्याहार	प्रतिसलीनता अर्थात् अप्रशस्त से प्रशस्त चित्तवृत्तियो की ओर आना
६. धारणा	पदार्थ - चिन्तन
७. ध्यान	चार प्रकार के ध्यान
८ समाधि	धर्मध्यान और शुक्लध्यान

धर्मध्यान और शुक्लध्यान के योगी को ध्याता कहते हैं। यह ध्याता प्रज्ञापारमिता, बुद्धिबलयुक्त, जितेन्द्रिय, सूत्रार्थावलम्बी, धीर, वीर, परीषहजयी, विरागी, ससार से भयभीत और रत्नत्रयधारी होता है। सप्त तत्त्व, नव पदार्थ, रत्नत्रय, बारह भावनाये उसके ध्येय के विषय रहते है। उन पर चिन्तन करता हुआ ध्याता ध्यान के माध्यम से परमपद रूप ध्यान के फल को प्राप्त कर लेता है। (पृ २८६)।

तप-परीषह के बिना साधना पूरी नही होती - **परीषह - उपसर्ग के बिना कभी / स्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि / न हुई ,न होगी / त्रैकालिक सत्य है यह (पृ २६६)** । यही साधक की यात्रा है ।

जल और ज्वलनशील अनल मे / अन्तर शेष रहता ही नहीं /
साधक की अन्तर-दृष्टि में। निरन्तर साधना की यात्रा
भेद से अभेद की ओर / वेद से अवेद की ओर
बढती है, बढनी ही चाहिए / अन्यथा /
वह यात्रा नाम की है /
यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है। (पृ २६७)

ध्यान मे आसन के बाद प्राणायाम का क्रम आता है। इस क्रिया के तीन अग हैं पूरक अर्थात् सास को भीतर खीचना रेचक अर्थात् सास को बाहर निकालना और कुम्भक अर्थात सास को रोकना। कुम्भक दो प्रकार मे होता है। एक तो पूरक करके सास को भीतर रोकना तथा दूसरा रेचक करके उसको बाहर रोकना। पहले को अभ्यन्तर और दूसरे को बाह्य कुम्भक कहते है। समाधि के क्षेत्र मे कुम्भक को ही प्रधानता दी जाती है । आचार्यश्री ने इसका काव्यात्मक वर्णन किया है -

लो ! कुम्भक प्राणायाम/अपने आप घटित हुआ / होठो को चबाती-सी मुद्रा/दोनों बाहुओं मे/ नसों का जाल वह/ तनाव पकड रहा है/ त्वचा मे उभार सा आया है/ पर, गाँठ खुल नही रही है/ अगूठो का बल/ घट गया है/ दोनों तर्जनी / लगभग शून्य होने को है/ और नाखून / खूनदार हो उठे है/ पर गाँठ खुल नहीं रही है/ (पृ ५९)

चित्त और नाडी संस्थान अन्योन्याश्रित हैं। चित्त के चचल होने से नाडी संस्थान और नाडी संस्थान के चचल होने से चित्त चचल होता है। शरीर में नाडियों की संख्या लगभग तीन लाख है। उनमें चौदह नाडियाँ प्रमुख मानी जाती हैं - सुषुम्ना, इडा, पिंगला, गान्धारी, हस्त-जिह्विका, कुहु, सरस्वती, पूषा, शंखिनी, पयस्विनी, वरुणा, अलम्बुसा, विश्वोदरी और यशस्विनी। इनमें इडा, पिंगला तथा सुषुम्ना विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

मेरुदण्ड के भीतर जो नाडी रज्जु हो उसे सुषुम्ना कहते हैं मेरुदण्ड के खोखले भाग में ही ब्रह्मनाडी की स्थिति बताई गई है। सुषुम्ना से ही शरीरस्थ समस्त नाडियाँ सम्बन्धित है। इडा सुषुम्ना के बाये भाग मे तथा पिड्गला दाये मे अवस्थित हैं। जहा बहुत - सी नाडिया मिलती है उनको चक्र कहते हैं। ऐसे चक्र बहुत हैं शरीर मे पर योगाभ्यास की दृष्टि से छः चक्रो का विशेष महत्व है जो सीवन (योनिभाग)मे, लिगमूल मे नाभि मे हृदय मे कठ मे और भ्रूमध्य मे स्थित हैं और क्रमश उनको मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र कहा जाता है। ये सब चक्र कुण्डलिनी शक्ति के ही अग है। कुण्डलिनी पराशक्ति का स्वरूप है वह नागिन के आकार की है और शरीर मे साढ तीन लपेटे मारकर नाभि मे बैठी रहती है। योगाभ्यास से उसे जगाया जाता है जो जागने पर चक्रो से होती हुई अन्त मे सहस्रार अर्थात् ब्रह्म के स्थान पर पहुँच जाती है। यही कुण्डलिनी जागरण कहलाता है जो कुम्भक द्वारा ही सभव है। कुण्डलिनी वाक् का ही दूसरा नाम है। वही पराशक्ति है।उसके पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी तीन रूप भी है। पर उसके सबसे सूक्ष्म रूप को परा कहते है। यह परावाक् ओंकार स्वरूप है जिसमे साढे तीन मात्राये मानी गई है। पूर्ण योगी परावाक् का अनुभव करता है और शिवत्व पा लेता है।

आचार्य श्री ने इसी को काव्यात्मक ढग मे इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

परा-वाक् की परम्परा / पुरा अश्रुता रही, अपरिचिता / लौकिक शास्त्रानुसार / वह योगिगम्या मानी है, / मूलोद्गमा हो, ऊर्ध्वगामिनी / नाभि तक यात्रा होती है इसकी / पवन-सचालिता जो रही ! / फिर वही / नाभि की परिक्रमा करती / पश्यन्ती के रूप में उभरती है, / नाभि के कूप मे गाती रहती / तरला-तरग छवि-वाली। / पर / निरी निरक्षरा होती है, /

सक्षरों की पकड में नहीं आती / विपश्यना की चर्चा में डूबे / संयम से सुदूर हैं जो। / फिर वही पश्यन्ती / उदार-उर की ओर उठती है / हिलाती है आ हृदयकमल को / खुली प्रति पाँखुरी से / मुस्कान-मिले बोल बोलती / उन्हे सहलाती है माँ की भाँति । / हृदय-मध्य मे / मध्यमा कहलाती है अब। / और, जाने हम, कि / पालक नही, बालक ही / जो विकारों से अछूता है / माँ का स्वभाव जान सकता है। / फिर वही मध्यमा अब, / अन्तर्जगत् से बहिर्जगत् की ओर / यात्रा प्रारभ करती है / पुरुष के अभिप्रायानुरूप । / प्राय पुरुष का अभिप्राय / दो प्रकार का मिलता है - / पाप और पुण्य के भेद से । / सत्पुरुषो से मिलने वाला / वचन व्यापार का प्रयोजन / परहित - सम्पादन है और पापी पातकों से मिलने वाला वचन व्यापार का प्रयोजन परहित पलायन, पीडा है। / तालु-कण्ठ-रसना आदि के योग से / जब बाहर आती है वही मध्यमा / जो सर्व साधारण श्रुति का विषय हो / वैखरी कहलाती है। / यही सुख सम्पदा की सम्पादिका है । (मूक माटी पृ ४०१-३)

प्रणव ओकार का जप सभी दर्शनो म मान्य है (पृ ३०८, ४०१) उसे नादानुसधान कहा गया है। मन्तो ने उसी को सुरति शब्द दिया है। जप करते समय मेरुदण्ड सीधा रह और साधक सुखासन पदमासन या पर्यकासन मे बैठे। इसी से ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति होती है। यही समाधि है चाहे वह सालबन हो या निरालबन । निरालम्बन ही निर्विकल्प समाधि है। यही शुक्लध्यान और मोक्ष है। यही कैवल्य है। यही ध्यान उत्तर काल मे पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के रूप में व्याख्यायित हुआ है। केवली अवस्था तक आते-आते मन का अस्तित्व भी समाप्त हो जाता है। मूक माटी इसी अमन स्थिति तक पहुँचाने में एक साधक महाकृति है । यही उसका कथ्य है और यही उसका शिल्प है (पृ ४८६)।

सूक्तियां

सूक्ति हृदय की तीव्र अनुभूति और चिन्तन की प्रखरता से उत्पन्न ऐसी वचन प्रक्रिया है जो जीवन रूपी उद्यान को सुवासित कर देती है, चामत्कारिक व्यजना से स्निग्ध कर देती है और सुभाषित वचनों से उसके पथ को प्रशस्त बना देती है। भाषा को प्रौढता प्रदान करने में सूक्तियों का विशेष महत्त्व है। अभीप्सित भाव की प्रेषणीयता को प्रभावक बनाना सूक्ति का उद्देश्य है। ये सूक्तिया शब्द और अर्थ के साथ ही वाक्यों में व्यवहृत होती हैं और अपनी शक्ति के अनुसार अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के माध्यम से अर्थबोध कराती हैं (पृ ११०)

मूक माटी में आचार्यश्री ने ऐसी सैकडों सूक्तिया पिरोही हैं जिनसे कथ्य की अभिव्यक्ति सशक्त होती गयी और भावबोध को रूपायित करने में उन्हें सहायता मिलती गयी। इन सूक्तियों मे कवि की सवेदना और अनुभूति झाकती दिखाई देती है। ये सूक्तिया चाहे प्रतीकात्मक हो या बिम्बात्मक, सांस्कृतिक हो या दार्शनिक, सामाजिक हों या आध्यात्मिक, व्यक्ति के भौतिक जीवन को रूपान्तरित करने के लिए निश्चित ही प्रभावशाली साधन सिद्ध हो सकती हैं। इसलिए हम यहा ऐसी ही कतिपय चुनी हुई सूक्तिया प्रस्तुत कर रहें हैं जिनसे आचार्यश्री के दर्शन और सिद्धान्त को समझा जा सके तथा व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना जागृत हो सके।

१ ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना सबके वश की बात नही (पृ ३)।

२ बहना ही जीवन है (पृ. २)।

३ सत्पथ - पथिक वह जो मुडकर नही देखता (पृ ३)।

४ सत्ता शाश्वत होती है और प्रतिसत्ता मे अनगिन सभावनायें (पृ ७)।

५ आस्था के बिना रास्ता नही, मूल के बिना चूल नही (पृ १०)।

६ आयास से डरना नही, आलस्य करना नही (पृ. ११)।

७ साधना - स्खलित जीवन मे अनर्थ के सिवा और क्या घटेगा ?(पृ. १२)

८ किसी कार्य को सम्पन्न करते समय अनुकूलता की प्रतीक्षा करना सही पुरूषार्थ नही है (पृ १३)।

९ सघर्षमय जीवन का उपसहार नियम रूप से हर्षमय होता है (पृ १४)।

१० लक्ष्य की ओर बढना ही सम्प्रेषण का सही स्वरूप है (पृ २२)।

११ अधिकार का भाव आना सप्रेषण का दुरुपयोग है (पृ २३)।

१२ बाहरी क्रिया से भीतरी जिया से सही - सही साक्षात्कार किया नही जा सकता (पृ ३०)।

१३ अति के बिना इति से साक्षात्कार सभव नही और इति के बिना अथ का दर्शन असम्भव (पृ ३३)।

१४ विषयी सदा विषय-कषायो को ही बनाता अपना विषय (पृ ३७)।

१५ हृदयवती आखो मे चेतना का जीवन ही झलकता है (पृ ३७)।

१६ दया का होना ही जीव-विज्ञान का सम्पक् परिचय है (पृ ३७)।

१७ पर की दया करने से स्व की याद आती है (पृ ३९)।

१८ दया का विकास मोक्ष है (पृ ३८)।

१९ करुणा की कर्णिका से अविरल झरती है समता की सौरभ - सुगन्ध (पृ ३९)।

२० अधोमुखी जीवन ऊर्ध्वमुखी हो उन्नत बनता है (पृ ४३)।

२१ पापी से नही पाप से, पकज से नही पक से घृणा करो(पृ ५०)।

२२ लघुता का त्यजन ही गुरुता का यजन ही शुभ का सृजन है (पृ ५१)।

२३ राह वनना ही तो हीरा बनना है (पृ ५७)।

२४ बात का प्रभाव जब बलहीन होता है हाथ का प्रयोग तब कार्य करता है (पृ ६०)।

२५ आदमी वही है जो यथायोग्य सही आ दमी है (पृ ६४)।

२६ निग्रन्थ - दशा में ही अहिसा पलती है (पृ ६४)।

२७ सहधर्मी सजाति मे ही वैर वैमनस्क भय परस्पर देखे जाते हैं (पृ ७१)।

२८ अन्त समय मे अपनी ही जाति काम आती है (पृ ७२)।

२९. धर्म का झण्डा भी डण्डा बन जाता है, शास्त्र शस्त्र बन जाता है अवसर पाकर (पृ ७३)।

३० प्रत्येक व्यवधान का सावधान होकर सामना करना नूतन अवधान को पाना है (पृ, ७४)।

३१. सल्लेखना यानी काय और कषाय को कृश करना होता है (पृ. ८७)।

३२ कम बल वाले ही कम्बल वाले होते हैं (पृ ९२)।

३३ स्वभाव से ही प्रेम है हमारा और स्वभाव में ही क्षेम है हमारा (पृ ९३)।

३४ श्वास का विश्वास नही होता (पृ ९६)।

३५ तन का बल कण-सा और मन का बल मन-सा होता है (पृ ९६)।

३६ मन की छाव मे ही मान पनपता है (पृ ९७)।

३७ दम सुख है, सुख का स्रोत। मद दु ख है। सुख की मौत (पृ. १०२)।

३८ भारतीय सस्कृति सुख शान्ति की प्रवेशिका है (पृ १०३)।

३९ बोध के सिचन बिना शब्दो के पौधे कभी लहलहाते नही (पृ १०७)।

४० बोध में आकुलता पलती है, शोध मे निराकुलता फलती है (पृ १०७)।

४१ अपने को छोडकर पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही मोह का परिणाम है (पृ १०९)।

४२ सब को छोडकर अपने आप में भावित होना ही मोक्ष का धाम है (पृ ११०)।

४३. हित से युक्त-समन्वित होना साहित्य का बाना है (पृ १११)।

४४ शान्ति का श्वास लेता सार्थक जीवन ही शाश्वत साहित्य का सृष्टा है (पृ १११)।

४५ आस्था के बिना आचरण में आनन्द नही आ सकता (पृ १२०)।

४६ आस्था वाली सक्रियता ही निष्ठा है और उसी निष्ठा की फलवती प्रतिष्ठा प्राणप्रतिष्ठा कहलाती है (पृ १२०)।

४७ नीव की सृष्टि आस्था की धर्म-दृष्टि में ही उतरकर आ सकती है (पृ १२१)।

४८ बबूल के ढूठ की भाति मान का मूल कड़ा होता है (पृ १३१)।

४९ हसनशील प्राय उतावला होता है (पृ १३६)।

५० जीवन को मत रण बनाओ। प्रकृति मां का ऋण चुकाओ (पृ १४९)।

५१ करुणा हेय नही, करुण की अपनी उपादेयता है (पृ १५४)।

५२ करुणा में वात्सल्य का मिश्रण सभव नहीं है (पृ १५७)।

५३ शान्तरस जीवन का गान है, मधुरिम क्षीरधर्मी है(पृ १५९)।

५४ सब रसो का अन्त होना ही शान्तरस है(पृ १६०)।

५५ रहस्य के घूघट का उद्घाटन पुरूषार्थ के हाथ में है (पृ १६३)।

५६ प्रत्येक कार्य के लिए निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अनिवार्य है (पृ १६४)।

५७ एक-दूसरे के सुख-दुख में परस्पर भाग लेना सज्जनता की पहचान है (पृ १६९)।

५८ अर्थ की आखे परमार्थ को देख नही सकती (पृ १९२)।

५९ स्त्री और श्री के चगुल में फसे दुस्सह दु ख से दूर नही होते(पृ २१४)।

६० लघु होकर गुरूजनो को भूलकर भी प्रवचन देना महा अज्ञान है (पृ २१८)।

६१ गुरू होकर लघु जनो को सवप्न मे भी वचन देना सुख की राह मिटाना है (पृ २१९)।

६२ मा - पृथ्वी की प्रतिष्ठा दृढ-निष्ठा के बिना टिक नही सकती (पृ २५२)।

६३ अति-परीक्षा भी प्राय पात्र को विचलित करती है पथ से (पृ २५४)।

६४ परीषह-उपसर्ग के बिना कभी स्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि न हुई, न होगी(पृ २६६)।

६५ नियम-सयम के संमुख असयम ही नहीं, यम भी अपने घुटने टेक देता है (पृ २६९)।

६६ आशातीत विलम्ब के कारण अन्याय न्याय-सा नही न्याय अन्याय-सा लगता ही है (पृ २७२)।

६७ निर्बल-जनो को सताने से नही, बल-सबल दे बचाने से ही बलवानो का बल सार्थक होता है (पृ. २७२)।

६८ शिष्टो पर अनुग्रह करना सहज प्राप्त शक्ति का सदुपयाग करना है, धर्म है और दुष्टो का निग्रह नही करना शक्ति का दुरुपयोग करना है, अधर्म है (पृ २७७)।

६९ स्व-पर दोषो को जलाना परम धर्म है(पृ २७७)।

७० बिना अध्यात्म दर्शन का दर्शन नही (पृ २८९)।

७१ अध्यात्म स्वाधीन नयन है, दर्शन पराधीन उपनयन(पृ २८९)।

७२ स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है(पृ २८८)।

७३ अतीत से जुडा मीत से मुडा बहु उलझनो मे उलझा मन ही स्वप्न माना जाता है(पृ २९५)।

७४ जो निज भाव का रक्षण नही कर सकता वही औरो को क्या सहयोग देगा ? (पृ २९५)

७५ पावन व्यक्तित्व का भविष्य पावन ही रहेगा (पृ २९७)।

७६ परीक्षक बनने से पूर्व परीक्षा मे पास होना अनिवार्य है (पृ ३०३)।

७७ वस्तु का मूल्य वस्तु की उपयोगिता है(पृ ३०५)।

७८ दु ख आत्मा का स्वभाव धर्म नही हो सकता (पृ ३०५)।

७९ धन का जीवन पराश्रित है, पर के लिए है काल्पनिक(पृ ३०८)।

८० दात मिले तो चने नहीं, चने मिले तो दांत नहीं और दोंनो मिले तो पचाने को आत नहीं (पृ ३१४)।

८१ श्रमण का श्रृ गार ही समता-शाम्य है (पृ ३३०)।

८२ पाणिपात्र ही परमोत्तम माना है(पृ ३३५)।

८३ बाहर यह जो कुछ भी दिख रहा है सो मैं नही हू और वह मेरा भी नहीं है (पृ ३४५)।

८४ आत्मा को छोडकर सभी पदार्थों को विस्मृत करना ही सही पुरूषार्थ है (पृ ३४९)।

८५ वैराग्य की दशा में स्वागत-आभार भी भार लगता है (पृ ३५३)।

८६ गगन का प्यार कभी धरा से नही हो सकता, मदन का प्यार कभी जरा से हो नही सकता और सृजन का प्यार कभी सुरा से हो नही सकता (पृ ३५४)।

८७ श्रम से प्रीति करो (पृ ३५५)।

८८ रज मे पूज्यता आती है चरण सपर्क से (पृ ३५८)।

८९ श्रमशीलो का हाथ उठाना ही कलियुग मे सत्युग ला सकता है(पृ ३६२)।

९० जिसकी दृष्टि मे ऊच-नीच का भदभाव है वह समता का धनी नही हो सकता (पृ ३६३)।

९१ लोभी पापी मानव पाणिग्रहण को भी प्राणग्रहण का रूप देते है (पृ ३८६)।

९२ पुरुष के जीवन का ज्ञापन प्रकृति पर ही आधारित है (पृ ३९२)।

९३ पुरुष और प्रकृति इन दोनो के खेल का नाम ही ससार है (पृ ३९०)।

९४ धन का मितव्यय करो, अतिव्यय नही, अपव्यय हो तो कभी नही (पृ ४१४)।

९५ ससार की जड है अहभाव (पृ ४१५)।

९६ श्रम के सामने क्रोध कब तक टिकेगा ?(पृ ४१६)

९७ मन को टीस पहुचने से ही आतकवाद का अवतार होता है(पृ ४१९)।

९८ न्याय की वेदी पर अन्याय का ताण्डव नृत्य मत करो (पृ ४१९)।

१०० सहार की बात मत करो, सघर्ष करते जाओ। हार की बात मत करो, उत्कर्ष करते जाओ(पृ. ४३२)।

१०१ प्रशस्त आचार-विचार वालों का जीवन ही समाजवाद है(पृ ४६१)।

१०२ धनसग्रह नही जन संग्रह करो(पृ ४६७)।

१०३ अधाधुध सकलित का समुचित वितरण करो(पृ ४६७)।

१०४ सज्जन अपने दोषों को कभी छुपाते नही(पृ ४६८)।

१०५ भीड़ की पीठ पर बैठकर क्या सत्य की यात्रा होगी ? (पृ ४७०)

१०६ उपादान कारण ही कार्य मे ढलता है किन्तु उसके ढलने में निमित्त का सहयोग भी आवश्यक है(पृ ४८१)।

१०७ हित-मित-मिष्ट वचनो मे प्रवचन देना पर वचन नही देना (पृ ४८६)।

१०८ बन्धन रूप तन, मन और वचन का आमूल मिट जाना ही मोक्ष है (पृ ४८६)।

***

पञ्चम परिवर्त

दार्शनिक चेतना

समीक्ष्य महाकाव्य के ये चारो खण्ड परस्पर सम्बद्ध होते हुए भी असम्बद्ध है। चतुर्थ खण्ड का फलक तो इतना विस्तृत है कि वह स्वतन्त्र खण्डकाव्य का रूप ले सकता है। कथानक अत्यन्त छोटा होने पर भी कवि ने दर्जनो अन्तर्कथाओं को उसमे अन्तर्भुक्त कर दिया है। इन कथाओं से यद्यपि कथा-प्रवाह अवरुद्ध-सा हो जाता है, पर उन कथाओं मे उनके सूत्र सन्निहित रहते हैं और वह एक-दूसरे से इतने अधिक गुँथे है कि हर एक अपना प्रभाव छोडे बिना नही रहता। माटी से मगल-कलश तक की यात्रा में जितने भी जड या चेतन तत्त्व निमित्तकारण है , वे सभी यहाँ पात्र बनकर आये है। यहाँ तक कि बाल्टी, मछली, काँटा, ककर, कुदाली, गधा, चाक, पानी, दण्ड, रग, बादल, सागर, नाव,ओला, फूल, पवन, हवा, अग्नि, धुआ, स्वर्णकलश, मशाल, दीपक, गज, सर्प, सिंह आदि को भी पात्र बनाया है। इनकी पात्रता पर हमारा प्रश्नचिन्ह खडा करना निरर्थक होगा, क्योकि वे सभी उपादान की शक्ति को उद्घाटित करने या उसके विश्लेषण करने के लिए किसी न किसी रूप में सहयोगी सिद्ध होते है। यही काव्य की दार्शनिकता है।

निमित्त-उपादान और सृष्टि कर्तृत्व

साधारणत एक प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि द्रव्य की पर्याय कब कैसी हो, यह निमित्त पर निर्भर है, उपादान पर निर्भर नही । पर इसे सर्वथा ठीक नही कह सकते। पूर्व समय का जैसा उपादान होगा, उत्तर क्षण मे उसी प्रकार का कार्य होगा। निमित्त उसमे अन्यथा परिणमन नहीं करा सकता। कार्य का नियामक उपादान ही होता है, निमित्त नही। कार्य की उत्पत्ति में स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और (कर्म) परपदार्थ की आवश्यकता ये पाँच कारण होते है । इनमें स्वभाव का सम्बन्ध द्रव्य की स्वशक्ति या उपादान से है, पुरुषार्थ का बल-वीर्य से, काल का स्वकाल ग्रहण से, नियति का सम्बन्ध उपादान से और कर्म का सम्बन्ध निमित्त से है। जो भवितव्यता की बात करते हैं, उनकी दृष्टि उपादान की योग्यता पर होती है। योग्यता अथवा पूर्व कर्म को दैव कहते है और वर्तमान पुरुषार्थ को पौरुष कहते हैं। दोनों के सम्बन्ध से अर्थसिद्धि एक होती है।

दर्शन है। सा ख्य सत्कार्यवादी दर्शन है, वह कारण के समान कार्यों की भी सर्वथा सत्ता स्वीकार करता है। जैनदर्शन की दृष्टि अनेकान्तवादी है। वह सर्वथा न नित्यवादी है और न अनित्यवादी। यहाँ उपादान और निमित्त का भी अपना-अपना स्थान है, उनकी प्रधानता और गौणता की दृष्टि से।

"मूक माटी" की रचना का उद्देश्य इसी उपादान-निमित्त सिद्धान्त की वास्तविकता को उद्घाटित करना रहा है। आचार्यश्री ने अपनी इसी कृति के "मानस तरग" मे निमित्त कारणो के प्रति अनास्था रखनेवालों से कुछ प्रश्न पूछे हैं, जो इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण है —

- क्या आलोक के अभाव मे कुशल कुम्भकार भी कुम्भ का निर्माण कर सकता है?
- क्या चक्र के बिना माटी का लौंदा कुम्भ के रूप में ढल सकता है ?
- क्या बिना दण्ड के चक्र का भ्रमण सम्भव है ?
- क्या कील का आधार लिये बिना चक्र का भ्रमण संभव है ?
- क्या सब के आधारभूत धरती के अभाव में वह सब कुछ घट सकता है ?
- क्या कील और आलोक के समान कुम्भकार भी उदासीन है ?
- क्या कुम्भकार के करों में कुम्भाकार आये बिना स्पर्श मात्र से माटी का लौंदा कुम्भ का रूप धारण कर सकता है ?
- कुम्भकार का उपयोग कुम्भाकार हुए बिना कुम्भकार के करो में कुम्भाकार आ सकता है क्या?
- क्या बिना इच्छा भी कुम्भकार अपने उपयोग को कुम्भाकार दे सकता है ?
- क्या कुम्भ बनाने की इच्छा निरुद्देश्य होती है ?

आचार्यश्री ने सृष्टि-कर्तृत्व के सदर्भ में उठे ऐसे ही प्रश्नों को अपने अन्य काव्यो में भी सशक्त ढग से उठाया है। उदाहरणत "डूबो मत लगाओ डुबकी" काव्य सग्रह में सकलित "प्रलय पताका" शीर्षक कविता देखिए -

चरा चरो का सकुल / चला चलों का कुल /
यह निखिल / खुल, खिल / पल, पल /
अविरल अविकल / गल, गल / नव-नूतन /
अधुनातन / आकार-प्रकारों में /
निर्विकार-विकारों मे / प्रतिफलित हो रहा है /
स्वय / था / होगा / त्रैकालिक

अर्थसिद्धि के सन्दर्भ मे दो विचारधारायें मिलती हैं — एक के अनुसार सभी कार्य नियत समय पर ही होते हैं और दूसरी के अनुसार बाह्य निमित्तों के बिना कार्य हो नही सकते। इन दोनों मे से जैनदर्शन क्रम-नियमित पर्याय के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। उसके अनुसार प्रत्येक कार्य क्रम से स्वकाल में अपने उपादान के अनुसार होता रहता है। यहाँ एकान्ततः नियतिवाद का समर्थन नही मिलता, अन्यथा कार्य-कारण परम्परा को कैसे स्वीकार किया जायेगा ? अनेक कारणों में से नियति को एक कारण अवश्य माना गया है।

"मूक माटी" की दार्शनिकता को समझने के लिए हमे उपादान-निमित्त की कारणमीमा सा पर किञ्चित् विचार कर लेना आवश्यक है।

साधारणत निमित्त शब्द कारण, उपाधि, साधन या हेतु अर्थ मे स्वीकार किया गया है। यह बाह्य कारण और उपादान दोनों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उपादान को अन्तरग कारण और निमित्त को बाह्य कारण कहा जाता है। उपादान कारण वह है जो कार्य के रूप में ढलता है। वह पदार्थ की मूल शक्ति है, स्वभाव है। कार्य के ढलने में जो सहयोगी होता है वह निमित्त कारण है। जैसे मिट्टी में कुम्भ बनने की शक्ति-स्वभाव उसकी उपादान शक्ति है। यह कार्य कुम्भकार के सहयोग से होता है इसलिए वह निमित्त कारण है, व्यावहारिक कार्य करने मे उपादान-निमित्त के आधीन होता है। कुम्भकार के अतिरिक्त आलोक, चक्र, दण्ड, डोर, कील, आदि भी निमित्त कारण है। इन कारणों में कुछ उदासीन होते है और कुछ प्रेरक होते है। बिना उपादान के निमित्त कुछ नही कर पाता और बिना निमित्त के उपादान भी असहाय-सा बन जाता है। अपने-अपने स्थान पर दोनों कथञ्चित् रूप से प्रधान बन जाते है। उचित निमित्त के सान्निध्य मे ही द्रव्य परिणमन करता है। उनमे निमित्त नैमितिक सम्बन्ध रहता है। और फिर यह नियम तो शाश्वत है कि बिना किसी कारण के कार्य की उत्पत्ति नही होती। कार्य भी कारण के अनुरूप हुआ करता है। इस दृष्टि से सृष्टिकर्त्ता के रूप मे ईश्वर की अस्वीकृति और ईश्वर के स्थान पर कर्म की स्थापना इस सिद्धान्त की फलश्रुति है।

इस सन्दर्भ में दार्शनिक क्षेत्र में अनेक मत-मतान्तर विद्यमान है। नैयायिक दर्शन असत्कार्यवादी है। वह कर्त्ता रूप से ईश्वर को सर्वोपरि मानता है और निमित्त कारण पर अधिक जोर देता है। वैशेषिक दर्शन भी लगभग इसी मान्यता का समर्थक है। बौद्धदर्शन अनात्मवादी दर्शन होने के साथ-साथ क्षणिकवाद पर आधारित है। यह दर्शन भी असत्कार्यवादी है। पर समनन्तर प्रत्यय के आधार पर यह उपादान-उपादेय भाव को स्वीकार करता है। अत मूलतः यह सापेक्षवादी दर्शन है, प्रतीत्य समुत्पादवादी

जो हो रहा है। पर / इस प्रतिफलन की योग्यता /
मोहाकुल व्याकुल चेतन के / आचार-विचारों में /
फलित कब हुई है?/ इसीलिए तो /
यह साधारण/जन-गण-मन / निर्णय लेता है/
कि/ विशाल निखिल का / आखिर! /
सृष्टा कौन होगा ?/सकल साक्षात्कार /
दृष्टा मौन होगा / वही ईश्वर-अविनश्वर ना!/
शेष सब गौण होगा / किन्तु यह निर्णय /
सत्यरहित है / तथ्य रहित है / पूर्ण अहित है

केवल कल्पना है/ केवल जल्पना है / क्योंकि/
चेतन से अचेतन का उद्भव/ कैसा हो सभव?/
क्या सभव है ? कभी बोकर बीज-बबूल हैं /
पाना रसाल रस पूर/ भरपूर /

और क्या कारण है ? ये ईश्वर किसी को बनाते नर/
किसी को बनाते किन्नर / यतिवर / धीवर, वानर/
जब कि वे अदय नहीं है / सदय हृदय /
अभय निधान / हैं भगवान / सबको बनाते
एक समान / या भगवान / अपने समान

आगे तथाकथित ईश्वर के वक्तव्यों और क्रियाकलापों पर कवि समीक्षण करता हुआ कहता है —

जिसका जैसा हो परिणाम / धर्म-कर्म-काम /
तदनुसार ही ये ईश्वर / इन चराचरों को / दिखाते हैं /
नरक निवास / स्वर्ग विलास / नर-पशुगति का त्रास..../
यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है / कारण!
कर्म मात्र से काम हो रहा /
ईश्वर फिर किस काम आ रहा ?

"मात-पिता जो सन्तान के कर्ता हैं"/ यह धारणा भी /
नितान्त भ्रान्त है / केवल ये भी /
"विभाव-भाव के / काम भाव के" कर्ता हैं .../
अन्यथा कभी कभी / कुछेक / सन्तान हीन क्यों?/
वन्ध्या / रोती क्यों ?/ त्रि सन्ध्या ?

"सही बात" कहकर कवि ससार की सृष्टि सर्जना की पहेली को अपने दर्शन से सुलझाने का प्रयत्न करता है और सत् को ही धाता, विधाता और त्राता मानता है -

सही बात यह है / कि / जननी जनकज / रज-वीरज के/
मिश्रण-निर्मित / नूतन तन तब धरता है /
आयुपूर्णकर जीरण शीरण/ पूरव तन जब तजता है/
निजकृत विधि-फल / पाता प्राणी / अज्ञानी ।

यथार्थ मे / प्रति पदार्थ मे / सृजनशीलता / द्रवणशीलता /
परनिरपेक्ष / शक्ति निहित है /
जिसके अवबोधन मे / हित निहित है/
इसीलिए विगत-भाव का/ विनाश वाला / सुगत-भाव का /
प्रकाशवाला/सतत शाश्वत /
ध्रौव्य भाव का / विलासशाला / सत् है।

चेतना हो या अचेतन / तन मन हो या अवचेतन /
सब ये सत् हैं / स्वय सत् हैं /
सत् ही धाता विधाता हैं
पालक पोषक निज का निज ही
सत् ही विष्णु त्राता है / प्रलय-पताका /
सत् ही शिव सघाता है /
इसीलिए अब / तन से मन से / और वचन से /
सत् का सतत / स्वागत है / सुस्वागत है।

काव्य में सृष्टिसंदर्भित प्रश्नों का समाधान कविने बडे ही प्रभावक ढंग से किया है और फिर "मूक माटी" के आमुख में उन्होंने यह भी कह दिया है कि इन प्रश्नों का समाधान निषेधात्मकता द्वारा ही दिया जा सकता है। निमित्त की इस अनिवार्यता को देखकर ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानना भी वस्तुतत्त्व की स्वतन्त्र योग्यता को नकारना है और ईश्वरपद की पूज्यता पर प्रश्नचिह्न लगाना है (मूक माटी मानस-तरंग, xii) । काव्य के रचयिता आचार्यश्री ने ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व का खण्डन अकलंक, विद्यानन्द आदि प्राचीन जैनाचार्यों के तर्कों में तर्क मिलाकर इसी पृष्ठभूमि मे इसप्रकार किया है —

१) सृष्टि रचना से पूर्व ईश्वर का आवास कहाँ था ? वह शरीरातीत था या सशरीरी? क्या ईश्वर का भी कोई निर्माता होगा ?

२) अशरीरी होकर असीम सृष्टि की रचना करना सम्भव नहीं है। सशरीरी होकर भी वह जगत सृष्टि नहीं कर सकता ,क्यो कि शरीर-प्राप्ति कर्मों पर आधारित है और ईश्वर इन सबसे ऊपर उठा रहता है। अशरीरी व्यक्ति सक्रिय और तदवस्थ नही हो सकता।

३) जितेन्द्रिय ईश्वर संसार मे अवतरित नही हो सकता । दुग्ध में से घृत को निकालने के बाद घृत कभी दुग्ध के रूप में लौट सकता है क्या ?

४) शरीर कर्मबन्धन का प्रतीक है, जिसे ईश्वर स्वीकार नही कर सकता।

५) जगत का रचयिता ईश्वर भी अल्पज्ञ और असर्वज्ञ सिद्ध होगा, यदि जगत कृत्रिम है।

६) जैनदर्शन ने सकल परमात्मा को भगवान के रूप मे औपचारिक स्वीकार किया है।

७) ईश्वर की सृष्टि यदि स्वभावत रुचि से या कर्मवश होती है तो ईश्वर का स्वातन्त्र्य कहाँ रहेगा , उसकी आवश्यकता भी क्या ? और वीतरागता कहाँ ?

जैनदर्शन के अनुसार स्वयकृत कर्म का फल उसका विपाक हो जाने पर स्वय ही मिल जाता है। उसे ईश्वर रूप प्रेरक चेतन की आवश्यकता नही रहती। कर्म जड है अवश्य, पर चेतन के संयोग से उसमे फलदान की शक्ति स्वत· उत्पन्न हो जाती है। जो जैसा कर्म करता है, उसे वैसा ही फल यथा-समय मिल जाता है। अतः ईश्वर को न तो जगत का सृष्टिकर्ता कहा जा सकता है और न कर्मफल-प्रदाता। अपनी कारण-सामग्री के संवलित हो जाने पर जगत मे स्वाभाविक परिणाम होता रहता है।

ऐसे ही कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु 'मूक माटी' कृति का सृजन हुआ है। आचार्यश्री ने इस मगलमय महाकाव्य के अध्ययन का फल तथा उसकी विशेषताओं को मानस-तरंग के अन्त मे स्वय इसप्रकार माना है। उनके अनुसार 'मूक माटी' ऐसा काव्य है , जिसके अध्ययन से व्यक्ति के सांसारिक जीवन मे भी वैराग्य का उभार आता है, जिसमे लौकिक अलकार अलौकिक अलकारों से अलकृत हुए हैं, अलकार अब अल का अनुभव कर रहा है, जिसमें शब्द को अर्थ मिला है और अर्थ को परमार्थ, जिसमे नूतन शोध प्रणाली को आलोचन के मिष लोचन दिये है , जिसने सृजन के पूर्व ही हिन्दी जगत को अपनी आभा से प्रभावित भावित किया है ; प्रत्यूष मे प्राची की गोद मे छुपे भानु-सम , जिसके अवलोकन से काव्य कला-कुशल-कवि स्वय को आध्यात्मिक-काव्य-सृजन से सुदूर पाये गे, जिसका उपास्य देवता शुद्ध-चेतना है, जिसके प्रति प्रसग पक्ति से पुरुष को प्रेरणा मिलती है — सुषुप्त चैतन्य को जाग्रत करने की , जिसने वर्ण-जाति-कुल आदि व्यवस्था विधान को नकारा नही है, परन्तु जन्म के बाद आचरण के अनुरूप, उनमे उच्च-नीचता रूप परिवर्तन को स्वीकारा है। इसीलिए सकर दोष से बचने के साथ-साथ वर्णलाभ को मानव जीवन का औदार्य और साफल्य माना है , जिसने शुद्ध सात्त्विक भावो से सम्बन्धित जीवन को धर्म कहा है , जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रो मे प्रविष्ट हुई कुरीतियो को निर्मूल करना और युग को शुभ सस्कारों से सस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड देकर वीतराग श्रमण सस्कृति को जीवित रखना है ----।

इस अभिवचन में समीक्षक की दृष्टि निम्नलिखित विशेषताओ को प्रस्तुत दार्शनिक महाकाव्य "मूक माटी" में पा सकती है ___

१) वीतराग श्रमण सस्कृति की अभिव्यक्ति
२) दार्शनिक सिद्धान्तो की अनुकृति
३) उपादान-निमित्त कारणों की मीमा सक प्रतिकृति
४) शब्द को नये अर्थ और अर्थ को परमार्थ देनेवाली भावकृति
५) आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत करनेवाली अनूठी कृति
६) कुरीतियों को निर्मूल करने वाली विशिष्ट कृति
७) भोग से योग की ओर मोड देनेवाली प्रेरक कृति
८) शुद्ध-सात्विक आचरण को प्रस्थापित करनेवाली महाकृति
९) हिन्दी का अप्रतिम दार्शनिक महाकाव्य
१०) वीतराग साधु की सामाजिक सार्थकता एक आवश्यकता

११) वर्णलाभ सत्पुरुषार्थ की छाया मे
१२) धर्म की यथार्थता और महानता की प्रतिष्ठा
१३) शुद्ध चेतना की स्वातन्त्र्य-प्राप्ति का प्रेरक सूत्र
१४) नारी की शक्ति का प्रतिष्ठापक महाकाव्य
१५) समाजवाद का दिशा-दर्शक महाकाव्य
१६) धर्म का प्रतिष्ठापक महाकाव्य
१७) सयम और साधना का दिग्दर्शक महाकाव्य
१८) प्रकृति का अनुरंजक और साहित्य का विधायक
१९) समता, शमता और परमार्थता का साधक
२०) आतकवाद का शामक अनेकान्तवाद
२१) शान्तरस और अहिंसा की चरम साधना का प्रस्थापक
२२) यथार्थ श्रमण साधना का अभिव्यञ्जक
२३) स्वय के परिपक्व आचरण से विश्वास की अनुभूति का आस्वादक
२४) प्रतीको की नयी शृखला का परिचायक

का "मूक माटी" की ये कतिपय विशेषतायें है, जिनका आस्वादन सरस पाठक प्रति पक्ति मे ले सकता है और पा सकता है नया दिशाबोध, जो उसे काव्य सर्जक की आध्यात्मिकता से सराबोर कर देता है। इन विशेषताओं में मूलभूत विशेषता है उपादान-निमित्त कारणो की मीमासक प्रतिकृति का होना। समूचे महाकाव्य मे यह विशेषता दृष्टव्य है। यहाँ माटी द्रव्य स्वयं कार्यरूप मे परिणमन करता है, इसलिए वह उपादान कारण है और उस कार्य मे कुम्भकार सहायक है, अत वह निमित्त कारण है। उपादान कारण तीनों कालों में रहता है। वस्तु मे प्रतिसमय उत्पाद-व्यय -ध्रौव्य होते रहते है और कारण-कार्य परम्परा बनी रहती है। प्रत्येक द्रव्य स्वय ही अपना कारण और स्वय ही अपना कार्य होता है। अत निश्चयनय से कारण-कार्य मे अभेद है। आचार्यश्री ने इसका कथन इस प्रकार किया है —

"उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्त सत्"
सन्तों से यह सूत्र मिला है
इसमें अनन्त की अस्तिमा
सिमट-सी गई
यह वह दर्पण है
जिसमें

भूत, भावित और सम्भावित
सब कुछ झिलमिला रहा है,
तैर रहा है
दिखता है आस्था की आँखों से देखने से।
व्यावहारिक भाषा मे
सूत्र का भावानुवाद प्रस्तुत है,
"आना, जाना, लगा हुआ, है"
आना यानी जनन-उत्पाद है
जाना यानी मरण-व्यय है
लगा हुआ यानी स्थिर-ध्रौव्य है
और
है यानी चिर-सत्
यही सत्य है, यही तथ्य । (पृष्ठ १८४-१८५)

इस तथ्य से यह प्रतिफलित होता है कि पदार्थ की पूर्वकालिक अवस्था को कारण और उत्तरवर्ती अवस्था को कार्य माना जाता है। इन दोनो अवस्थाओ में वह अपना स्वभाव नही छोडता। समयसार कलश (१५) में एक ही आत्मा को साध्य-साधक भाव या कार्य-कारण भाव रूप से दो कहा है अर्थात् वह कारण भी है और कार्य भी है। उसी को कारण समयसार और कार्य समयसार कहते है। इस प्रकार एक ही द्रव्य में उपादानोपादेय भाव होता है। उसके कारण और कार्य मे कथञ्चित् भेद और कथञ्चित् अभेद होता है। इसी प्रकार उपादान कारण के समान ही कार्य होता है पर यह ऐकान्तिक नियम नही है। अन्यथा मिट्टी के पिण्ड से मिट्टी का ही पिण्ड उत्पन्न होता। अत घट अपने उपादान कारण मिट्टी के पिण्ड के कथञ्चित् सदृश और कथञ्चित् असदृश होता है।

निमित्त का अर्थ साधरणत· कारण माना गया है। उपादान रूप मिट्टी के होते हुए भी कुम्हार रूप निमित्त के बिना घटादि की उत्पत्ति नही हो सकती। अत कतिपय विद्वान उपादान की अपेक्षा निमित्त कारण पर अधिक जोर देते है। इतना ही नही, उपादान के परिणमन को भी निमित्ताधीन मान बैठते है। परन्तु यह सही नही "मूक माटी" इसी कथ्य को प्रस्थापित करता है।

"मूक माटी" में "स्व" और "पर" के सवेदन की बात बहुत आयी है। ये वस्तुत निमित्त के दो भेद है। स्वनिमित्त द्रव्य की अन्तरग शक्ति है और परनिमित्त से

वह शक्ति अभिव्यक्त होती है। मछली के चलने मे जल निमित्त होता है और मिट्टी को घड़ा बनने मे, कुम्भकार निमित्त होता है।

निश्चयनय और व्यवहारनय की दृष्टि से आगमों मे उपादान-निमित्त की मीमांसा की गई है। कार्य को उत्पन्न करने की कारण-शक्ति का नाम योग्यता है। शालि-बीज मे शालि-अंकुर को उत्पन्न करने की योग्यता है। उसमे मिट्टी आदि व्यवहार से निमित्तमात्र ही है। उनमे परमार्थत: अकुर उत्पन्न करने की क्षमता नहीं होती। अकलकदेव ने निश्चय-व्यवहार नय की दृष्टि से इस पर विचार किया है। तत्त्वार्थवार्तिक मे एक स्थान पर (पृ २०४) उन्होंने उपादान की मुख्यता और निमित्त की गौणता पर विचार करते हुए कहा — "मिट्टी के स्वय घट होने रूप परिणाम के अभिमुख होने पर दण्ड, चक्र, कुम्हार का प्रयत्न आदि निमित्त मात्र होता है। क्यो कि दण्ड आदि निमित्तो के होने पर भी यदि मिट्टी क कर आदि से भरी हो तो स्वय घट रूप परिणाम के अभिमुख होने से घट रूप नही होती। अत मिट्टी ही बाह्य दण्डादि निमित्तो की अपेक्षा पूर्वक अभ्यतर मे घट परिणाम के अभिमुख होते हुए घट रूप होती है, दण्डादि घट रूप नहीं होते। अन्य स्थान पर तत्त्वार्थवार्तिक मे (५ १७ ३१) ही उन्होंने उपादान कारण की सामर्थ्य स्वीकार करते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति के लिए बाह्य निमित्तो पर जोर दिया है - "जैसे मिट्टी घट परिणाम रूप होने के लिए अभ्यन्तर मे सामर्थ्य होते हुए बाह्य कुम्भकार, दण्ड, चक्र, सूत्र, जल, काल, आकाश आदि उपकरणो की अपेक्षा पूर्वक घट पर्याय रूप से प्रगट होती है। अकेली मिट्टी कुम्भकार आदि बाह्य साधनो के मिले बिना घट रूप से परिणत होने मे समर्थ नही है।"

"मूक माटी" मे उपादान-निमित्त को इसीप्रकार के सापेक्षिक कथन के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। बड का बीज ही समुचित खाद, हवा, जल, मिलने पर बट के रूप मे *अवतार लेता है* (पृ ७) *चरणों का प्रयोग किये बिना उत्तुग शिखर का स्पर्शन सम्भव कहाँ है?* (पृ.१०) स्वय पतिता, पददलिता माटी जीवन को उन्नत करने का कारण खोजने का अनुनय माँ सरिता से करती है (पृ.४-५)। कुशल शिल्पी कुम्भकार कण-कण के रूप में बिखरी माटी को नाना रूप प्रदान करता है (पृ.२७)। कुम्भकार उसके लिए भाग्य-विधाता है (पृ.२८)। कार्यकारण व्यवस्था (पृ २३०) आदि प्रसग इस सन्दर्भ मे दृष्टव्य है।

इस तरह कुम्हार घट का कर्ता है और भोक्ता है — यह व्यवहारनय से तो सही है पर निश्चयनय से तथ्यसगत नही है। जीव पुदगलो को कर्म रूप से परिणमाता है और कर्म भी जीव को अपने रूप परिणमाते हैं — यह भी व्यवहारतः ही ठीक है।

इसी भ्रम को दूर करने के लिए समयसार का कर्ता-कर्म अधिकार है। वह निमित्त -नैमित्तकि भाव को स्वीकार करता है। 'मूक माटी' मे भी यही प्रस्थापित किया गया है। कुम्हार व्यवहारत: घट का कर्ता है, निश्चय से नही, यदि निश्चय से माना जायेगा तो उसकी तन्मयता का प्रसग उपस्थित होगा। अतः उपादान रूप से पर के कर्तृत्व का यहाँ निषेध किया गया है। लकडी से कुम्भकार शायद यही कहना चाहता है —

नीचे से निर्बल को ऊपर उठाते समय
उसके हाथ में पीडा हो सकती है।
उसमे उठाने वाले का दोष नहीं
उठने की शक्ति नही होना ही दोष है।
हाँ, हाँ ।
उस पीडा मे निमित्त पडता है उठानेवाला
बस, इस प्रसग मे भी यही बात है।
कुम्भ के जीवन को ऊपर उठाना है,
और
इस कार्य मे
और किसी को नही,
तुम्हे ही निमित्त बनना है। (पृष्ठ २७२-२७३)

इसी बात को आचार्यश्री ने सा-रे-ग-म-प-ध-नि- — इन सप्तस्वरो को आध्यात्मिक अर्थ देते हुए कहा है कि दु ख आत्मा का स्वभाव धर्म नही हो सकता। वह तो मोहकर्म से प्रभावित आत्मा का विभाव परिणमन मात्र है। नैमित्तिक परिणाम कथचित् पराये है (पृ ३०५) । जीव के परिणाम और पुद्गल कर्म के परिणाम मे परस्पर मे निमित्तमात्रत्व है, कर्ता-कर्म भाव नही है। रस्सी से घट को पेट से बाँधकर सेठ नदी पार कर लेता है। 'मूक माटी' का अभिधेय यही समाप्त हो जाता है। उसकी दृष्टि मे उपादान कारण को ही कार्य का जनक मानना भूल होगी, निमित्त का सहयोग भी वहा आवश्यक है। उपादान मिट्टी ही कार्य रूप कुम्भ में ढलती है, पर तदर्थ कुम्भकार का भी सहयोग आवश्यक है —

केवल उपादान कारण ही कार्य का जनक है
यह मान्यता दोषपूर्ण लगी,
निमित्त की कृपा भी अनिवार्य है।

हाँ! हाँ!
उपादान कारण ही
कार्य में ढलता है
यह अकाट्य नियम है,
किन्तु
उसके ढलने में
निमित्त का सहयोग भी आवश्यक है,
इसे यूं कहे तो और उत्तम होगा कि
उपादान का कोई यहाँ पर
पर-मित्र है तो वह
निश्चय से निमित्त है
जो अपने मित्र का
निरन्तर नियमित रूप से
गन्तव्य तक साथ देता है। (पृष्ठ ४८०-४८१)

इसप्रकार अध्यात्म और दर्शन के क्षेत्र में यह एक प्रस्थापित तथ्य है कि व्यवहारनय से ही निमित्त वस्तुभूत है, निश्चय से वह कल्पनामात्र है। विद्यानन्द स्वामी ने भी यही कहा है कि अनेकान्तवादी कथचित् तादात्म्य रूप में कार्य-कारण भाव स्वीकार करते है। कार्य और कारण द्रव्यरूप से एक होते है, जैसे मिट्टी रूप द्रव्य से कुशूल और घट कार्यकारण रूप से स्वीकार किये गये है। क्रम से होने वाली पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय मे एक द्रव्य प्रत्यासत्ति होने से उपादानोपदेयभाव कहा गया है। इस प्रकार का कार्य कारणभाव सिद्धान्त विरुद्ध नही है। अत निमित्त-नैमित्तिक भाव व्यवहार से ही माना गया है, निश्चय नय से नही। उपादान के साथ ही निमित्त का सहयोग भी आवश्यक है।

आगम जब परमार्थ की बात करता है तो बाह्य साधनों को उपकरण मात्र माना जाता है और आत्मपरिणाम को ही मोक्ष का प्रत्यासन्न कारण स्वीकार किया जाता है। वहाँ वस्तुत उपादान कारण की प्रमुखता दिखाई देती है, निमित्त की नही। पर निमित्त की उपेक्षा भी नहीं हुई है। निमित्त दो प्रकार के हैं — उदासीन और प्रेरक। उदासीन निमित्त धर्मादि द्रव्य है और प्रेरक निमित का उदाहरण है कुम्भकार। आत्मज्ञान की प्राप्ति मे गुरु आदि तो निमित्त मात्र हैं, उसमे तो योग्यता ही साधकतम है। निमित्त को अधिक महत्त्व देना उपादान की शक्ति को अस्वीकार करना है। उपादान का परिणमन निमित्ताधीन नहीं है और न निमित्त का परिणमन उपादान

के अधीन है। किसी का भी परिणमन किसी के भी अधीन नहीं है। अनेकान्तात्मक दृष्टि से ही इस सिद्धान्त पर विचार किया जाना चाहिए।

कुम्भ जैनदर्शन के अनुसार एक सत् है, पदार्थ है, द्रव्य है जो शाश्वत है, अनन्त सभावनाओं-पदार्थों से सन्नद्ध है (पृ.७) जिसमें भूत-भावित और सभावित सब कुछ झलकता रहता है और जहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कालानुसार अस्तित्व में हैं (पृ १८४)। इसका तात्पर्य यह है कि पदार्थ अपना मूल स्वभाव कभी नहीं छोडता । इसलिये हर द्रव्य-पदार्थ स्वय ही अपना स्वामी है। उसे कोई बन्दी नही बना सकता ।फिर भी ग्रहण-संग्रहण का भाव रहता है, जो ससरण का कारण होता है (पृ १८५) 'मूक माटी' में इस तथ्य का गभीर विश्लेषण हुआ है।

पुद्गल के लक्षण आगमो में निर्दिष्ट हैं -शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, सस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श । आचार्यश्री ने'मूक माटी'में इन गुणों को कुम्भ में काव्यात्मक ढग से विश्लेषित किया है । और यह सिद्ध किया है कि "अग्नि में रस गुण का अभाव है" यह जिन विद्वानो की मान्यता है,सही नहीं है क्योंकि जब धूम का रसास्वादन हो सकता है तो अग्नि का स्वाद रसना को क्यों नहीं मिल सकता है ?

कुम्भ की स्पर्शा ने कुम्भ से पूछा कि
यह कौन-सा परस है?
कुम्भ ने कहा विशुद्ध परस है
इसका अनुभव
बिना जले-तपे सम्भव नहीं है
इसी संदर्भ में कुम्भ की रसना ने भी
इस बात की घोषणा कर दी, कि
"अग्नि में रस-गुण का अभाव है"
यह जिन धीमानों की धारणा है
अनुमान और अनुभव से बधित है।
जब धूम का रसास्वादन हो सकता है
तब
अग्नि का स्वाद रसना को क्यों न आयेगा ?
हाँ ! हाँ !!
रस का स्वाद उसी रसना को आता है

जो जीने की इच्छा से नहीं,
मृत्यु की भीति से भी ऊपर उठी है। (पृष्ठ २८१)

जैनेतर दर्शनों में जहाँ पुद्गल मे स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण में से कोई भी भिन्न गुण ग्रहण किये हुए हैं, उसी को लक्ष्य कर यहाँ एक साथ चारों गुणों की विद्यमानता दिखलाने हेतु तथा जो अग्नि में रसगुण के निषेधक हैं (यथा–सर्वार्थसिद्धि, १/३२/) उनके मत के निरसन हेतु आचार्यश्री ने 'मूक माटी' में इस प्रकरण को समाविष्ट किया है।

अनेकान्तवाद

निमित्त-उपादान के प्रश्न पर अनैकान्तिक दृष्टि से विचार किया जाना आवश्यक है, इसलिए 'मूक माटी' मे यथास्थान अनेकान्तवाद और स्याद्वाद पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। वैयक्तिक और सामुदायिक चेतना (पृ ४६७) शान्ति की प्राप्ति के लिए सदैव जी -तोड़ प्रयत्न करती रही है। पर शान्ति वस्तुत बाहर से खोजने की वस्तु नही है। वह तो आन्तरिक समता, सहयोग, सयम और समन्वय से उद्भूत आनुभूतिक तत्त्व है, जो समाज के पारस्परिक व्यवहार को निर्मल, स्पष्ट व प्रेममय बना देता है। माया, छल, कपट और प्रवचना में पली-पुसी जिन्दगी अर्थहीन होती है। दानवता के क्रूर शिकजो में दबे हुए आदर्शों के कगूरे उस जिन्दगी से कट जाते है, युद्धो, आक्रमणों, और आतकवादियो की भाषाये सजीव हो उठती है, मानसिक शान्ति और सन्तुलन के तटों में बहती आत्मिक शान्ति का सरित्-प्रवाह अपने तटो से निर्मुक्त होकर बहने के लिए उछलने लगता है, एक नया उन्माद मानवता के शान्त और स्थिर कदमो मे आघाती झझावात पहेल देता है। ऐसी स्थिति में शान्ति का मार्गदृष्टा समन्वय चेतना की ओर पग बढाता है और अपनी समतामयी विचारधारा से अशान्त वातावरण को प्रशान्त करने का प्रयत्न करता है।

अनेकान्तवाद इन सभी प्रकार की विषमताओ से आपादमग्न समाज को एक नयी दिशा-दान-देता है। उसकी कटी पतग को किसी तरह सम्भालकर उसमे अनुशासन तथा सुव्यवस्था की सुस्थिर, मजबूत और वैचारिक चेतना से सनी डोर लगा देता है, आस्था और ज्ञान की व्यवस्था मे नया प्राण फूंक देता है। तब संघर्ष के स्वर बदल जाते है, समन्वय की मनोवृत्ति, समता की प्रतिध्वनि, सत्यान्वेषण की चेतना गतिशील हो जाती है, अपने शास्त्रीय व्यामोह से मुक्त होने के लिए अपने वैयक्तिक एकपक्षीय विचारों की आहुति देने के लिए और निष्पक्षता-निर्वैरता-निर्भयता की चेतना के स्तर पर मानवता को धूल-धूसरित होने से बचाने के लिए।

"मूक माटी" के कवि ने अनेकान्तवाद को अपने जीवन मे उतारा है और असन्तोष की आग को अपनी विरागता से शान्त किया है। उसमे कितनी तपन है सद्भाव पाने के लिए और उसका भीतरी आयाम कितना विस्तृत हो गया है इस दिशा मे वीतरागता का पराग पाने के लिए, इसे देखिये इन पंक्तियो में —

कितनी तपन है यह।
बाहर और भीतर
ज्वालामुखी हवाये ये।
जल-सी गई मेरी
काया चाहती है
स्पर्श मे बदलाहट,
घाम नहीं अब
धाम मिले।

इन दिनों भीतरी आयाम भी
बहुत कुछ आगे बढा है,
मनोज का ओज वह
कम तो हुआ है
तत्त्व का मनन-मन्थन
बहुत हुआ, चल भी रहा है
अब,
मन थकता-सा लगता है
तन रुकता-सा लगता है
अब राग नही है
पाग मिले।

मानता हूँ इस कलिका मे
सम्भावनाये अगणित है
किन्तु, यह कलिका
कली के रूप मे कब तक रहेगी।
इसकी भीतरी सन्धि से
सुगन्धि कब फूटेगी वह।
उस घट के दर्शन में

बाधक है यह घूँघट
अब राग नहीं,
...पराग मिले। (पृष्ठ १४०-१४१)

आचार्यश्री का यह कथन एक ओर व्यक्तिगत आध्यात्मिक साधना की ऊँचाई को पाने की कटिबद्धता को आश्वस्त करती है तो दूसरी ओर बाहर और भीतर की तपन तथा ज्वालामुखी हवाओ की बात कहकर समाज और व्यक्ति के व्यावहारिक क्षेत्र मे व्याप्त कलह की ओर स केत करती है। सागर में उत्पन्न हुए कलह से कवि को जो वेदना हुई है, वह सागर के लिए एक अपूरणीय क्षति कहा जा सकता है। कवि के हृदय मे सागर के प्रति अमित प्रेम है, उसकी गुरु-गारवता की ओर भी उसका ध्यान है , पर जब लहर की ओर दृष्टि जाती है तो उसे वह अल्पकालिक लगता है। वह सोचता है, सुख के बिन्दु से ऊबना और दु ख के सिन्धु मे डूबना, जीत से सम्मान होना और हार से अपमान होना, लोभ-क्षोभ होना, यह सब तो जिन्दगी मे लगा ही रहता है। पर इस दु ख-क्षोभ-जन्य कलह को, अपनी आन्तरिक वेदना को,कवि ने अनेकान्तात्मक दृष्टि से सोचकर दूर करने का सफल प्रयत्न किया है। इसलिए वह कह उठता है "यह सब वैषम्य मिट से गये है । जबसे मिला ... यह । मेरा सगी सगीत है" (पृ १४७)। लगता है, सागर का प्रसग सागर में ही समाप्त हो गया है। महाकवि की आन्तरिक साधुता का इससे अधिक अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है ?

इस प्रसग में स्मरणीय है कि कवि ने अनेकान्तवाद और उसकी सप्त-भगियों का उल्लेख किया है और "मेरा सगी संगीत है" कहकर उसके प्रति गहन आस्था व्यक्त की है —

एक ही वस्तु
अनेक भगों में भंगायित है
अनेक रगों में रगायित है, तरगायित !
मेरा सगी सगीत है
सप्तभगी रीत है। (पृष्ठ १४६)

अनेकान्तवाद वस्तुतः सत्य और अहिंसा की भूमिका पर प्रतिष्ठित तीर्थंकर महावीर का एक सार्वभौमिक सिद्धान्त है जो सर्वधर्म समभाव के चिन्तन से अनुप्राणित है। उसमें लोकहित, लोकसंग्रह और सर्वोदय की भावना गर्भित है। धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक विषमताओं को दूर करने का अमोघ अस्त्र है , समन्वयवादिता के आधार पर सर्वथा एकान्तवादियों को एक प्लेटफार्म पर

ससम्मान बैठाने का मूल उपक्रम है। दूसरों के दृष्टिकोण का अनादर करना और उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना ही सघर्ष का मूल कारण होता है। संसार में जितने भी युद्ध हुए है , उनके पीछे यही कारण रहा है। अत सघर्ष को दूर करने का उपाय यही है कि हम प्रत्येक व्यक्ति के राष्ट्रीय विचारों पर उदारता और निष्पक्षता पूर्वक विचार करे । इससे हमारा दृष्टिकोण दुराग्रही और एका गी नही होगा।

प्राचीन काल से ही समाज शास्त्रीय और अशास्त्रीय विसवादों में जूझता रहा है, बुद्धि और तर्क के आक्रमणों को सहता रहा है, आस्था और ज्ञान के थपेडों को झेलता रहा है। तब कही एक लम्बे समय के बाद उसे यह अनुभव हुआ कि इन बौद्धिक विषमताओं के तीखे प्रहारों से निष्पक्ष और निर्वैर होकर मुक्त हुआ जा सकता है, शान्ति की पावन धारा में सगीतमय गोते लगाये जा सकते है और वादों के विषैले घेरे को मिटाया जा सकता है। इसी तथ्य और अनुभूति ने अनेकान्तवाद को जन्म दिया और इसी ने सर्वोदय दर्शन की रचना की।।

आचार्यश्री ने कुम्भ पर लिखे ६३ और ३६ अको की मीमा सा मे बताया कि तीन और छह की सख्या जिसतरह परस्पर विपरीत होती है, वैसे ही विचारों की विकृति और आचारों की प्रकृति भी उल्टी रहती है और फलत कलह-सघर्ष छिड जाता है। इसी सदर्भ में उन्होंने ३६३ मतों का भी उल्लेख किया है जो परस्पर एक दूसरे के खून के प्यासे होते है (पृ १६९) । प्राचीन जैन साहित्य में इनका वर्णन इस प्रकार उपलब्ध होता है — क्रियावाद के १८० नव पदार्थों के स्वत परत , नित्य-अनित्य,काल-स्वभाव-नियति-ईश्वर-आत्मा के भेद से [(९ x २ = १८) x २ = ३६ x ५ = १८०] अक्रियावाद के ८४ (सप्त तत्त्वो के स्वत - परत , काल-यदृच्छा-नियति-स्वभाव-ईश्वर-आत्मा के भेद से [(७x२ = १४) x ६=८४) अज्ञानवाद के ६७ नव पदार्थों के सात और चार भेद - [(९x७) = ६३ + ४ = ६७] तथा वैनयिकवाद के ३२ मन-वचन-कार्य और दान से सुर, नृ-पति आदि आठ व्यक्तियों की सेवा करना। (८x४ = ३२) । बौद्ध साहित्य मे इनकी सख्या ६२ बताई गई है।

ये दार्शनिक मत-मतान्तर है, जो शुद्ध एकान्तवादी है। वे अपने विचारों मे "ही" का प्रयोग करते है जो दुराग्रह का प्रतीक है,एक दूसरों के विचारों का अनादर है। परन्तु अनेकान्तवादी अपनी विचाराभिव्यक्ति में "भी" का प्रयोग करते है जो समीचीनता, समादरता , विनम्रता और लोकतन्त्र का प्रतीक है। आचार्यश्री ने "ही" और "भी" के ही माध्यम से एकान्तवाद और अनेकान्तवाद की अभिव्यक्ति को स्पष्ट किया

"ही" देखता है हीन दृष्टि से पर को
"भी" देखता है समीचीन दृष्टि से सबको,
"ही" वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है
"भी" वस्तु के भीतरी-भाव को भी छूता है,

"ही" पश्चिमी सभ्यता है
"भी" है भारतीय संस्कृति, भाग्यविधाता,
"रावण" था "ही का उपासक
राम के भीतर "भी" बैठा था।
यही कारण है कि
राम उपास्य हुए है, रहेंगे आगे भी।

"भी" के आस-पास
बढती-सी भीड लगती अवश्य,
किन्तु वह भीड नहीं, बल्कि
"भी" लोकतन्त्र की रीढ है

लोक मे लोकतन्त्र का नीड
तब तक सुरक्षित रहेगा जब तक
"भी" श्वास लेता रहेगा।
"भी" से स्वच्छन्दता मदान्धता मिटती है -
स्वतन्त्रता के स्वप्न साकार होते है
सद्विचार सदाचार के बीच
"भी" मे है, "ही" मे नही । (पृष्ट १७३)

"ही" और "भी" की इस विभेदक रेखा ने स्याद्वादी धर्म की तात्त्विकता को स्पष्ट कर दिया है, जिसके मानवीय एकता, सहअस्तित्व, समानता और सर्वोदयता विशिष्ट अग हैं। इन अगो को कुछ अहवादी लोग स्वार्थवश वर्गभेद और वर्णभेद जैसी विचित्र धारणाओं की विषैली आग पैदा कर देते है, जिसमें समाज की भेडिया- धसान वाली वृत्ति वैचारिक धरातल से असबद्ध होकर कूद पडती है, गणतन्त्र धनतन्त्र का रूप ले लेता है (पृ. २७१), उसके सारे समीकरण झुलस जाते है। दृष्टि में हिंसक व्यवहार अपने पूरे शक्तिशाली स्वर मे गूजने लगता है, शोषण की मनोवृत्ति सहानुभूति और सामाजिकता की भावना को कुंठित कर देती है। इस

दुर्वस्था की सारी जिम्मेदारी एकान्तवादी चिन्तको के सबल हिंसक कन्धो पर है, जिसने समाज को एक भटकाव दिया है, अशान्ति का एक आकार-प्रकार खड़ा किया है और पडौसी को पडौसी जैसा रहने मे सकोच, वितृष्णा और मर्यादाहीन भरे व्यवहारो की लौहिक दीवाल को गढ दिया है। अनेकान्तवाद इन लौहिक दीवालो को अहिसात्मक ढग से ध्वस्त कर नैतिक चेतना को जाग्रत करता है।

पदार्थ है अनन्त और असीमित गुण पर्यायो का पुञ्ज और ससारी है सान्त और सीमित बुद्धि सम्पन्न। दोनों के गुणों में पूर्व और पश्चिम का अन्तर है। दोनों के सन्दर्भ एक होते हुए भी अनन्त है। पर विडम्बना यह है कि सीमित को असीमित अपनी बाहों में समेट लेना चाहता है, अपने खोटे ज्ञान और बल के आधार पर पाक्षिक भावना और तर्क वश होकर के वह आँखे मूँद लेता है वैज्ञानिक तथ्य से और इकार कर देता है सार्वजनीन उपयोगिता को। बस, यहीं अक्षर-अक्षर लडने-भिडने लगते है और तथ्य अनावृत्त होकर सुप्त हो जाते है, नई आस्थाये पुरानी आस्थाओ से टकराने लगती हे, परिभाषाये बदलने लगती है। फलत स्वय की खोज कोसो दूर होकर सिसकने लगती है। जीवन का लक्ष्य कुछ और हो जाता है। जीवन जीवन नही रहता, वह भार बन जाता है, अनैतिकता के साये मे।

इस प्रकार की अज्ञानता और अनैतिकता के अस्तित्व को मिटाने तथा शुद्ध ज्ञान और चारित्र का आचरण करने की दृष्टि से "मूक माटी" ने अनेकान्तवाद का एक अमोघ सूत्र व्यावहारिक धरातल पर उतारकर प्रस्तुत किया है। समता की भूमि पर प्रतिष्ठित होकर आत्मदर्शी होना अनेकान्तवादी के लिये आवश्यक है। समता मानवता की सही परिभाषा है। समन्वयवृत्ति उसका हर अक्षर है, निर्मलता और निर्भयता उसका फुलस्टॉप है, निराग्रही वृत्ति और असाम्प्रदायिकता उसका पैराग्राफ है।

अनैकान्तिक और सर्वोदयी चिन्तन की दिशा में आगे-आगे बढनेवाला समाज पूर्ण अहिंसक और आध्यात्मिक होगा। वह सभी के उत्कर्ष में सहायक होगा। उसके साधन और साध्य पवित्र होंगे। तर्क शुष्कता से हटकर वास्तविकता की ओर बढेगा। हृदय-परिवर्तन के माध्यम से सर्वोदय की सीमा को छुएगा। चेतना व्यापार के साधन इन्द्रियाँ और मन सयमित होंगे। सत्य की प्रामाणिकता असन्दिग्ध होती चली आयेगी। सापेक्षिक चिन्तन व्यवहार के माध्यम से निश्चल तक क्रमश बढता चला जायेगा, स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर, बहिरग से अन्तरग की ओर, सा व्यावहारिक से पारमार्थिक की ओर, ऐन्द्रियक ज्ञान से आत्मिक ज्ञान की ओर। 'मूक माटी' का हर विषय व्यक्ति को इसी आत्मिक ज्ञान की ओर बढने के लिये दिशादान देता है।

आध्यात्मिक दार्शनिकता

चेतना की सृजन-शीलता से अथक जुड़ा हुआ यह महाकाव्य कुम्भकार की सहायता से माटी की यात्रा प्रारम्भ करता है (पृ.१७) और अनेक परतो में उतराता-सकुचाता कुम्भ को ससार-नदी के पार तट पर खडा कर देता है। इतना ही नही , कुम्भ द्वारा अपने उत्थापक सेठ के प्रति कृतज्ञता व्यक्त कर उसे भी बचा लेना , उपादान-निमित्त की संयुक्त अर्थवत्ता को स्पष्ट करना रहा है (पृ.४८१) ।

इसी कडी मे 'मूक माटी' के प्रथमकाण्ड के कुछ विशेष प्रसग भी दृष्टव्य है — औजार नमन और अहकार वमन (पृ २८), दया का होना जीव का सम्यक् परिचय (पृ ३७), माटी की ककर को देशना ।(पृ.५१) विभाव की सफलता और स्वभाव-भाव की विकलता (पृ ५५) , ककर की विशेषताये (पृ.४९) गाँठ से हिंसा होती है (पृ ६४) , सहधर्मी में ही वैरभाव देखे जाते है ,(पृ ७१), अन्त समय में अपनी ही जाति काम आती है (पृ ७२), प्रत्येक व्यवधान का सावधान होकर सामना करना अन्तिम समाधान को पाना है (पृ ७४), हमारी उपास्यदेवता अहिंसा है (पृ ६४), कुम्भक प्राणायाम (पृ ५९), स्वभाव-विभाव में अतर (पृ.५४), वर्णसकर (पृ ४६), चालनी (पृ ४४), परस्परोपग्रहो जीवानाम् (पृ.४१), माटी का इतिहास (पृ २९), शिल्पी (पृ २७), मिट्टी की यात्रा (पृ.१७), सघर्षमय जीवन का उपसहार नियम रूप से हर्षमय होता है (पृ १४), पूत-के लक्षण पालने में (पृ १४), सगति का फल (पृ ८), माँ की ममता (पृ ५५), धम्मो दया विसुद्धो, धम्म सरण गच्छामि (पृ ७०), मुंह में राम बगल में छुरी (पृ ७२), वसुधैव कुटुम्बकम् (पृ ८२), कलियुग की पहचान (पृ ८२), सल्लेखना (पृ ८७), महासत्ता (माँ) में वीररस की कल्पना (पृ १३०), कवि का आत्मिक उद्देश्य (पृ १४०), परमार्थ तुलता नहीं कभी अर्थ की तुला में (पृ.१४२) ।

"शब्द सो बोध नही बोध सो शोध नही" इस द्वितीयकाण्ड के भी महत्त्वपूर्ण प्रसंग देखिए- छना निर्मल जल (पृ ८९), शीतकाल (पृ.९०), सूर्य वर्णन (पृ ९१), श्रमिक जीवन (पृ ९१), साम्य प्रकृति मे ही मैत्री होती है (पृ ९३), स्वभाव व्याख्या (पृ ९३), कामवृत्ति कायरता है (पृ.९४), टूटा कांटा (पृ.९५), आशा (पृ ९६), गुलाब का पौधा (पृ ९९), दुर्मन वालो की आलोचना (पृ.१०१), कामदेव और महादेव (पृ.१०१), पश्चिमी सभ्यता (पृ.१०३), कांटे के बिना फूल कहाँ (पृ १०३), राजसत्ता राजसेता की राजधानी है (पृ १०४), शिल्पी की प्रशंसा (पृ १०५), उद्यम आवश्यक है (पृ १०६), बोध-शोध (पृ १०७), स्थिर मन ही

महामंत्र है (पृ १०८), मोह और मोक्ष (पृ.१०९), व्याख्या से मूल का मूल्य कम हो जाता है (पृ १०९), साहित्य का अर्थ (पृ.१११), काया का स्वभाव (पृ.११२), लेखन-प्रवचन मात्र अतीत की व्याख्या है (पृ.११३), पदाभिलाषी बनकर पर के ऊपर पद-पात न करूं(पृ ११५), रसना (पृ.११६), मौन (पृ.११८), सरिता (पृ.११९), आस्था के बिना आचरण में आनद आता नही (पृ.१२०), संस्था (पृ.१२०), चेतन और शिल्पी (पृ.१२२), प्रकृति और विकृति (पृ १२३), किसका किस पर नियत्रण है (पृ १२५), पुरुष-आत्मा भोक्ता (पृ १२६), मार्दव (पृ १२७), पापपुज पुरुष को माटी का उपदेश पर-खो, परखो (पृ १२५), वीररस मान का कारण है (पृ १३१), मान का मूल कडा होता है (पृ १३१), हास्यरस (पृ १३२), हास्य भी कषाय है (पृ १३३), रौद्ररस (पृ १३४), भयानक रस (पृ १३८), श्रृंगाररस (पृ १३८), कवि का उद्देश्य (पृ १४०), स्वर (पृ १४२), सगीत की व्याख्या (पृ १४४), सागर की पीडा (पृ १४६), वीभत्सरस (पृ १४७), माँ का चित्रण (पृ १४८), आशा को ही पाशा समझो (पृ १५०), लेखनी (पृ १५१), करुणा (पृ १५२), करुणा हेय नही (पृ १५४), करुण रस और शान्त रस (पृ १५५), वात्सल्य रस और शान्त रस (पृ १५८), संसार (पृ १६१), काल का स्वरूप (पृ १६१), निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध (पृ १६४), कुम्भ पर सख्या लेखन-विचार (पृ १६६), कुम्भ पर सिंह, श्वान, कछुवा, खरगोश, ही, भी, आदि का चित्रण-विचार (पृ १७५), वसत वर्णन (पृ १७६), जनम-मरण प्रक्रिया (पृ १८१), स्वप्न व्याख्या (पृ १८४), "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त सत्" की व्याख्या (पृ १८४)।

तृतीय काण्ड में व्यक्त दर्शन को इन शीर्षको में देखिए — धरा-रत्नाकर-जलधि (पृ १८९), अर्थ की आँखे परमार्थ को देख नही सकती (पृ १९०), धरती (पृ १९३), सागर (पृ १९३-१९४), बाँस (पृ १९५), तन-मन (पृ १९८), तीन बदली (पृ १९९), स्त्री - प्रशसा (पृ २०१), नारी, महिला, जननी, अबला, कुमारी, सुता, दुहिता, मातृ-अगना की व्याख्या (पृ २०१-२०८), प्रभा प्रशंसा (पृ २०८), बादल और प्रभाकर का सघर्ष, सागर द्वारा राहु का स्मरण, सूर्य-ग्रहण, वर्षा-वर्णन, शिल्पी-चरित्र, सौर-भूमण्डल, ओला, अग्नि-परीक्षा आदि का वर्णन (पृ.२०९-२६६),

चतुर्थ काण्ड के दर्शन पर निहारिए — असयमी सयमी को क्या देगा? नियम-सयम के सम्मुख असंयम ही नही , यम भी घुटने टेक देता है (पृ.२६९), बबूल की अन्तर्वेदना (पृ २७०-१), गणतन्त्र या धनतन्त्र (पृ २७१), आशातीत विलम्ब के

कारण अन्याय न्याय-सा नहीं , न्याय अन्याय-सा लगता ही है (पृ. २७२), शिल्पी का वचन (पृ २७३), अग्नि कथन (पृ. २७५), अग्नि की कसौटी (पृ २७६), कुम्भ का अभिवचन —शिष्टों पर अनुग्रह करना धर्म है (पृ. २७७), ध्यान के सदर्भ में आधुनिक चित्रण (पृ. २८६), दर्शन और अध्यात्म (पृ. २८७), कुम्भ की अग्नि परीक्षा (पृ २८८), नदी का प्रवाह (पृ २९०), स्वप्न (पृ २९६), कुम्भ का पवित्र रूप (पृ. २९७), साधु-रूप (पृ ३०१), सेठ द्वारा कुम्भ का क्रय (पृ. ३०२), सप्त स्वर का अर्थ (पृ. ३०५), कुम्भ पर स्वस्तिक अंकन (पृ ३०९), उस पर श्रीफल माला का चित्रण (पृ ३११), साधु की आहार प्रक्रिया का विस्तार से काव्यात्मक वर्णन (पृ. ३१३), भूख, इन्द्रियाँ, कषाय, समता, दुग्ध, जलपान, गोचरी-वृत्ति, भ्रामरी-वृत्ति, पाणि-पात्र, सयमोपकरण पीछी, उपदेश, नियति और पुरुषार्थ आदि (पृ ३१४-३५०), सेठ का आलकारिक वर्णन (पृ. ३५०), स्वर्ण-कलश (पृ ३६१), माटी -कुम्भ दीप-समान और स्वर्ण-कलश मशाल-समान (पृ ३६७-३७१),

कुम्भ की विशेषता (पृ ३७७), मच्छर (पृ ३७७), धन पर कटाक्ष (पृ ३८५), मत्कुण (पृ ३८६), सेठ के रोग की परीक्षा (पृ ३८९), प्राकृतिक चिकित्सा (पृ ४०८), कलियुग की महिमा - हीरा, मोती, कडा (पृ ४१०-४११), सम्यक् तप (पृ ३९१), नारी की विशेषता (पृ ३९२), कला (पृ ३९६), कुम्भ के माध्यम से श, ष, स का योग, रोग मुक्ति का कारण (पृ ३९८), वैखरी (पृ ४०२), क्रोध-क्षमा (पृ ४१६), कलशी (पृ. ४१७), आतकवाद का अवतार (पृ ४१८), समण (पृ ४२०), आतकवादियो का आलंकारिक वर्णन (पृ ४२६), गजदल, सर्प, द्वारा रक्षा (पृ ४३४-४३५), काव्य वैशिष्ट्य (पृ ४३६), मन्त्र शक्ति (पृ ४३७), स्वतत्रता के प्रति अगाध प्रेम (पृ ४४२), नदी वर्णन (पृ. ४४६), कुम्भ की कृतज्ञता (पृ ४५४), समाजवाद (पृ ४६१), सामुदायिक चेतना (पृ. ४६७), सत्य का आत्म-समर्पण क्यों? (पृ ४६९), कुम्भ की मगल कामना (पृ ४७०), उपादान-निमित्त (पृ ४८०), सर्गों का साराश (पृ. ४८१-४८६), आचरण द्वारा पहचान करो (पृ ४८७)।

"मूक माटी" मे वर्णित ये सभी विषय किसी न किसी तत्त्वदर्शन और अध्यात्म की व्याख्या करते है। यदि हम इनकी व्याख्या करने लगे तो एक महाग्रन्थ तैयार हो जायेगा। इसके प्रत्येक तत्त्व में गहन चिंतन भरा हुआ है। अत. पाठक मूल काव्य को देखकर अपनी प्यास शान्त कर सकते है। यहाँ हम प्रस्तुत महाकाव्य से सम्बद्ध कतिपय अन्य महत्त्वपूर्ण मुद्दो पर कुछ संकेत मात्र कर रहे है।

रत्नत्रय : अपवर्ग-प्राप्ति का सोपान

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का समवेत रूप अपवर्ग की प्राप्ति का महत्त्वपूर्ण सोपान है। वह जीवन को विशुद्ध बनाने का सुंदरतम समन्वित साधन है। महामाया और भौतिकता की क्षणिक चकाचौंध से दूर होकर व्यक्ति व्यावहारिक स्तर पर आस्था, ज्ञान और आचरण के माध्यम से अपने सम्यक् लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। इन तीनों का समवेत स्वरूप ही जीवन की उन्नति का परम साधन है। आचार्यश्री ने "मूकमाटी" में इसका अच्छा वर्णन किया है।

सम्यग्दर्शन मोक्ष-प्राप्ति का प्रथम और महत्त्वपूर्ण साधना है। दार्शनिक श्रावक होने की सबसे आवश्यक और प्राथमिक शर्त यह है कि वह सम्यक्त्वी हो। सम्यक्त्वी होने के लिए वीतरागी, आप्तदेव, आगम और जीवादि सप्त तत्त्वों पर अगाध आस्था होना अपेक्षित है। ऐसा सम्यक्त्वी श्रावक ससार की नश्वरता और आत्मशक्ति पर विचार करते-करते शका, कांक्षा, विचिकित्सा, मूढ-दृष्टित्व, अनुपगूहनत्व, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना —इन आठ दोषो से दूर हो जाता है, इसलिए शाश्वत सत्ता पर आस्था होना प्रथम आवश्यकता है, जो साधना को नया स्वर प्रदान करता है —

इसलिए, जीवन का
आस्था से वास्ता होने पर
रास्ता स्वय शास्ता होकर
सम्बोधित करता साधक को
साथी बन साथ साथ देता है।
आस्था के तारो पर ही
साधना की अंगुलियॉ
चलती है साधक की,
सार्थक जीवन में तब
स्वरातीत सरगम झरती है! (पृष्ठ ९)

आस्था के होने पर ही साधक स्वय को साधना के सांचे में ढाल पाता है। चरणों का उपयोग किये बिना शिखर का स्पर्श नहीं किया जा सकता, आस्था के बिना कोई दूसरा रास्ता नही होता, फूल-फल कभी मूल में नहीं लगते, वे चूल पर ही दोलायित होते है, फिर भी प्राथमिक दशा में साधना के क्षेत्र में स्खलन की सम्भावना बनी रहती है, स्वस्थ व्यक्ति भी काई लगे पत्थर पर पैर रखते ही फिसल जाता है,

पाकशास्त्री की भी पहली रोटी करडी हो जाती है। इस सूक्ष्मान्वेक्षण के साथ आचार्यश्री साधक को सलाह देते हैं — "आयास से डरना नही , आलस्य करना नही"। आस्था की आराधना में प्रतिकार और अतिचार विरोधक ही बनते हैं। इसलिए सत्संगति का फल बताते हुए उन्होंने कहा कि अनुकूलता की प्रतीक्षा करना यथार्थ पुरुषार्थ नही है, उससे तो गति में शिथिलता ही आती है और इसी तरह प्रतिकूलता का प्रतिकार भी द्वेष को आमंत्रित करता है। सघर्षमय जीवन का उपसहार वस्तुत• नियमरूप से हर्षमय होता है। इसलिए कवि कह उठता है -

कभी कभी
गति या प्रगति के अभाव में
आशा के पद ठण्डे पडते हैं,
धृति, साहस, उत्साह भी
आह भरते है,
मन खिन्न होता है
किन्तु
यह सब आस्थावान् पुरुष को
अभिशाप नहीं हैं,
वरन्
वरदान ही सिद्ध होते है
जो यमी, दमी
हरदम उद्यमी है। (पृष्ठ १३)

कवि को आस्था पर बडी आस्था है। उसके बिना उसे आचरण में आनंद नहीं आता। सम्यग्दर्शन में आया "दर्शन" कदाचित् आस्था का ही सूचक है। यही आस्था निष्ठा, प्रतिष्ठा में सचरण करती हुई अव्यय अवस्था में पहुँचा देती है -

सही आस्था ही वह
निष्ठा-प्रतिष्ठाओ में से होती हुई
सच्चिदानंद संस्था की
सदा-सदा के लिए
क्रय-विक्रय से मुक्त
अव्यय अवस्था पाती है, माँ !

और
मौन अपने में डूबता है। **(पृष्ठ१२१)**

संसार संसरण है, उपचार से कालचक्र है। इस सदर्भ में कवि ने चक्र के विविधरूपों-प्ररूपों का वर्णन करते हुए कुलाल-चक्र की अनुपमता को प्रकाशित किया है, जो जीवन को निखारकर पावन बना रहा है, उसकी परिधि की ओर देखने से चेतन का पतन होता है पर परम केन्द्र की ओर ध्यान देने से उसका उत्थान होता है। चक्करदार पथ से ही व्यक्ति पर्वत के शिखर तक पहुँच सकता है बस , उसे सम्यक् दृष्टि होनी चाहिए (पृ १६२) । आज वह सम्यक् दृष्टि मिलती कहाँ ? इस प्रसग को लेकर आचार्यश्री का मन डूबने-उतराने लगता है, आज के मानव की आचरण-हीनता पर और कह उठते है वे कि तीर्थंकर आदिनाथ से प्रदर्शित पथ का आज अभाव नहीं है, अभाव है चारित्रवान् पथदर्शकों का। चारित्र से दूर रहकर धर्मामृत की वर्षा करने वालों की अपार सख्या है। "जो पथ पर स्वय तो चलता नही , पर औरो को चलाना चाहता है" (पृ १५२)। आज के भगवानों पर यह करारा व्यग है।

कवि ने कामदेव और महादेव की तुलना करते हुए महादेव में विराग का चित्रण किया और कामदेव को राग और दु ख का कारण बताया। कामदेव पश्चिमी सभ्यता का प्रतीक है, जहाँ विनाशलीला सदैव घूमती रहती है और भारतीय सस्कृति को सुख, शान्ति का प्रतीक माना है। यहाँ शूल और फूल की अच्छी चर्चा है (पृ १०२-१०३)।

सम्यग्दृष्टि को पाने में आचार्यश्री अर्थ-लिप्सा को सर्वाधिक बाधक तत्त्व मानते है - "अर्थ की आँखे परमार्थ को देख नही सकती" (पृ १९२) अनेक स्थानो पर उन्होने उसकी कटु आलोचना की है। यह सारा ससार अर्थ की चाह-दाह में दग्ध हो राह है, अर्थ में ही मुग्ध हो गया है। अर्थवृत्ति वैश्यवृत्ति का परिवेश है, उसी की वैयावृत्ति है । किसी सीमा तक वह ठीक हो सकती है पर लक्ष्मण रेखा का उल्लघन तो निश्चित ही दु ख का कारण होता है। (पृ २१७)। सपत्ति का उपयोग तो शिष्टो के सरक्षण में है —

शिष्टों का उत्पादन - पालन हो
दुष्टो का उत्पातन - गालन हो
सम्पदा की सफलता वह
सदुपयोगिता मे है ना! **(पृष्ठ २३५)**

आज के व्यक्ति में आस्था की कमी ने कवि की लेखनी में करुणाई झलका दी है और विश्व की विचित्रता पर उसमें बिलखाव पैदा कर दिया है (पृ.१५१)। कवि को सारा संसार स्वार्थी दिखाई देता है, उसकी दृष्टि में वसु अर्थात धन ही ससार का कुटुम्ब बन गया है, खरी बात यहाँ लोगों को अखरी-सी लगती है, इस कलियुग की दृष्टि सत् को असत् माननेवाली होती है। प्रसंगवशात् आध्यात्मिक संत ने कलियुग और सत्युग के बीच एक विभेदक रेखा खीचकर अपना आध्यात्मिक लक्ष्य स्पष्ट किया है। तदनुसार कलियुग काल के समान अति क्रूर होता है, भ्रान्तिकारी होता है, व्यष्टिवादी होता है, चचल होता है, मृतक-सा लगता है, कांतिमुक्त शव-सा लगता है और इसके विपरीत सतूयुग कलिका लता के समान अतिशय दयालु होता है, शान्तिमय होता है, समष्टिवादी होता है, स्थिर होता है, सुस्थिर अहिसक होता है, अमृत-सा लगता है, कौतियुक्त शिव-सा लगता है (पृ ८३-८४)। सतूयुग की आराधना करने के बाद उसका लक्ष्य है शाश्वत-सत् से जुड जाना —

> अब जीने को
> बल-सत्त्व की अपेक्षा नहीं
> टूटा-फूटा
> फटा हुआ यह जीवन
> जुड जाय बस ! किसी तरह
> शाश्वत-सत्य से
> --- सातत्य चित्त से
> बेजोड बन जाय, बस !
> अब सीने को
> सूई-सूत्र की अपेक्षा नहीं। (पृष्ठ ८५)

आतकवाद का चित्रण (पृ ४२६-४२८, ४३२,४४१,४५६), धनिकों की प्रवृत्ति की आलोचना (पृ.३८५), मत्कुण-मच्छर आदि पात्रों का सयोजन (पृ.३८६), तामस का चित्रण (पृ.२८६), अग्नि-परीक्षा (पृ.२७३-२७७), स्वप्न की व्याख्या (पृ.२९५), क्रोधादि कषायों की स्वरूपोक्ति, आज के भगवानों का रूप (पृ १५१-१५२), आदि बीसों प्रसग लाकर कवि ने सासारिक वासनाओं का सुदर चित्रण किया है और उससे निर्मुक्त होकर आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत करने का भरपूर प्रयत्न किया है। सम्यग्दर्शन के व्यावहारिक रूप को निश्चय स्वरूप में

ढालकर समाजवाद की नई व्याख्या (पृ.४६७) महाकवि के चिन्तन का ही प्रसाद है, जिसमें प्रशस्त आचार-विचार और सामुदायिक चेतना की अभिव्यक्ति हुई है —

समाज का अर्थ होता है समूह
और समूह यानी
सम-समीचीन- ऊह-विचार है
जो सदाचार की नींव है।
कुल मिलाकर अर्थ यह हुआ कि
प्रचार-प्रसार से दूर
प्रशस्त आचार-विचार वालो का
जीवन ही समाजवाद है
समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से
समाजवादी नही बनोगे। (पृष्ठ ४६१)

इस समाजवाद का सम्बन्ध समाजवाद के वास्तविक लक्षण से तो है ही पर उसे आचार-विचार के धरातल पर अधिक तोला गया है। जैनदर्शन की दृष्टि से आत्मा मे स्वभावत अनत दर्शन, अनत ज्ञान, अनत सुख और अनत वीर्य — ये चार तत्त्व सनिहित रहते है। दर्शन और ज्ञान की परिपूर्ण अभिव्यक्ति ही अनत सुख और अनत वीर्य की प्राप्ति के कारण होती है। ये तत्त्व तभी प्राप्त होते है जब आत्मा अपने अनादिकालीन कर्मबन्ध से विमुक्त होकर स्वभाव रूप विशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर ले। माटी के माध्यम से "मूक माटी" का अभिधेय यही रहा है।

दार्शनिक महाकवि ने अपने इस महाकाव्य को रत्नत्रय पर आधारित किया है, उपादान और निमित्त की मीमासा कर वस्तु तत्त्व की व्याख्या की है और दर्शन, ज्ञान और चारित्र के अविनाभाव सम्बन्ध की सयुक्तिक तत्त्व चर्चा की है। तीनों का सम्यक् परिपालन ही मोक्ष-अपवर्ग का कारण है, मार्ग है। साध्य की विफलता और टकराव का प्रमुख कारण इन तीनों तत्त्वों का अलगाव होना है। इन तीनों में यद्यपि लक्षण भेद है, फिर भी ये मिलकर एक ऐसी आत्मज्योति पैदा करते है, जो अखण्ड भाव से एक मार्ग बन जाती है। यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कुम्भकार, जल, हवा, अग्नि, कुलाल-चक्र आदि के सहयोग से माटी एक कुम्भ का रूप ग्रहण कर लेती है।

कुम्भ एक प्रतीक है स्वस्थ आत्मा का। सम्यक्त्व एक देवता की तरह उसका रक्षक है, ससार को सान्त-शान्त करनेवाला है। इसलिए जैसे नींव को प्रसाद का,

सौभाग्य को रूप-सम्पदा का, जीवन को शारीरिक सुख का, मूल-बल को विजय का, विनम्रता को कुलीनता का और नीति-पालन को राज्य की स्थिरता का मूल कारण माना जाता है, वैसे ही महात्मागण सम्यक्त्व को ही समस्त पारलौकिक अभ्युन्नति का अथवा मोक्ष का प्रथम कारण कहते है। निशा का अवसान और उषा की शान इसी से होती है, सीमातीत शून्य में नीरवता इसी से छाती है, प्राची के अधरों पर मंद मुस्कान इसी से होती है, प्रभाकर (सम्यग्ज्ञान) का उदय इसी से होता है (पृष्ठ १)।

यह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान की आधारशिला है। वस्तुओं को यथारीति, जैसा का तैसा जानना सम्यग्ज्ञान है। हेयोपादेय का विवेक कराना इसका मूल कार्य है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रयत्नों की विशुद्धता पर निर्भर करते है। माटी से कुम्भ तक के निर्माण में इसी विशुद्धता के दर्शन होते है। इसी को दार्शनिक परिभाषा में "सम्यक् चारित्र" कहा जाता है। सम्यक् चारित्र होने पर चारित्रमोह विगलित हो जाता है और केवलज्ञान अथवा सर्वज्ञत्व प्रगट हो जाता है। "सृजनशील जीवन का यही वर्गातीत अपवर्ग है" (पृ ४८३)।

जैनदर्शन ज्ञान को ही साधकतम करण मानता है। बिना किसी व्यवधान के ज्ञान ही पदार्थज्ञान कराने का सामर्थ्य (योग्यता) रखता है, इन्द्रियादिक नही। अदृष्ट और कर्म भी सहकारी कारण नही क्योकि आकाश और इन्द्रिय के सन्निकर्षकाल में भी चक्षु का उन्मीलन-निमीलन बना रहता है। इसलिए यहाँ चक्षु को, अप्राप्यकारी बताया गया है और ज्ञान को स्व-पर-प्रकाशक। इसी क्रम मे ज्ञान और दर्शन को युगपत् माना गया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट कहा है कि जिसप्रकार सूर्य में प्रकाश और उष्णता युगपत् होती है, उसीप्रकार केवली में ज्ञान और दर्शन युगपत् प्रगट होता है (नियम-सार १५९) आचार्यश्री का सकेत कदाचित् इसी ओर है इस कथन में —

> मानता हूँ,
> कि सदा-सदा से
> ज्ञान, ज्ञान में ही रहता
> ज्ञेय ज्ञेय में ही
> तथापि
> ज्ञान का जानना ही नहीं
> ज्ञेयाकार होना भी स्वभाव है। (पृष्ठ ३८९)

सम्यग्ज्ञान के संदर्भ में यह जान लेना भी आवश्यक है कि हास्य भी एक कषाय का रूप है, राग-द्वेषजन्य भाव है, पेज्ज रूप है। कषाय-पाहुड आदि ग्रथो में इस

विषय को अधिक स्पष्ट किया गया है। हास्वरस के संदर्भ में आचार्यश्री ने इसी आगम-परम्परा को अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि भाव को दूर करने के लिये हास्य का राग भले ही आवश्यक माना जाये, पर वेद-भाव के विकास के लिए हास्य का त्याग एक अनिवार्य तथ्य है , क्योंकि हास्य एक कषाय है और कषाय को छोड़े बिना वीतरागता कैसे प्रगट हो सकती है ?

हास्य के साथ करुणा भाव के विषय में भी विचार किया जा सकता है। दीनों पर दया-भाव रखना करुणा है (सर्वार्थसिद्धि, ७/११)। करुणा, दया, अनुकम्पा आदि शब्द समानार्थक हैं। इनका अर्थ है — द्वेषभाव त्यागकर सभी प्राणियों पर अनुग्रह, मैत्रीभाव, माध्यस्थभाव और नि शल्यवृत्ति। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है कि तृषातुर अथवा बुभुक्षातुर किसी भी दु.खी प्राणी को देखकर दु'खी होना और दयालु होकर उसकी सेवा करना शुभोपयोग का परिणाम है (प्रवचनसार, गाथा २६८ तात्पर्य वृत्ति) ।

यह अनुकम्पा तीन प्रकार की होती है - धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा और सर्वानुकम्पा। सयमी, निष्परिग्रही और वीतरागी साधु पर अनुकम्पा करना धर्मानुकम्पा है। सयतासयत अर्थात् देश संयमी और अणुव्रती गृहस्थ पर अनुकम्पा करना मिश्रानुकम्पा है तथा सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों प्रकार के साधको पर दया करना सर्वानुकम्पा है। इस प्रकार की अनुकम्पा में प्राणियो की पीडा का उपशम करना उद्देश्य रहता है। करुणा वस्तुत' जीव का स्वभाव है, सम्यक्त्व का चिन्ह है। आचार्यश्री ने इसी को इन शब्दों में कहा है —

दया का होना ही
जीव-विज्ञान का
सम्यक् परिचय है
परन्तु
पर पर दया करना
बहिर्दृष्टि-सा ---
मोह-मूढता-सा
स्व-परिचय से वंचित-सा---
अध्यात्म से दूर ---
प्राय: लगता है

ऐसी एकान्त धारणा से
अध्यात्म की विराधना होती है। (पृष्ठ ३७)

यह एक दार्शनिक विषय है जिसे कवि ने स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है यह कहकर कि स्व के साथ पर का और पर के साथ स्व का ज्ञान होता ही है। चन्द्र-मण्डल को देखने पर नभ-मण्डल का ज्ञान होता ही है। बस वहाँ गौण-मुख्यता का अन्तर रहता है। स्व की याद ही वस्तुत दया है और इसी दया का विकास मोक्ष है।

यदि यह दया वासना-जन्य है तो वह मोह है, अचेतन तन की परिधि में मडराने वाला तत्त्व है परन्तु, यदि वह स्वोन्मुखी दया है, अध्यात्म-सिंचित है तो वह निरवधि है, पीयूष का निकेतन है - ऐसी स्वोन्मुखी परोपकारिका दया का सम्बध वासना से कैसे हो सकता है ?

करुणा की कर्णिका से
अविरल झरती है
समता की सौरभ- सुगध,
ऐसी स्थिति में कौन कहता है
कि
करुणा का वासना से सम्बन्ध है। (पृष्ठ ३९)

धरती मा की विशेषताओ में एक अनुपम विशेषता है – करुणाद्रता (पृ २०१) जिसको कवि जीवन की परिचयात्मकता से जोडना चाहता है -

जल को जडत्व से मुक्त कर
मुक्ताफल बनाना,
पतन के गर्त से निकाल कर
उत्तुंग-उत्थान पर धरना,
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।
यही दया धर्म है।
यही जिया कर्म है। (पृष्ठ १९३)

यथार्थ करुणा भाव सम्यक् चारित्र के परिपालन बिना नही हो पाता। ससार की कारणभूत बाह्य -अंतरंग क्रियाओं से निवृत्त होकर आत्मविशुद्धि प्राप्त करना

सम्यक् चारित्र है। यही समता-पथ है (पृ.२५९) यही स्वदया है (पृ ३८), इसी के माध्यम से अहं अस्तित्वहीन हो जाता है, जिसकी प्राप्ति के लिए कवि यात्री बना हुआ है (पृ.१५०) , स्व-पर दोषों का जलाना ही वह अपने जीवन का उद्देश्य मानता है (पृ.२७७) , समूचे महाकाव्य की पृष्ठभूमि मे यही उद्देश्य प्रतिबिम्बित होता है। वहाँ मन, वचन काय से शुभ कर्मो मे प्रवृत्ति की ओर व्यक्ति को उन्मुख करना ही उसका लक्ष्य है। महाकाव्य का चतुर्थ खण्ड तो आचार खण्ड-सा ही लगता है।

महाकवि हर पल व्यक्ति को यह स्पष्ट करता चला जाता है कि जीवन में सम्यक् आचरण के कारण विविध उपसर्ग आते रहते है , जिन्हे उसे पूरे धैर्य के साथ सहन करना होगा। प्राय यह देखा जाता है कि आतको-उपसर्गो के सामने साधक अपना धैर्य खो बैठते है और उसकी फलवती शक्ति कही अन्यत्र प्रवाहित हो जाती है। यदि उसमें दृढता रहे तो नियम-सयम के सम्मुख असयम ही नहीं, यम भी अपने घुटने टेक देता है (पृ २६९)। स्वभाव की अनभिज्ञता के कारण ही यह स्थिति उत्पन्न होती है —

आचरण के सामने आते ही
प्राय चरण थम जाते हैं
और
आवरण के सामने आते ही
प्राय नयन नम जाते हैं। (पृष्ठ ४६२)

महाकवि की दृष्टि मे धन और काम-वासना सयम मे सबसे बडे बाधक तत्त्व है। इस ससार को ९९ का चक्कर बताते हुए अर्थलिप्सा वालों को वे निर्लज्ज बताते है (पृ १९२), मच्छर के मुँह से धनिको की प्रवृत्ति की निन्दा करते है (पृ ३८५), और मन को अनग का योनिस्थान मानकर (पृ १९८) सासारिक प्रवृत्तियो से विमुख होने-रहने को उपदेश देते है और ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करने के उपरान्त पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पंचेंद्रिय विजय, छह आवश्यक, केशलुचन, अचेलकता, अस्नान, भूशयन, स्थितिभोजन, अदन्तधावन एव एकभुक्ति — इन अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करके अपने सम्यक् चारित्र को सुदृढ बनाने की आवश्यकता पर बल देते है। उत्तम क्षमा, मार्दव आदि दशधर्मो का अनुग्रहण, त्रिगुप्तियो का परिपालन, अनित्य, अशरण, संसार आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का अनुचिन्तन, क्षुधा, पिपासा आदि बाईस परीषहो का धैर्य पूर्वक परिसहन, तथा

अतरंग और बाह्य तपों का अवलम्बन करने के लिए आचार्यश्री ने अपनी महाकृति में स्थान - स्थान पर प्रेरक-सूत्र दिये है, जिनका उल्लेख समीक्षा का आकार बढने के भय से हम यहाँ नहीं कर रहे हैं।

हाँ, यहाँ नवधा भक्ति की बात अवश्य कहना उपयुक्त होगा। वीतराग प्रभु की भक्ति, भक्त के लिए सबसे बडा सम्बल होती है, शुभ-भावों की उत्पत्ति में निमित्त बनती है और भगवान को भी अपनी ओर खीचने की शक्ति रखती है (पृ २९९)। इस प्रसग में अर्हत् की विशेषता बताते हुए कवि ने साधु की विशेषता को प्रतीक रूप में उपस्थित किया है (पृ ३००-३०१) । निज परमात्म तत्त्व के सम्यक् श्रद्धान-अवबोध-आचरण स्वरूप शुद्ध रत्नत्रय-परिणामों का भजन ही भक्ति है, आराधना है और हेयोपादेयक नीर-क्षीर विवेक का उत्पादक है (पृ ४४५, नियमसार,। गाथा १३४) । शुद्ध भक्ति वस्तुत परमात्मपद प्राप्त करने का सशक्त साधन है।

चतुर्थ खण्ड मे आहार प्रक्रिया के सदर्भ में आचार्यश्री ने नवधा भक्ति का इस प्रकार काव्यमय उल्लेख किया है - सत्पात्र को अपने घर के द्वार पर देखकर अथवा अन्यत्र से विमार्गण कर "नमो ऽस्तु। नमो ऽ स्तु।। नमोऽ स्तु।!। अत्र । अत्र ।। अत्र।।। तिष्ठ। तिष्ठ।। तिष्ठ।।।" — कहकर प्रतिग्रह या स्वागत करना चाहिए, फिर उसकी प्रदक्षिणाकर "मन शुद्ध है, वचन शुद्ध है, तन शुद्ध है और अन्न-पान शुद्ध है। आइये स्वामिन् । भोजनालय में प्रवेश कीजिए" — कहकर बिना पीठ दिखाये घर में प्रवेश करवाये और निर्दोष उच्चासन पर बैठने की प्रार्थना करे, बाद में थाली में पादाभिषेक कर, पादोदक को शिर में लगाकर पुन गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलों से उसकी पूजन करे, तदनतर चरणो के समीप पुष्पांजलि क्षेपणकर निवेदन करे कि " हे स्वामिन् । अजलिमुद्रा छोडकर भोजन ग्रहण कीजिये।" यह सुनकर साधु अजलि छोडकर हाथ धोता है और पाणिपात्री बनकर खडे रहकर आहार ग्रहण करता है। स्थितिभोजन और एक भुक्ति उसकी विशेषता है। इसे गोचरी-वृत्ति और भ्रामरी -वृत्ति कहा जाता है (पृ ३१२-३४०)।

इसके बाद साधु अपने उपाश्रय में वापिस आ जाता है। महाकाव्य में यह सब विस्तार से वर्णित है। दिगम्बर वेषधारी मुनि की यह आहार-प्रक्रिया रसना, इन्द्रिय-सयम और विरागता को अभिव्यक्त करनेवाली बेमिसाल प्रक्रिया है।

श्रमण का स्वरूप

सही श्रमण की पहचान है स्व-पर का ज्ञान, स्व को स्व रूप में और पर को पर रूप में जानना (पृ ३७५)। इसके लिए संत समागम की महती आवश्यकता होती है जो व्यक्ति को ससार से मुक्त होने का पथदर्शन कराता है और सन्तोषी बनाता है (पृ ३५२)। महाकाव्य के प्रारम्भ में ही आचार्यश्री ने सगति के फल की वैज्ञानिक चर्चा की है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है —

> जैसी सगति मिलती है
> वैसी मति होती है
> मति जैसी अग्रिम गति
> मिलती जाती --- मिलती जाती ---
> और यही हुआ है
> युगों - युगों से
> भवो भवों से (पृष्ठ ८)

सन्तो की प्रकृति सहनशीलता वाली होती है और उसी का अवलम्बन लेकर वे सर्वस्व मोक्ष को पाने का प्रयत्न करते हैं (पृ १९०), समता उनकी वृत्ति होती है जिसमें दूसरो के प्रति घृणा का भाव समाप्त हो जाता है (पृ २५९), समरसता आती है और वही सगीत बन जाता है सगातीत हो जाता है (पृ.४५)। 'मूक माटी' में श्रमण की अनेक विशेषताओं का यथास्थान उल्लेख हुआ है। उनमें समता-साम्य को उसका श्रृगार माना गया है। सेठ उसी समता से प्रभावित हुआ (पृ ३६१)। वैराग्यावस्था मे स्वागत भी उसे भार लगता है समताभाव के कारण ही। इसी सदर्भ को आचार्यश्री ने काव्यात्मक ढग से कहा है —

> गगन का प्यार कभी
> धरा से हो नहीं सकता
> मदन का प्यार कभी
> जरा से हो नहीं सकता
> यह भी एक नियोग है कि
> सुजन का प्यार कभी
> सुरा से हो नहीं सकता

विधवा को अंग-राग
सधवा को संग-त्याग
सुहाता नहीं कभी
ससार से विपरीत रीत
विरलों की ही होती है
भगवाँ को रग-दाग
सुहाता नहीं कभी ! (पृष्ठ ३५४)

कुम्भ अवा से निकलते ही शुभ भावों की ओर मुड गया और उसे मोक्ष भी फिर दुर्लभ नही लगा ।वह भगवान की ओर भक्तिवश खिंच गया। यहाँ अर्हन्त के गुणों की एक लम्बी लिस्ट कवि ने दी है जिसपर कुम्भ विचार करता हुआ आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रगति करने लगता है। ये गुण अर्हन्त के हैं (पृ. ३२६-२७)। उनकी प्राप्ति ही साधु का लक्ष्य हो । कवि ने श्रमण की विशेषताओं का विस्तार से सकेत किया भी है (पृ ३००-३०२) । सदाशय और सदाचार ही जीवन की कसौटी होती है (पृ २७६) शिल्पी का समूचा चरित्र इसी तरह की एक विशुद्ध कसौटी है (पृ २६५)

"मूक माटी" के कवि की लेखनी वर्तमान में तथाकथित धार्मिको और साधुओं के कुत्सित आचरण पर अत्यन्त क्षुब्ध दिखाई देती है। उसकी दृष्टि में आदिनाथ तीर्थंकर द्वारा प्रदर्शित पथ का अभाव नही है, अभाव है उन महानुभावों का जो सदाचार में दृढ हो। मुखौटाधारी धार्मिको की अनगिन सख्या है। वे धर्मामृत की वर्षा भी करते है पर चारित्र से कोसो दूर रहकर । औरों को तो उस पथ पर चलाना चाहते हैं परतु स्वय चलते नही हैं। (पृ १५२) ।वस्तुत ऐसे लोग जडबुद्धि वाले होते हैं। नदी उन्हें पाखडी कहकर अपना रोष व्यक्त करती है और परधन हारक मानकर अपमानित भी करती है (पृ ४४८) । उनको दिशाबोध देने के संदर्भ में वह कहती है —

हमसे विपरीत चाल चलने वाले
दीन होते हैं।
कुछ शिथिलाचारी साधुओं को
"बहता पानी और रमता जोगी"
इस सूक्ति के माध्यम से
सही दिशाबोध मिला है

इससे बढकर भला
और कौन-सा वह
आदर्श हो सकता है संसार मे ।
इस आदर्श में जब
अपना मुख देख लो
और
पहचान लो अपने रूप-स्वरूप को ।   (पृ ४४८)

मनोऽनुशासन

मन स्वभावत चचल होता है वह शिल्पी से बदला लेना चाहता है। इस पर कवि कहता है कि बडे-बडे बलशाली बैल और गजदल भी बदले के दलदल मे फँस जाते है। वह एक ऐसी अग्नि है जो तन को जला डालती है और चेतन को भव-भव तक झुलसा देती है। वह एक ऐसा राहू है जो सूर्य के अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह खडा कर देता है। रावण ने बाली से बदला लेना चाहा पर उसका प्रतिफल मिला उसे मात्र बरबादी।। "त्राहि माम् त्राहि माम् " की चिल्लाहट के कारण उसे शायद "रावण" नाम मिला (पृ ९८)। मत्र का सम्बध भी मन से ही है। स्थिर मन ही महामत्र है और अस्थिर मन ही पापतत्र है (पृ १०९) । मन अनग है, मन्मथ का उत्पत्ति - स्थान है। तन का नियत्रण तो सरल है पर मन का नियत्रण असभव भले ही न हो, उलझन भरा अवश्य है (पृ १९८)। इसलिए "नमन" आवश्यक है श्रमण के लिए —

मन की छाव में ही
मान पनपता है
मन का माथा नमता नहीं
न -' मन' हो, तब कहीं
नमन हो 'श्रमण' को
इसलिए मन यही कहता है सदा
नम न ! नम न !! नम न !!!   (पृ ९७)

ध्यानाग्नि कर्मों का उपशमन करती है मन की चंचलता को संयमित करके। आचार्यश्री ने ध्यान का आधुनिक चित्रण भी किया है। आधुनिकता से उनका तात्पर्य है कतिपय भटके हुए ऐसे लोगों की सोच, जो मद्यपान कर अपनी समस्याओं से विमुख होना चाहते है , भोग-राग के आधार पर। फलत· शव के समान वे इधर- उधर पडे हुए

दिखाई देते हैं, ऊपर से भले ही विकल्पों से मुक्त दिखाई दें। जबकि एक दूसरा वर्ग योग-स्थान को-आत्मध्यान को चुनता है और विकल्पों से मुक्त होकर कर्मजाल को भस्म कर देता है। तब वह दिखाई देता है शिव के समान (पृ.२८६)। शिव के समान दिखाई देने वाला ध्यान ही सही ध्यान है। इसी ध्यान का चित्रण कवि ने प्राकृतिक चिकित्सा के संदर्भ में किया है। सेठ के ज्वर-ग्रस्त होने पर उसके मस्तक पर काली मिट्टी को जल से गीलाकर रख देते है जो उष्णता पी लेती है और सेठ स्वस्थ हो जाता है। लोग यह देखते हैं कि ज्वर-ग्रस्त अवस्था मे भी सेठ के ओंठ ओंकार के ध्यान से हिल-डुल रहे हैं। यह उसकी सुदीर्घ साधना का फल था। परावाक् की परम्परा योगिगम्या होती है, उर्ध्वमुखी होकर वह नाभि तक की यात्रा करती है, फिर नाभि की परिक्रमा करती हुई पश्यन्ती के रूप मे उभरकर नाभि मे सस्वरित हो जाती है, पर निरक्षरा रहती है। सयम से दूर रहनेवालों की पकड मे वह नही आती। वही पश्यन्ती फिर उदर की ओर उठकर हृदय कमल को सहलाती हुई हृदय मध्य मे आती है और मध्यमा कहलाती है। वही मध्यमा अतर्जगत से बहिर्जगत की यात्रा प्रारभ करती है। यहाँ उसके दो रूप हो जाते हैं। व्यक्ति के अभिप्रायानुसार पाप और पुण्य के भेद से। सत्पुरुषो का वचन- व्यापार परहित सपादक होता है इसलिए उसके मुख से निकलनेवाली मध्यमा 'बैखरी' कहलाती है, जो निश्चय से सही रहती है, सुख-सपादिका होती है पर वही जब दुर्जन के मुख से निकलती है तो "बैखली" कहलाती है, परपीडिका होती है, सारहीना और विपदादायिनी होती है। फलत पात्रभेद से अर्थभेद ही नही, शब्दभेद भी हो जाता है (पृ ४००-४०३)। ध्यान का यह यथार्थ वैज्ञानिक चित्रण है। अप्रशस्त और प्रशस्त ध्यान का यह सुन्दर विश्लेषण है। श्रमण प्रशस्त ध्यान का अभ्यासी होता है और प्राकृतिक चिकित्सक भी ।

ध्यान और योग मुक्ति का मार्ग है जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र पर आधारित है। जैन साधना आत्मप्रधान साधना है। आत्मसिद्धि उसकी मूल भावना है। संयम और तप से उसकी प्राप्ति होती है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओं को अपनाते हुए वह समत्व योग को प्राप्त कर लेता है। इसे ही परमात्मपद कहते है। इसके लिए समाधि की आवश्यकता होती है जहाँ मूलगुणों और उत्तरगुणोंका संयोग होता है। इस योगफल की प्राप्ति के लिए योगबिन्दु मे पाँच सोपान माने गये है — (१) व्रतादि के माध्यम से कर्मों पर विजय पाना, (२) भावना - प्राप्ति, (३) ध्यान -प्राप्ति, (४) समता - प्राप्ति और (५) सर्वज्ञत्व की प्राप्ति।

योग का मुख्य लक्ष्य सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति है। इस दृष्टि का विकास योगदृष्टि समुच्चय में ८ प्रकार से प्रस्तुत किया गया है - मित्रा, तारा, बला, दीप्रा

स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा। योगी को इस विकास तक पहुँचने के लिए तीन स्थितियों को पार करना पडता है - इच्छा-योग, शास्त्र-योग और सामर्थ्य योग। इन आठ दृष्टियों की तुलना यम-नियमादि से की जा सकती है। ये दृष्टियाँ क्रमशः खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अन्यमुद्, रुक् एव असग से रहित हैं और अद्वेष, जिज्ञासा, सुश्रूषा, श्रवण, बोध, मीमांसा, परिशुद्धि, प्रतिपुत्ति व प्रवृत्ति सहगत हैं। वह समाधि दो प्रकार की होती है - सालम्बना और निरालम्बना। निरालम्बना समाधि ही निर्विकल्पक समाधि है। यही शुक्लध्यान और मोक्ष है। बौद्धधर्म में निर्दिष्ट चार किंवा पाँच प्रकार के ध्यानों की तुलना यहाँ की जा सकती है।

परवर्ती जैन साहित्य मे ध्यान का एक अन्य वर्गीकरण भी मिलता है। वह चार प्रकार का है — पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। हम इसे तन्त्रशास्त्र से प्रभावित कह सकते हैं। प्रथम ध्यानों में आत्मा से भिन्न पौद्‌गलिक द्रव्यों का अवलम्बन लिया जाता है, इसलिए इसे सालम्बन ध्यान कहा जाता है। रूपातीत ध्यान का आलम्बन अमूर्त आत्मा रहता है जिसमे ध्यान, ध्याता और ध्येय एक हो जाते हैं। इसी को समरसता कहा जाता है (पृ १४५)। प्रथम ध्यान स्थूल और सविकल्पक है तथा द्वितीय ध्यान सूक्ष्म और निर्विकल्पक है। स्थूल से सूक्ष्म और सविकल्प से निर्विकल्प की ओर जाना ध्यान का क्रमिक अभ्यास माना गया है। 'मूक माटी' मे इसी अभ्यास का उल्लेख हुआ है, जो "ओंकार" ध्वनि से प्रारम्भ होता है।

सल्लेखना

मछली माटी से सल्लेखना देने की अभ्यर्थना करती है। माटी कहती है - सल्लेखना का तात्पर्य है सम्यक् प्रकार से काय और कषाय को कृष (लेखन) करना (पृ ८७)। यह व्रत विशेषत उससमय ग्रहण किया जाता है जबकि साधक के ऊपर कोई तीव्र उपसर्ग आ गया हो अथवा दुर्भिक्ष, वृद्धावस्था और रोग के कारण आचार-प्रक्रिया में बाधा आ रही हो। ऐसी परिस्थिति में यही श्रेयस्कर है कि साधक अपने धर्म की रक्षार्थ विधिपूर्वक शरीर को छोड दे। यहाँ आन्तरिक विकारों का विसर्जन करना साधक का प्रमुख उद्देश्य रहता है।

इसप्रकार के शरीर त्याग में साधक पर किसी प्रकार से आत्महत्या का दोष नही लगाया जा सकता। क्योंकि आत्महत्या करने वाला किसी भौतिक पदार्थ की अतृप्त वासना से ग्रस्त रहता है जबकि सल्लेखना व्रतधारी श्रावक अथवा साधु के मन मे इसप्रकार का कोई वासनात्मक भाव नही रहता बल्कि वह शरीरादि की असमर्थता के

कारण दैनिक कर्तव्यों में संभावित दोषों को दूर करने का प्रयत्न करता है। वह ऐसे समय निःकषाय होकर परिवार और परिचित व्यक्तियों से क्षमायाचना करता है और मृत्यु पर्यन्त महाव्रतों को धारण करने का संकल्प कर लेता है। तदर्थ सर्वप्रथम वह आत्मचिन्तन करता है और उसके बाद क्रमश· खाद्य और पेय पदार्थ छोडकर उपवास पूर्वक देहत्याग करता है। वहाँ उसके मन में शरीर के प्रति कोई राग नहीं होता। अतः आत्महत्या का कोई दोष उस पर लगने का प्रश्न ही नही उठता।

वस्तुतः आत्महत्या और सल्लेखना में अन्तर समझ लेना आवश्यक है। आत्महत्या की पृष्ठभूमि में कोई अतृप्त वासना काम करती है। आत्महत्या करने वाला अथवा किसी भौतिक सामग्री को प्राप्त करने के लिए अनशन करने वाला व्यक्ति विकार भावों से जकडा रहता है। उसका मन क्रोधादि भावों से उत्तप्त रहता है। जबकि सल्लेखना करने वाले के मन मे किसी प्रकार की वासना और उत्तेजना नहीं रहती। उसका मन इहलौकिक साधनों की प्राप्ति से हटकर पारलौकिक सुखों की प्राप्ति की ओर लगा रहता है। भावों की निर्मलता उसका साधन है। 'तज्जीव-तच्छरीरवाद' से हटकर शरीर और आत्मा की पृथक्ता पर विचार करते हुए शारीरिकता से मुक्त होना उसका साध्य है। विवेक उसकी आधारशिला है ।अत· आत्महत्या और सल्लेखना को पर्यायार्थक नही कहा जा सकता। आचार्यश्री ने इसी तथ्य को निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया है —

काया को मिटाना नही,
मिटती काया में
मिलती माया मे
म्लान-मुखीऔर मुदित-मुखी
नही होना ही
सही सल्लेखना है, अन्यथा
आतम का धन लुटता है, बेटा ! (पृ ८७)

रसविधान

सल्लेखना के संदर्भ में ही हम रसों की बात कर सकते हैं। 'मूक माटी' में रसप्रक्रिया आध्यात्मिक चेतना को विकसित करने के संदर्भ में प्रयुक्त हुई है। विशेषत· उस समय जब सच्चरित्र शिल्पी कुम्भ बनाने के लिए माटी की रौंदन-क्रिया शुरू करता है। उसके पैरों में माटी लिपट जाती है और लिपटन की इस क्रिया से महासत्ता माटी की बाहुओं से वीररस फूटने-सा लगता है। वह शिल्पी को महावीर

बनने की विजय- कामना करता है। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप शिल्पी कहता है कि वीर रस से व्यक्ति को कभी भी दु:ख मुक्ति नहीं हो सकती। उसके सेवन से खून उबलने लगता है और दूसरों की शान्ति भंग होती है। दूसरों पर अधिकार करने की भूख का यही परिणाम होता है। मन पर आघात लगते ही वीर रस चिल्ला उठता है जो आपत्तियों का कारण बनता है। वस्तुत यह ध्यातव्य है कि उफनती हुई अग्नि भी जल से ही नियन्त्रित होती है।

वीररस की अनुपयोगिता को देखकर हास्य रस का प्रसग आता है। हास्य या प्रसन्नता आसन्नभव्य की आली है, खेद को दूर करने के लिए आवश्यक है , पर चूंकि हास्य भी एक कषाय है, इसलिए वेदभाव के विकास के लिए हास्य का त्याग अनिवार्य है। रौद्रभाव में कोप स्थायी भाव है जिसकी अभिव्यक्ति नासिका पर अधिक होती है।'नाक में दम कर रखा है ', उक्ति इसका प्रमाण है। फिर भयानक, अद्भुत, श्रगार, वीभत्स, करुण, वात्सल्य और शान्तरस का भी क्रमश यहाँ प्रसग आया है और अन्त में शान्त रस की प्रस्थापना की है।

"मूक माटी"का यह रस विवेचन बडा ही भावप्रवण और हृदयस्पर्शी है। इस वर्णन को जरा देखिए। सर्वप्रथम वीररस का रसास्वादन कीजिए —

वीर-रस के सेवन करने से
तुरन्त मानव-खून
खूब उबलने लगता है
काबू में आता नहीं वह
दूसरों को शान्त करना तो दूर,
शान्त माहौल भी खौलने लगता है
ज्वालामुखी - सम ।
और इसके सेवन से
उद्रेक उदण्डता का अतिरेक
जीवन में उदित होता है
पर पर अधिकार चलाने की भूख
इसी का परिणाम है।
बबूल के ठूठ की भाँति
मान का मूल कडा होता है
और खडा होता है पर को नकारता

पर के मूल्य को अपने पदों दबाता है,
मान को धक्का लगते ही
वीर-रस चिल्लाता है
आपा भूलकर आग बबूला हो
पुराण-पुरुषों की परम्परा को ठुकराता है। पृष्ठ (१३१-१३२)

वीररस का स्थायी भाव उत्साह है। उसमे सभी भेदों के आलम्बन और उद्दीपन भिन्न-भिन्न होते हैं, पर स्थायी भाव सभी का उत्साह ही रहता है। यहाँ वीररस की प्रकृति का वर्णन है। इसके बाद कवि ने हास्यरस को उपस्थित किया। हास्यरस का स्थायी भाव हास्य है और विकृत वेष-भूषा तथा वचन आदि उद्दीपन हैं। हसनशील व्यक्ति कैसा होता है, इसका उत्तर देखिये —

हँसन-शील
प्राय उतावला होता है
कार्याकार्य का विवेक
गभीरता - धीरता कहाँ उसमें ?
बालक-सम बावला होता है वह
तभी तो
स्थितप्रज्ञ हँसते कहाँ?
मोहमाया के जाल में
आत्मविज्ञ फँसते कहाँ? (पृष्ठ १३३ - १३४)

रौद्ररस की उत्पत्ति शत्रुकृत अपकार, मानभग, गुरुजनों की निंदा, शत्रु की चेष्टा आदि के कारण होती है। इसका स्थायी भाव क्रोध है। इसका वर्ण लाल है, देवता रूद्र है। अनुभवो के अंतर्गत नेत्रों का क्रोध से लाल होना, त्यौरी चढाना, नाक फूलना, होंठ चबाना, कान तथा मुख लाल होना आदि है —

कराल - काला रौद्ररस
जग जाता है ज्वलनशील
हृदय-शून्य, अदय-मूल्य वाला
घटित घटना विदित हुई उसे
पित्त क्षुभित हुआ उसका

पित्त कुपित हुआ
भृकुटियाँ टेढ़ी तन गईं
आँख की पुतलियाँ
लाल-लाल तेजाबी बन गईं ।
देखते-देखते गुब्बारे-सी
फड़फड़ाती लम्बी
नासा फूलती गई उसकी (पृष्ठ १३४)

भयानक रस की उत्पत्ति भयानक दृश्य देखने से होती है। इसका स्थायी भाव भय है। वह विकृत ध्वनियों से पिशाच-प्रेत दर्शन से शृगाल एवं उलूक या हाथी आदि से भाव तथा उद्वेग से, शून्य घरों आदि को देखने से भयानकता की उत्पत्ति होती है । स्वर परिवर्तन हाथ-पैर का काँपना, नेत्रों की चपलता, रोमाच, मुख-वैवर्ण्य आदि इस रस के अनुभाव है । इसका वर्णन देखिये —

भीतर से बाहर, बाहर से भीतर
एक साथ, सात-सात हाथ के
सात-सात हाथी आ-जा सकते
इतना बड़ा गुफा- सम
महासत्ता का महाभयानक
मुख खुला है
जिसकी दाढ़-जबाड़ मे
सिंदूरी आँखोंवाला भय
बार-बार घूर रहा है बाहर,
जिसकी मुख से अध-निकली लोहित-रसना
लटक रही है / और
जिससे टपक रही है लार
लाल-लाल लहू की बूँदें-सी (पृष्ठ १३६)

अद्भुत रस आश्चर्यजनक पदार्थों के देखने से उत्पन्न होता है। दिव्यजनों के दर्शन, अभीष्ट मनोरथ की प्राप्ति, इन्द्रजाल की संभावना आदि कारणों से अद्भुत रस की उत्पत्ति होती है। इसका स्थायी भाव विस्मय है। स्वेद, रोमांच, संभ्रम

आदिअनुभाव हैं। वितर्क, आवेग आदि संचारी भाव हैं। इसका वर्ण पीत है और देवता गंधर्व हैं। 'मूक माटी' में इसका वर्णन इसप्रकार है —

इस अद्भुत घटना से
विस्मय को बहुत विस्मय हो आया।
उसके विशाल भाल में
ऊपर की ओर उठती हुई
लहरदार विस्मय की रेखा उभरी,
कुछ पलों तक विस्मय की पलकें
अपलक रह गईं !
उसकी वाणी मूक हो गई / और
मुख मन्द हो आई। (पृष्ठ १३८)

श्रृंगार रस का स्थायी भाव रति है। चन्द्रमा, चंदन, भ्रमर, रात्रि आदि इसके उद्दीपन विभाव है , अनुराग युक्त भृकुटि भग तथा कटाक्ष आदि इसकेअनुभाव है। नायक नायिका के अगो की मधुर चेष्टाओं द्वारा रतिभाव की पुष्टि होती है और श्रगार रस की उत्पत्ति होती है -'मूक माटी' में इसका रूपवर्णन इसप्रकार है —

तन मिलता है तन-धारी को
सुरूप या कुरूप,
सुरूप वाला रूप मे और निखार
कुरूप वाला रूप में सुधार
लाने का प्रयास करता है
आभरण-आभूषणों श्रृगारों से।
रस रसायन की यह / ललक और चखन
पर-परायन की यह / परख और लखन
कब से चली आ रही है
यह उपासना वासना की? (पृष्ठ १३९)

अन्यत्र इसका वर्णन इस रूप में मिलता है —

लज्जा के घूंघट में
डूबती-सी कुमुदिनी
प्रभाकर के कर -छुवन से
बचना चाहती है वह

अपनी पराग को / सराग मुद्रा को
पाँखुरियों की ओट देती है। (पृष्ठ २)

बीभत्सरस का स्थायी भाव जुगुप्सा है, जो अरुचिकर पदार्थों के देखने से उत्पन्न होती है। इसका अभिनय अंगों के संकोचन, थूकने या नाक-सिकोड़ने तथा हृदय के पीड़ित होने आदि अनुभावों द्वारा होता है। "मूक माटी" में बीभत्सरस का रूप इस प्रकार है —

व्याघ्र - सम भयानक जबाड़ों में
बड़ी-बड़ी टेढ़ी-मेढ़ी
तीखी दन्त-पंक्तियाँ चमक रही हैं
जिनकी रक्त-लोलुपी लाल रसना
बार-बार बाहर लपक रही है,
विषाक्त-कंटक वाली
ऊपर उठी पूंछ है जिनकी
ऐसे मांस भक्षी/महा-मगरमच्छ
भोजन-गवेषणा में रत। (पृष्ठ ४४४-४५)

वात्सल्य रस में वात्सल्य भाव स्थायी भाव है। इसमें करुणा का उद्रेक और रक्षा की दृष्टि सन्निहित होती है। 'मूक माटी' में ऐसे अनेक स्थल आये हैं, जहाँ कवि ने वात्सल्य रस की व्याख्या की है। माँ-बेटी का संवाद, पेट का सरक्षण आदि अनेक प्रसग ऐसे ही है, जहाँ कवि को अपनी करुणा, सरक्षण और ममता को रूपायित करने का अवसर मिला है। उदाहरण के तौर पर —

महासत्ता माँ के
गोल-गोल कपोल-तल पर
पुलकित होता है यह वात्सल्य।
करुणा-सम वात्सल्य भी
द्वैत-भोजी तो होता है
पर, ममता समेत मौजी होता है,
इसमें/बाहरी आदान-प्रदान की
प्रमुखता रहती है। (पृ १५७)

देखो ना !
माँ की उदारता-परोपकारिता

अपने वक्षस्थल पर
युगों-युगों से --- चिर से
दुग्ध से भरे / दो कलश ले खड़ी है,
क्षुधा तृषा-पीड़ित
शिशुओं का पालन करती रहती है
और / भयभीतों को, सुख से रीतों को
गुपचुप हृदय से
चिपका लेती है पुचकारती हुई। (पृष्ठ ४७६)

करुणारस का स्थायी भाव शोक है। यह शाप एवं क्लेश में पड़े प्रियजन के वियोग, धननाश, वध, बध, देश-निर्वासन, अग्नि में जलकर मरने या व्यसन में फँसने आदि विकारों से उत्पन्न होता है। रोना, सिर पटकना आदि इसके अनुभाव है उदाहरणत —

सन्तान की अवनति में
निग्रह का हाथ उठता है माँ का
और/ सन्तान की उन्नति में
अनुग्रह का हाथ उठता है माँ का
और यही हुआ -
प्रकृति माँ की आँखों में
रोती हुई करुणा,
बिंदु-बिंदु कर के
दृग-बिन्दु के रूप में
करुणा कह रही है
कण- कण को कुछ
परस्पर कलह हुआ तुम लोगों में
बहुत हुआ, वह गलत हुआ। (पृष्ठ १४८-१४९)

शान्तरस तत्वज्ञान और वैराग्य के कारण उत्पन्न होता है। इसका स्थायी भाव निर्वेद है और आलम्बन है अनित्य रूप संसार का ज्ञान तथा परमार्थ चिन्तन। इसके उद्दीपक हैं - पुण्याश्रम, तीर्थस्थान, रमणीय वन, सत्संग आदि। 'मूक माटी' का प्रधान रस शांतरस है। अतः वह काव्य के अनेक स्थलों पर तैरता नजर आता है। उदाहरणत

शान्तरस का संवेदन वह
आनन्द एकान्त में ही हो
और तब / एकाकी हो संवेदी वह.. !
रग और तरग से रहित
सरवर के अन्तरंग से
अपने रगहीन या रंगीन अंग का
संगम होना ही सगत है
शान्तरस का यही संग है
यही अंग !

करुणा-रस जीवन का प्राण है
घम-घम समीर-धर्मी है।
वात्सल्य जीवन का प्राण है
धवलिम नीरधर्मी है।
किन्तु, यह / द्वैत-जगत की बात हुई
शान्त-रस जीवन का गान है
मधुरिम क्षीर-धर्मी है। (पृष्ठ १५९)

शान्तरस की स्थापना के दौरान आचार्यश्री ने अनेक तर्क देकर करुणारस में शान्तरस के अन्तर्भाव को अस्वीकार किया—

उछलती हुई उपयोग की परिणति वह
करुणा है / नहर की भाँति!
और
उजली-सी उपयोग की परिणति वह
शान्तरस है / नदी की भाँति !
नहर खेत में जाती है
दाह को मिटाकर
सुख पाती है, और
नदी सागर को जाती है
राह को मिटाकर
सुख पाती है। (पृष्ठ १५५-५६)

इसीप्रकार वात्सल्य रस में भी शान्तरस को गर्भित नहीं किया जा सकता। वात्सल्य में बाहरी आदान-प्रदान की मुख्यता रहती है और भीतरी उपादान गौण रहता है, मधुरता क्षणभंगुर रहती है, जो करुण रस में नहीं है —

ओस के कणों से
न ही प्यास बुझती, न आस,
बुझता बस श्वास का दीया वह।
फिर तुम ही बताओ,
वात्सल्य में शान्तरस का
अन्तर्भाव कैसा ? (पृष्ठ १५८)

अन्त मे कवि यह स्पष्ट करता है कि शान्तरस का अन्तर्भाव न करुण रस में हो सकता है और न ही वात्सल्य रस में —

करुणा-रस उसे माना है, जो
कठिनतम पाषाण को भी
मोम बना देता है,
वात्सल्य का बाना है
जघनतम नादान को भी
सोम बना देता है।
किन्तु, यह लौकिक
चमत्कार की बात हुई,
शान्तरस का क्या कहें
संयम-रत धीमान को ही
'ओम्' बना देता है।
जहाँ तक शान्तरस की बात है
वह आत्मसात् करने की ही है
कम शब्दों में
निषेध-मुख से कहूँ
सब रसों का अन्त होना ही —
शान्त रस है।
यों गुनगुनाता रहता
सन्तों का भी अन्तःप्रान्त वह। (पृष्ठ १५९-१६०)

इस लम्बे आख्यान से यह तो स्पष्ट ही है कि 'मूक माटी' महाकाव्य का प्रधानरस शान्तरस है। उसी रस को यहाँ रसराज भी कहा गया है समूचे महाकाव्य मे शान्तरस की ही वर्षा होती हुई दिखाई देती है चाहे वह वसन्त वर्णन हो (पृ १८०) या रसना इन्द्रिय-बिम्ब (पृ.२८१), चन्द्र कल्पना हो (पृ १८१) या राहू कल्पना (पृ २३६), प्रकृति में विरह-वेदना हो (पृ २४०) या वर्षावर्णन (पृ.२४१)। सभी पात्र और घटनाचक्र भी शान्तरस की ही पृष्ठभूमि में आयोजित हुए है।

आचार्यश्री का यह मन्तव्य है कि व्याख्या से मूल का मूल्यांकन नही हो पाता। दूध में जल मिला देने पर उसका मूल-स्वाद भिन्न हो जाता है। यह बात सही है। व्याख्या करने पर बहुत-सी बातें मूल में हाशिया के रूप में जुड जाती है —

लम्बी, गगन चूमती व्याख्या से
मूल का मूल्य कम होता है
सही मूल्याकन गुम होता है।

मात्रानुकूल भले ही
दुग्ध में जल मिला लो-
दुग्ध का माधुर्य कम होता है अवश्य ।
जल का चातुर्य जम जाता है रसना पर । (पृ १०९)

प्रासगिक साहित्य पर चर्चा करते हुए कवि ने यह विचार व्यक्त किया है कि प्रवचनकार लेखक दोनों अतीत में लौट जाते हैं जिससे श्रोता को कोई रस नही आता, मात्र टकराव बना रहता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रवचनकार और लेखक यदि वर्तमान को अधिक स्पष्ट करें तो श्रोता को अधिक रस आ सकेगा (पृ १३३)। इस प्रसग में यह भी याद रखना आवश्यक है कि लघु होकर गुरुजनो को प्रवचन देना उचित नही है पर उन्हे यह वचन अवश्य देना चाहिए कि वे मोक्षमार्ग पर चलते रहेंगे। इसी तरह गुरु होकर लघुजनों को स्वप्न में भी न वचन देना चाहिए और न उनका अनुकरण करना चाहिए। हाँ, यदि वे अनुनय-विनय पूर्वक हित का मार्ग पूछे तो निष्पक्ष होकर हित-मित-मिष्ट वचनों से उन्हें सन्मार्ग अवश्य दिखाना चाहिए (पृ.२१९)। शोध - बोध (पृ १०७), कवि की भावना (पृ २४५), चेतन की पहचान (पृ १८६), भक्त का भाव (पृ. ४४५), अव्यय-अतिव्यय (पृ. ४१५), प्रार्थना (पृ.१९७) आदि सदर्भ भी आध्यात्मिक दार्शनिकता से ओतप्रोत हैं। ये सारे संदर्भ 'मूक माटी' के अभिव्यञ्जना शिल्प की गंभीरता से प्रतिबिम्बित होते हुए

दिखाई देते है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर देते है कि वीतरागी साधु के लिए इस समूची श्रमण साधना का परिपालन अत्यावश्यक है। यही उसकी वास्तविक पहचान है।

नारी के प्रति उदात्त भावना

"मूक माटी" चिन्तन का अगाध सागर है और दर्शन का सर्वोच्च हिमालय। जहाँ से नयी-नयी विचार-सरितायें अपनी पूरी अंगडाइयों के साथ अपने प्रवहन प्रदेश को सिञ्चित करती हुई लक्ष्य को आत्मसात कर लेती है। उसका दर्शन सीमातीत शून्य में नीरवता ला देता है और माहौल को अनिमेष निहारती सी "मूक माटी" जीवन के यथार्थ सत्य को अभिव्यक्त कर देती है।

एक ओर यह काव्य दर्शन की अमित गहराई में डूबकर मोती बटोर लाता है तो दूसरी ओर प्रतीक के माध्यम से अकथ्य को अपने उत्सग में छुपाये कुछ सोचने को बाध्य कर देता है। ऐसा लगता है, आचार्य विद्यासागरजी कुम्भकार के रूप में स्वय प्रतिष्ठित हो और ब्राह्मी विद्याश्रम की बालायें 'मूक माटी' के रूप में उनकी दृष्टिपथ मे रही हों। धरती माँ उन बालाओं की ममतामयी माँ है और सरिता ही बहनाशील जीवन है। काव्य के प्रारंभिक पृष्ठों में उन बालाओं की जिस स्थिति और परिस्थिति का चित्रण कवि ने किया है उससे भी हमारे कथन की पुष्टि होती है। माटी धरती माँ से अपनी करुण जीवन - गाथा का जो बयान करती है उसमें उसकी यातना भरी पीडा झाँक रही है और व्यक्त हो रही है उसकी वह हार्दिक/ मार्मिक चिन्ता जिसमें वह अपनी इस पर्याय को सार्थक बनाना चाहती है और अभिनव पथ पाथेय पाकर घुटन से मुक्त होना चाहती है—

स्वय पतिता हूँ
और पातिता हूँ औरों से,
अधम पापियो से
पद-दलिता हूँ माँ!
सुख-मुक्ता हूँ
दुःख-युक्ता हूँ
तिरस्कृत हूँ त्यक्ता हूँ माँ!
इसकी पीडा अव्यक्ता है
व्यक्त किसके सम्मुख करूँ!
क्रम-हीना हूँ

पराक्रम से रीता
विपरीता है इसकी भाग्यरेखा
इस पर्याय की
इति कब होगी ?
इस काया की
च्युति कब होगी !
बता दो, माँ ---- इसे ! (पृ ४,५)

समूचे काव्य में माटी के साथ ही नारी की इस स्थिति का बखूबी चित्रण हुआ है। उसकी दीन-हीन आँखों से रोना ही रोना हुआ है (पृ. ३२)। कवि को यद्यपि स्त्री पर्याय की कमजोरियो का भी ध्यान है (पृ २) पर उसे यह भी अच्छी तरह पता है कि उसमें विकास की अनगिन सभावनायें भरी हुई हैं। उसे यदि समुचित और समयोचित वातावरण तथा निमित्त मिल जायें तो वह घट के रूप में विशालकाय धारण कर सकती है (पृ.७)। धरती माँ ने भी उसकी शक्ति को पहचाना और उसमें क्षमता को पाया जो साधना की ऊँचाई पर चढकर परमात्मपद को प्राप्त कर सकती है। तभी तो वह कह उठती है पूरी आस्था के साथ कि —

पतन-पाताल का अनुभव ही
उत्थान-ऊंचाई की
आरती उतारना है। (पृष्ठ १०)

धरती माँ माटी की इस अभ्यर्थना को बडी सहानुभुति से सुनती है और उसकी सृजन-शीलता तथा द्रवण-शीलता का आभास पाकर शिल्पी कुम्भकार के शुभागमन की सूचना देती है ताकि वह पतित से पावन बन सके। कुम्भकार वस्तुत उसके लिए भाग्यविधाता है (पृ २८), सयम की शिक्षा से संस्कारित है (पृ.६९), स्वभाव से प्रेम करने वाला है, (पृ ९३), क्षमासागर है, क्षमा का अवतार है (पृ.१०५), वह कभी भी किसी जीवन को पददलित नहीं करना चाहता (पृ.११५)। उसे काम नहीं, 'राम' पाने की इच्छा है, धाम नहीं 'धाम' पाने की तमन्ना है (पृ.१४०), उपास्य की उपासना में डूबा है (पृ. २५३), समरसता ही उसका सगीत है (पृ.१४५) और है अत्यन्त सवेदनशील जो उपेक्षित माटी जैसे तत्त्व-व्यक्तित्व में नई जान फूंक देता है (पृ ३१)। नारी के प्रति कवि की यह उदात्त दृष्टि समूचे महाकाव्य मे दृष्टव्य है।

मूकमाटी में अभिव्यक्त श्रमण का यह एक साधारण स्वरूप है जिससे उसकी बिलकुल अलग पहचान बनती दिखाई देती है। वीतराग की पवित्र छाया में रहकर

श्रमण स्व-पर कल्याण में इतना अधिक व्यस्त रहता है कि उसे सांसारिकता और शारीरिक सार-ससार भारवत् दिखाई देने लगता है। अन्तरंग शुद्धता तथा रत्नत्रय का परिपालन ही उसकी मुख्य भूमिका रहती है। वह अट्ठाईस मूलगुणों का अनुकरण जीवदया और आत्मशान्ति के उद्देश्य से करता है, शान्तरस उसका स्थायी भाव रहता है, इन्द्रियसंयम उसकी साधना रहती है और संयत भाषा का प्रयोग उसकी अनैकान्तिक दृष्टि की प्रवृत्ति रहती है। त्रिगुप्तियों कि अनुपालन का, षडावश्यकों का स्वीकरण और आहार-विहार में समीकरण श्रमण की साधना को सामुदायिक चेतना से भर देता है जो उसकी सघ व्यवस्था को समाज से भी अच्छी तरह जोड देता है। यही उसकी प्रासगिकता है।

निष्कर्ष

इसप्रकार 'मूक माटी' महाकाव्य की दार्शनिकता के साये में श्रमण संस्कृति की लगभग सभी मूल विशेषतायें व्याख्यायित हो गई हैं। समता, श्रमशीलता और आचार-विचार की परम शुद्धता से व्यक्ति स्वय निर्वाण का मार्ग प्राप्त कर लेता है। इस तथ्य की व्याख्या मे यह काव्य यथार्थवादी भी है और आदर्शवादी भी, प्रगतिवादी भी है और कलावादी भी, अध्यात्मवादी भी है और अभिव्यञ्जनावादी भी। इन सभी तत्त्वों ने मिलकर इस काव्य में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को जितने सुन्दर ढग से समन्वित कर रूपायित किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए यह महाकाव्य एक दार्शनिक मौलिक महाकृति है और अभिव्यजना शिल्प की दृष्टि से एक अभिनव प्रयोग है।

****

षष्ठ परिवर्त

सांस्कृतिक और सामुदायिक चेतना

संस्कृति एक आन्तरिक तत्त्व है जो व्यक्ति और समाज के आत्मिक-संस्कारों पर केन्द्रित रहता है। सभ्यता उसका बाह्य -तत्त्व है जो देश और काल के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। यह परिवर्तन संस्कृति को प्रभावित भले ही कर दे पर उसमें आमूल परिवर्तन करने की क्षमता नही रहती। इसलिए संस्कृति की परिधि काफी व्यापक होती है । उसमें व्यक्ति का आचार-विचार, जीवन-मूल्य, नैतिकता, धर्म, साहित्य, कला, शिक्षा, दर्शन आदि सभी तत्त्वो का समावेश होता है। इन तत्त्वो को हम साधारण तौर पर सांस्कृतिक और सामुदायिक चेतना के अन्तर्गत निविष्ट कर सकते हैं।

व्यक्ति समाजनिष्ठ होने के बावजूद आत्मनिष्ठ है। पर संदेह और तर्क की गहनता ने, बौद्धिक व्यायाम की सघनता ने उसकी इस आत्मनिष्ठता पर प्रश्नचिन्ह खड़ा कर दिया है और उसकी आत्मानुभूति की शक्ति को पीछे ढकेल दिया है। वह कमजोरियो का पिंड है, इस तथ्य को जानते हुए भी अहंकार के कारण वह सार्वजनिक रूप से उसे स्वीकार नहीं कर पाता। यह अस्वीकृति उसका स्वभाव बन जाता है। फलत- क्रोधादि कषायो के आवेश/आवेग को वह अनियंत्रित अवस्था में पाले रहता है।

अध्यात्म एक सतत् चिंतन की प्रक्रिया है, अन्तश्चेतना का निष्यन्द है। वह एक ऐसा संगीत स्वर है जो एकनिष्ठ होने पर ही सुनाई देता है और स्वानुभव की दुनिया में व्यक्ति को प्रवेश करा देता है। स्वयं ही निष्पक्ष चिंतन और ध्यान के माध्यम से वह अपनी कमजोरियों को बाहर फेंकने के लिए आतुर हो जाता है। उसका हृदय आत्मसुधार की ओर कदम बढाने के लिए एक सशक्त माध्यम की खोज मे निकल पडता है - यह माध्यम है धर्म और अध्यात्म।

पशु और मनुष्य को पृथक् करने वाला तत्त्व है विवेक। विवेक न होने से पशु आज भी अपने आदिम जगत् में है जबकि मनुष्य ने विवेक के माध्यम से ही अपनी प्राण-शक्ति का विकास किया, विज्ञान की चेतना ने उसे नये आयाम दिये और प्रस्फुटित किये उसके सारे शक्ति-क्षेत्र जिनमें, वह विकास के नये संकल्प, उपाय और साधन की खोज में निरंतर लगा रहता है। उसकी इस निरन्तरता का सूत्र कभी भग

नहीं हो पाता। यह प्राणधारा प्रयत्न साध्य है। चेतना की सक्रियता और मनोबल की सक्षमता से ही वह उपलब्ध की जा सकती है। शरीर-बल और वचनबल से उसे क्रिया शक्ति मिल जाती है। यह क्रियाशक्ति व्यक्ति की संवेदना और चेतना के विकास-बोध की फलश्रुति है। संवेदना पर नियंत्रण कर ज्ञान का विकास करना उसकी विशेषता है। अन्तर्मुखी होकर वह यथार्थ की साधना करता है, ध्यान करता है और प्रतिबिम्ब से परे जाने का प्रयत्न करता है। इसी प्रयत्न में अहिंसा और संयम उसका साथ देते हैं। प्रज्ञा और आत्म-साक्षात्कार से उसकी साधना का क्षेत्र बढ जाता है। तर्क और बुद्धि के सोपान से अनुभव की चेतना में वह प्रवेश कर जाता है।

हमारे, अनुभव की चेतना यह कहती है कि हमारा आचार और व्यवहार दूसरो के प्रति परिष्कृत हो। उसमें क्रूरता, विषमता और अहमन्यता न हो, धोखाधडी न हो। हमारी मन:स्थिति यदि समता से भरे आचरण और व्यवहार से भर जाये तो अशांति स्वतः अदृश्य हो जाती है, सस्कार परिवर्तित हो जाते हैं, स्वभाव रूपान्तरित हो जाता है और प्रवाहित होने लगती है सामुदायिक-चेतना की वह प्रशान्त धारा जिसमें सहिष्णुता, करुणा, सरलता और क्षमाशीलता जैसे अध्यात्मनिष्ठ तत्त्व सदैव जाग्रत रहते हैं। ये तत्त्व व्यक्ति की अध्यात्मनिष्ठा के साथ जुड जाते हैं जहाँ पुरुषार्थ जाग जाता है पूर्ण ज्योति पाने के लिए और सृजनात्मक चेतना स्फुरित हो जाती है विजातीय तत्त्वो को दूर करने के लिए। साधक इस साध्य की प्राप्ति के लिए आत्मानुशासन से स्वय को नियन्त्रित करता है, अवचेतन मन में पडे हुए सस्कारो और वासनाओं को विशुद्ध करता है, और सारी क्षमताओं को अर्जितकर मानसिक असन्तुलन को दूर करता है निराग्रही वृत्ति से, सतुलित विशुद्ध शाकाहार से और निष्पक्ष वीतरागता के चिन्तन से।

मूक माटी महाकाव्य ऐसी ही चिन्तनशीलता भरा वातावरण प्रस्तुत करता है साधक के समक्ष जो उसे सांस्कृतिक और सामुदायिक चेतना की ओर मोड़ देता है, श्रमण सस्कृति के समतावाद, शमतावाद और पुरुषार्थवाद को आत्मसात् करने का साहस देता है, और वर्गभेद, वर्णभेद, उपनिवेशवाद आदि जैसे असमानतावादी तत्त्वों से कोसों दूर रखकर स्वातन्त्र्य और स्वावलम्बन की ओर कदम पहुँचा देता है। उपादान और निमित्त के माध्यम से इस महाकृति में ब्राह्मण और श्रमण सस्कृति के बीच इन तत्त्वों की विभेदक रेखा खींची जा सकती है और संक्षेप में दोनों विचारधाराओं के विषय में कहा जा सकता है

कि ब्राह्मण सस्कृति में 'ब्रह्म' ने विस्तार किया, उसने एक से विविध रूप लिये, अवतार धारण किये, स्वप्न और माया का सृजन हुआ, भक्तिशास्त्र का जन्म हुआ, विषमता पनपी और परमात्मा ईश्वर स्वरूप में अनुपलब्धेय हो गया। दूसरी ओर श्रमण विचारधारा ने तीर्थवादी प्रवृत्ति को विकसित किया, इस पार से उस पार जाने की बात कही, और ससार से लौटकर, बहिरात्मन् से दूर होकर अन्तरात्मन् की ओर मुडने का तथा परमात्मा की ओर वापिस जाने का सकल्प दिया। इस सकल्प में समर्पण नहीं, पुरुषार्थ है, वृत्तियों के सामने घुटने टेकना नहीं, साहस पूर्वक उनसे सघर्ष करना है, फैलाव नही, सिकुडन है, अपने घर वापिस लौटना है, विशुद्धता में पहुँचना है, अन्य किसी की भी शरण में न जाकर स्वय की शरण मे जाना है, हर आत्मा में परमात्मा तीर्थंकर का वास है, वह अनुपलब्धेय नही, सम्यक् साधना से उपलब्धेय है, पथदर्शक है। वहाँ पूजा नहीं, ध्यान है, वासना या राग नही, वीतराग अवस्था है। इसलिए वह जिन मार्ग है, ऐसे जिनो का जिन्होंने कर्म, वासना को जीतकर स्वानुभूति के आधार पर उपदेश दिया है, स्वय विशुद्धि के चरम शिखर पर पहुँचकर सभी प्राणियों के कल्याण की बात कही है। जिन मार्ग वस्तुत क्षत्रिय मार्ग है, योद्धा मार्ग है, ऐसे योद्धाओं का जो इन्द्रिय वृत्तियों से सघर्ष करते हैं और निराकांक्षी होकर मृत्यु को जीत लीते हैं, परमानन्द का अनुभव करते हैं और ससार से पूर्णत पार हो जाते हैं, अवतार के रूप में वापिस नही आते।

इन दोनों अवधारणाओं में जैन सस्कृति श्रमण सस्कृति से सबद्ध है जिसे आचार्यश्री ने मूक माटी के माध्यम से बडी सुगढता के साथ स्पष्ट किया है। इतिहास की दृष्टि से उस सस्कृति के आद्य प्रणेता तीर्थंकर ऋषभदेव थे और उसे तीर्थंकर पार्श्वनाथ और महावीर ने अनुप्राणित किया । उसी को उत्तरकाल में श्रुतधर और सारस्वत आचार्यों ने पल्लवित किया। उसी के आधार पर आचार्यश्री ने जैन संस्कृति की कतिपय मूल अवधारणाओं को लेकर मूक माटी के मूल कथ्य का विस्तार किया है जिसे हम पीछे स्पष्ट कर चुके हैं। उन समस्त अवधारणाओं पर दृष्टिपात करने से ऐसा लगता है कि उन सबको धर्म की परिभाषा की परिधि में रखा जा सकता है । धर्म की अनेक प्रकार से परिभाषायें कर जैन संस्कृति की अवधारणाओं को उसके माध्यम से स्पष्ट करने का तात्पर्य यह भी है कि जीवन के सारे कोण धर्म से संबद्ध रहते हैं। इसलिए जैन सस्कृति किंवा मूक माटी को समझने के लिए धर्म को पहले समझ लिया जावे।

मूक माटी वस्तुतः आध्यात्मिक रूपक प्रतीक महाकाव्य है जिसमें सांसारिक जीवन को सुव्यवस्थितकर निर्ग्रन्थ आचरण के माध्यम से निर्वाण प्राप्ति का मार्ग निर्दिष्ट किया गया है। आचार्यश्री भी स्वयं निर्ग्रन्थ दिगम्बर-जैन परम्परा के पथिक हैं, वीतरागी साधक हैं अतः उनकी महाकृति में जैनधर्म की मूल अवधारणाओं का वर्णन होना नितान्त स्वाभाविक है। इसलिए प्रस्तुत परिवर्त में हम विभिन्न आयामों से धर्म की व्याख्या करते हुए जैनधर्म की मूल अवधारणाओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे। और उन्हें मूक माटी के पन्नों पर भी अंकित करते हुए पायेंगे।

धर्म की परिधि अपरिमित

धर्म महज रूढियो और रीति रिवाजों का परिपालन मात्र नही है। वह तो जीवन से जुडा सर्जनात्मक सर्वदेशीय तत्त्व है जो प्राणिमात्र को वास्तविक शान्ति का सन्देश देता है, मिथ्याज्ञान और अविद्या को दूरकर सत्य और न्याय को प्रगट करता है, तर्कगत आस्था और श्रद्धा को सजीव रखता है, बौद्धिकता को जाग्रतकर सद्भावना के पुष्प खिलाता है और बिखेरता है उस स्वानुभूति को, जो अन्तर में ऋजुता, सरलता और प्रशान्त वृत्ति को जन्म देती है। वह तो रिम-झिम बरसते बादल के समान है जो तन-मन को आल्हादितकर आधि-व्याधियो की ऊष्मा को शान्त कर देता है।

धर्म के दो रूप होते हैं- एक तो वह व्यक्तिगत होता है जो परमात्मा की आराधनाकर स्वय को तद्रूप बनाने में गतिशील रहता है और दूसरा साधना तथा सहकार पर बल देता है। एक अन्तरिक तत्त्व है और दूसरा बाह्य तत्त्व है। दोनो तत्त्व एक दूसरे के परिपूरक होते हैं, जो आन्तरिक अनुभूति को सबल बनाये रखते हैं, बुद्धि भावना और क्रिया को पवित्रता की ओर ले जाते हैं और मानवोचित गुणों का विकासकर सामाजिकता को प्रस्थापित करते हैं।

धर्म जब कालान्तर में मात्र रूढियों का ढाँचा रह जाता है, तब सारी गडबडी शुरू हो जाती है, विवेक-हीनता पनपती है और फिर साधक रागात्मक परिसीमा में बधकर धर्म के आन्तरिक सम्बन्ध को भूल जाता है, उसके निर्मल और वास्तविक रूप की छाया में घृणा और द्वेष भाव जन्म लेने लगते हैं । ऐसे ही धर्म के नाम पर हिंसा का ताण्डव नृत्य जितना हुआ है, उतना शायद ही किसी और नाम पर हुआ हो । इसलिए साधारण व्यक्ति धर्म बहिर्मुख हो जाता है, उसकी तथ्यात्मकता को समझे बिना आसपास के

वातावरण को भी दूषित कर देता है। वस्तुत हम न हिन्दू हैं, न मुसलमान, न जैन हैं, न बौद्ध, न ईसाई , न यहूदी हैं । हम तो पहले मानव हैं और धार्मिक बाद में । व्यक्ति यदि सही इन्सान नहीं बन सका तो वह धार्मिक कभी नहीं हो सकता, धर्म का मुखौटा भले ही वह कितना भी लगाये रखे। जैन सस्कृति की यह अप्रतिम विशेषता है।

इसलिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि हम धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझें और इन्सानियत को बनाये रखने के लिए उसकी उपयोगिता को जानें । इन्सानियत को मारने वाली इन्सान में निहित कुप्रवृत्तियाँ और भौतिकवादी वासनायें हैं जो युद्ध और सघर्ष को जन्म देती हैं, व्यक्ति और राष्ट्र-राष्ट्र के बीच कटुता की अभेद्य दीवालें खडी कर देती हैं। धर्म के मात्र निवृत्तिमार्ग पर जोर देकर उसे निष्क्रियता का जामा पहनाना भी धर्म की वास्तविकता को न समझना है। धर्म तो वस्तुत दु ख के मूल कारण रूप आसक्ति को दूरकर असाम्प्रदायिकता को प्रस्थापित करता है, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को नई दृष्टि देता है और समतामूलक समाज की रचना करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। इस दृष्टि से धर्म की शक्ति अपरिमित और अजेय है, बशर्ते उसके वास्तविक स्वरूप को समझ लिया जाये। धर्म के इसी स्वरूप को स्पष्ट करना मूक माटी महाकाव्य का अभिधेय रहा है।

धर्म की परिभाषा मानवता

धर्म की शताधिक परिभाषायें हुई हैं। उन परिभाषाओ का यदि वर्गीकरण किया जाये तो उन्हें साधारण तौर पर तीन प्रकारो में विभाजित किया जा सकता है- मूल्यात्मक, वर्णनात्मक और क्रियात्मक । ये तीनों प्रकार भी एक-दूसरे मे प्रवेश करते दिखाई देते हैं। कोई एक तत्त्व पर जोर देता है तो कोई दूसरे तत्त्व को अधिक महत्त्व देता है। इसलिए कान्ट जैसे दार्शनिकों ने उसके वैज्ञानिक स्वरूप को प्रस्तुत किया जिसमें मानवता को प्रस्थापित कर धर्म को ईश्वर-विश्वास से पृथक् कर दिया । कुन्दकुन्द आदि जैनाचार्यों ने तो धर्म को इस रूप में बहुत पहले ही खडा कर दिया था ।

यह सही है कि धर्म की सर्वमान्य परिभाषा करना सरल नहीं है पर उसे किसी सीमा तक इतना तो लाया ही जा सकता है कि वह अधिक से अधिक सार्वजनिक बन सके। एकेश्वरवाद की कल्पना ने ईश्वरीय पुरुष को खडाकर धर्म के साथ अनेक किंवदन्तियों और पौराणिक कल्पनाओं को गढा है और व्यक्ति तथा राष्ट्र को शोषित

किया है। धर्म के नाम जितने बेहूदे अत्याचार और युद्ध हुए हैं, वह उन अज्ञानियों का दुष्कृत्य है जिन्होंने कभी धर्म का अनुभव ही नहीं किया बल्कि निजी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए आम जनता को भड़काया, भीड को जमा किया, उसकी आस्था और विश्वास का दुरुपयोग किया और धर्मान्धता की आग में धर्म की वास्तविकता को भस्म कर दिया, उसकी आध्यात्मिकता के निर्झर को सुखा दिया । इसलिए धर्म के स्वरूप में स्वानुभूति का सर्वाधिक महत्त्व है। इसी को 'रसो वै स' कहा गया है, अनिर्वचनीय और परमानन्द रूप माना गया है। एकेश्वरवाद से हटकर व्यक्ति सर्वेश्वरवाद की ओर जाता है और फिर स्वय को ही परम विशुद्ध रूप परमात्मा के रूप में प्रतिष्ठित कर आत्मा को ही परमात्मा समझने लगता है। धर्म की यह विकास प्रक्रिया व्यष्टि से समष्टि की ओर ले जाती है और उसे विश्वजनीन बना देती है।

भारतीय सस्कृति मे जब हम धर्म शब्द पर विचार करेंगे तो हमारा ध्यान ब्राह्मण और श्रमण सस्कृति की ओर बरबस खिंच जाता है । 'धर्म ' धृ धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है बनाये रखना, धारण करना, पुष्टकरना (धारणात्, धर्ममित्याहु धर्मेण विधृता प्रजा.) । यह वह मानदण्ड है जो विश्व को धारण करता है, किसी भी वस्तु का वह मूल तत्त्व, जिसके कारण वह वस्तु है। वेदों में इस शब्द का प्रयोग धार्मिक विधियो के अर्थ में किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् मे धर्म की तीन शाखाओ (स्कन्धो) का उल्लेख किया गया है जिनका सम्बन्ध गृहस्थ, तपस्वी और ब्रह्मचारियो के कर्तव्यों से है - (त्रयो धर्मस्कन्धा २ ३) । जब तैत्तिरीय उपनिषद् हम से धर्माचरण (धर्म चर-१ ११) करने को कहता है, तब उसका अभिप्राय जीवन के उस सोपान के कर्तव्यों के पालन से होता है, जिसमें कि हम विद्यमान हैं। इस अर्थ मे धर्म शब्द का प्रयोग भगवद् गीता और मनुस्मृति दोनों में हुआ है। बौद्ध धर्म के लिए यह शब्द धर्म, बुद्ध और सघ या समाज के साथ-साथ 'त्रिरत्न' में से एक है। पूर्व मीमासा के अनुसार धर्म एक वाँछनीय वस्तु है, जिसकी विशेषता है प्रेरणा देना - चोदना लक्षणार्थो धर्म । वैशेषिक सूत्रों में धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जिससे आनन्द (अभ्युदय) और परमानन्द (नि श्रेयस्) की प्राप्ति हो, वह धर्म है - यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्म ।

जैनधर्म आर्हत् धर्म है[१]। उसकी संस्कृति वीतरागता से उद्भूत हुई है जहाँ कर्मों को नष्ट कर, उनकी निर्जरा कर मोक्ष प्राप्त करना मुख्य उद्देश्य रहता है। इसलिए जैनाचार्यों

ने अपनी संस्कृति के मूल में धर्म को सयोजित किया है और उसे जीवन के हर पक्ष से जोडने का प्रयत्न किया है। जैन सस्कृति को समझने के लिए उसमें निहित धर्म की विविध परिभाषाओं को समझना आवश्यक है। इन परिभाषाओं को हम स्थूल रूप से इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं -

१ धर्म का सामान्य स्वरूप,

२ धर्म का स्वभावात्मक स्वरूप

३ धर्म का गुणात्मक स्वरूप, और

४ धर्म का मोक्षमार्गात्मक स्वरूप।

इन स्वरूपों के माध्यम से ही हम जैन सस्कृति और मूक माटी की मूल अवधारणाओं को समझने का प्रयत्न करेगे।

१ आत्मा ही परमात्मा है

जैन धर्म आत्मवादी धर्म है। ससारी आत्मा ही कर्मों का स्वय विनाश कर परमात्मा बन जाता है। इसलिए सभी जैनाचार्यों ने सामान्यत धर्म उसे कहा है जो सासारिक दु खो से उठाकर उत्तम वीतराग सुख में पहुँचाये । यथा -

१ ससारदु खत सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे - रत्नकरण्डश्रावकाचार - २

२ इष्टस्थाने धत्ते इति धर्म - सर्वार्थसिद्धि, ९ , तत्त्वार्थवार्तिक, ९ २३

३ यस्माज्जीव नारक-तिर्यग्योनिकुमानुष-देवत्वेषु प्रपतन्त धारयतीति धर्म दशवैकालिक चूर्णि, पृ १५, ललितविस्तरा, पृ ९०, आवश्यक सूत्र, मलयवृत्ति, पृ ५९२, पद्मपुराण, १४ १०३-४, महापुराण, २ ३७, उत्तरा चूर्णि, ३, पृ ९८, धर्मामृत, टीका-५, प्र सा जय वृ १-८ आदि।

जैनाचार्यों की धर्म की इन परिभाषाओ को देखकर ऐसा लगता है कि वे व्यक्ति को प्रथमत सासारिक दु खो से परिचित कराना चाहते हैं और फिर आत्मा की विशुद्ध अवस्था रूप परमात्मा को प्राप्त करने का आह्वान करते हैं। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि व्यक्ति बार-बार दु ख का साक्षात्कार करने से बीमारी की प्रगाढता से परिचित हो जाता है, वस्तु-स्थिति को स्वय जानने लगता है और फिर उसी आत्मा में वास करने वाले

---

१ जैनधर्म के साथ संप्रदायवाची जैन शब्द लगभग आठवीं शती में जुड़ा। इसके पूर्व उसे आर्हत् धर्म ही कहते थे। वैदिक और बौद्ध साहित्य में भी आर्हत धर्म और दिगम्बर शब्दों का प्रयोग हुआ है।

परमानन्द स्वरूप को प्राप्त करने का लक्ष्य बना लेता है। तथाकथित ईश्वर रूप परमात्मा का भाव उसके मन मे आता ही नही। है भी नही। इसलिए जैनधर्म को नकारात्मक और दुःखवादी नहीं माना जाना चाहिए। जैनधर्म संसार को स्वप्न और माया भी नहीं कहना चाहता। वह तो हमें उसकी यथार्थता से परिचित कराता है। इसलिए धर्म की यह परिभाषा बड़ी व्यावहारिक है और जैनधर्म भी उसी व्यावहारिक दृष्टिकोण के साथ ससारियों को दु:ख से मुक्त कराने का प्रयत्न करता है। उसे वह उन दु खो से पलायन करने की सलाह नही देता बल्कि जूझने और सघर्ष करने की प्रेरणा देता है और आगाह करता है कि इन सांसारिक दु खो का मूल कारण राग और द्वेष है। कर्म मोह की प्रबलता से उन्मत्त होते हैं। वह जन्म-मरण का मूल है और जन्म-मरण की भाव-परम्परा दु ख का मूल है। इस ससार मे कही भी सुख नही है। जन्म-मरण के चक्कर मे सुख होगा भी कहाँ? इसलिए यदि हम यथार्थ सुख पाना चाहते हैं तो जन्म-मरण के भव-चक्कर से मुक्त होना आवश्यक है। उपादेय भी यही है। आत्मा ही परमात्मा है, इस परम तत्त्व को समझने का मार्ग भी यही है।

धर्म की परिभाषा को इतने विस्तार से समझने समझाने के पीछे हमारा यही मकसद है कि मूक माटी महाकाव्य वस्तुतः धर्म की रीढ को समझाने वाला महाकाव्य है। वह एसा महाकाव्य है जो त्रस्त पीडित, दु खित, भ्रमित व्यक्ति को सात्त्विक महापथ का रास्ता दिखाता है, समाज पर व्यग करते हुए उसके विकृत मनोभावो और विकारभावो को दूर करने का अथक प्रयत्न करता है। मूक माटी स्वय पतिता है, पददलिता है यातनाओ मे घिरी हुई है फिर भी वह नही चाहती कि दूसरे दु खित हो परेशान हो। बस इतना अवश्य चाहती है कि सन्मार्गदर्शक पाकर वह अपने पुरुषार्थ से इस पर्याय/अवस्था से मुक्त हो जाये (पृ ८-९)। इस सदर्भ मे प्रथम खण्ड के अन्त मे आचार्यश्री ने "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" (पृ ८१) और 'वसुधैव कुटुम्बक' (पृ ८२) की बात करते हुए "दया विसुद्धो धम्मो" मे धर्म की प्रासगिक परिभाषा का आख्यान किया है कि सासारिक प्राणी दु खी है उस पर सन्त दया कर उसे दुःखमुक्त करें। (पृ. ८८) सत्युग और कलियुग का जिक्र करते हुए (पृ ८३)। प्रथम खण्ड "सकर नहीं, वर्ण लाभ" वस्तुत पाठक को यह समझाने का प्रयत्न करता है कि यह ससार है, माटी जैसे अनन्त प्राणी चारों ओर दु खो और कष्टो से पीडित हैं, असहाय हैं जिन्हे सद्गुरू और उनके मार्गदर्शन की नितान्त आवश्यकता

है ताकि वह स्वयं अपनी शक्ति को, उपादान को पहचान सके और निमित्त पाकर संसार-सागर से पार हो सके।

मूक माटी का द्वितीय खण्ड जागरण का खण्ड है - "शब्द सो बोध नहीं, बोध सो शोध नहीं" जो माटी के जीवन में नूतन प्राण फूँक देने के प्रण के साथ प्रारंभ होता है। इस घोषणा में व्यक्ति की स्वतन्त्रता उद्घोषित है। उसे स्वयं विचार और ध्यान करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। उसके ऊपर ईश्वर जैसा कोई तत्त्व नहीं है। वह स्वयं अपने कर्म का निर्माता और भोक्ता है। इस चिन्तन से वैराग्य का जागरण होता है, सचेतता आती है क्रान्ति होती है, रूपान्तरण होता है और समता का जन्म हो जाता है। समता आने से साधक के चैतन्य की दशा विरागता में भर जाती है। वह संसार में रहते हुए भी उसी प्रकार वहाँ रहता है जिस प्रकार पोखर में खिला हुआ कमल जो जल में रहता हुआ भी जल उसका स्पर्श भी नहीं कर पाता।

भावे विरत्तो मणिओ विसोगो, एएणदुक्खोहरपरंपरेण।

न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो, जलेण वा पोखरणि पलास।।

जैनधर्म के चिन्तन का केन्द्रीभूत तत्त्व आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त उसमें न संसार का मूल्य है और न परमात्मा का। वह स्वार्थ की बात करता है स्वयं के कल्याण की, मंगल की आत्महित की। आत्महित की बात करने वाला ही परहित की बात सोच सकता है। वहाँ मैं नाम के तत्त्व का भी कोई अस्तित्व नहीं। हाँ अहंकार का विगलन (पृ. ९७, १३२, १७५) आवश्यक हो जाता है। उसके विसर्जन बिना एकाकीपन आ ही नहीं सकता। कैवल्य की साधना एकाकीपन की साधना है। वह व्यष्टिनिष्ठ आनन्द है। जो स्वयं आनन्दित होता है वह दूसरे को भी आनन्दित कर देता है। दुःखी व्यक्ति दूसरे को आनन्दित कर ही नहीं सकता। यहाँ स्वार्थ में परार्थ सधा हुआ है। आत्मा में परमात्मा रमा हुआ है। इसलिए आत्म-साधना में ही परमात्म-साधना होगी। परमात्मा कोई ईश्वर नहीं, सृष्टि का कर्ता-हर्ता-धर्ता नहीं। बहिरात्मा में व्यक्ति बाहर ही बाहर घूमता रहता है। उसका अन्तर का संगीत खोया रहता है, स्वभाव से विमुख रहता है। राग-द्वेषादि विकारों से ग्रस्त रहता है। जब जागरण विवेक का होता है तो वह संसार से विमुख हो उठता है स्व-पर पर चिन्तन करने लगता है, अन्तरात्मा की ओर बढ़ जाता है और ध्यान-सामायिक करने लगता है। जब यह भी भेद समाप्त हो जाता है तो आत्मा की परमात्मावस्था आ जाती है।

मनुष्य ही परमात्मा बन जाता है। आत्मा ही परमात्मा है यह क्रान्तिकारी उद्घोषणा जैनधर्म की निराली है। ईश्वर से मनुष्य को इतनी स्वतन्त्रता देना जैनधर्म की अपनी विशेषता है। नीत्शे ने कहा-ईश्वर मर चुका है। अब आदमी स्वतन्त्र है कुछ भी करने के लिए। पर जैनधर्म ने इससे भी आगे बढकर कहा-ईश्वर का अस्तित्व था ही कहा? फिर उसके मरने का प्रश्न ही नही उठता। हर व्यक्ति मे परमात्मा बैठा हुआ है। बस, उसे जागृत करने की आवश्यकता है। ईश्वर मे जगत् -कर्तृत्व है ही नही । ससार तो उपादान -निमित्त का सयोजन मात्र है स्वय ही। उसे ईश्वरकर्तृत्व की आवश्यकता नहीं होती।

जैसा हम पिछले अध्याय में स्पष्ट कर चुके है, मूक माटी का मुख्य उद्देश्य यह स्पष्ट करना है कि ससार की सृष्टि निमित्त-उपादान कारणो से होती है। ईश्वर सृष्टि-कारक नही है। व्यक्ति स्वय ही कर्ता है, स्वय ही भोक्ता है। सारा उत्तरदायित्व स्वय के शिर पर है। आत्मा ही सुख द ख का कर्ता है, भोक्ता है। सत्प्रवृत्ति स्थित आत्मा अपना ही मित्र है। वह असयम से निवृत्त होता है और सयम मे प्रवृत्त होता है। निवृत्ति और प्रवृत्ति, दोनो उसकी एक साथ चलती है। सबसे बडा शत्रु है तो इन्द्रियाँ हैं, कषाय हैं जिन्हे जीतने के लिए व्यक्ति को सदैव सघर्ष करना पडता है, विवेक जाग्रत करना पडता है। तभी धर्माचरण हो पाता है। विवेक जाग्रत हो जाने पर सासारिक सुख यथार्थ मे सुखाभास लगने लगते है उनमे झूठा आनन्द दिखाई देने लगता है, मृत्यु का चिन्तन प्रखर हो उठता है।

अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त य, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ।।
एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य।
ते जिणित्तु, जहानाय विहरामि अह मुणी।।

इस दृष्टि से जैन सस्कृति की प्रथम यह मूल अवधारणा है कि आत्मा अनन्त है। वे पृथक् -पृथक् हैं। उनमे अनन्त शक्ति और ज्ञान प्रवाहित हैं। मूलत वह आत्मा विशुद्ध है, पर कर्मो के कारण उसकी विशुद्धता आवृत्त हो जाती है। वीतरागता प्राप्त करने पर वही ससारी आत्मा परमात्मा बन जाती है। जैन सस्कृति का यह लोकतन्त्रात्मक स्वरूप है जहा सभी आत्मायें बराबर हैं और वे सर्वोच्च स्थान पा सकती हैं।

२ समतावाद

धर्म का यह स्वभाव है कि वह समता मूलक हो। जैन संस्कृति की यह विशेषता है कि वह अथ से इति तक समता की बात करती है। समतावादी धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत वस्तु और व्यक्ति के स्वभाव की ओर सकेत किया गया है। वस्तु का असाधारण धर्म ही उसका स्वभाव है, उसका भीतरी गुण ही उसका स्वरूप है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप स्थिति में पदार्थ अपना स्वरूप बनाये रखता है। इसी में स्वभाव की दृष्टि से आत्मा के स्वरूप पर भी विचार किया गया है जो समतामूलक है। जैसे -

१ धम्मो वत्थु सहावो - कार्तिकेय - अनुप्रेक्षा ४७८

२ स्वसवेद्यो निरुपाधिक हि रूप वस्तुत स्वभावो S भिधीयते ।

३ मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो- भावपाहुड ८१

४ धर्म श्रुतचारित्रात्मको जीवस्यात्मपरिणाम कर्मक्षयकारणम् (सूत्रकृताग, शी (वृ २ ५ १४)

५ सम्यग्दर्शनाद्यात्मपरिणामलक्षणो धर्म - धर्म-सग्रहणी - मलयावृ २५

धर्म सम्प्रदाय से ऊपर उठा हुआ है। सम्प्रदाय भीड है पर धर्म वैयक्तिक है, समूह नही। धार्मिक व्यक्ति अपने आपको अकेला करता जाता है, स्वभाव की ओर मुडता जाता है, स्वानुभूति के प्रकाश मे ससार को छोडता जाता है और एक दिन निष्काम बन जाता है। निष्काम त्याग का जीवन है। धर्म त्याग बिना आचरित नही हो सकता। वह माँग से दूर रहने की प्रक्रिया सिखाता है, मन की चचलता को समझने की आवश्यकता पर बल देता है। इसलिए वह स्पष्ट कर देता है कि क्रोधादि विकारो को किसी भी कीमत पर आश्रय न दे, अन्यथा ये फैल जायेंगे और अपना घर बना लेंगे। विकार भाव अपना घर न बना पाये यह तभी सभव है जब व्यक्ति का सकल्प दृढ हो, वह उनके सामने आत्मसमर्पण न करे। सकल्प के समक्ष सत्य रहता है, जिसकी कोई सीमा नहीं होती। असत्य की तो सीमा रहती है। सकल्पी व्यक्ति सत्य की खोज मे रहता है। परमात्मावस्था को वापिस पाने की तलाश में एकाकी बन जाता है और समत्व योग की साधना करता है। यही समता व्यक्ति का वास्तविक धर्म है, स्वभाव है। इसे हम यो भी कह सकते हैं कि समता अत् गत्यर्थक धातु से सिद्ध होकर सहजावस्था को द्योतित करती है जो ध्यान की उपान्त अवस्था है और समाधि उसकी अन्तिम साधना है।

समता मानवता का रस है, बर्बरता, पशुता, संकीर्णता उसका प्रतिपक्षी स्वभाव है। राग-द्वेषादि भाव उसके विकार-तन्तु हैं। ऋजुता, निष्कपटता, विनम्रता और प्रशान्तवृत्ति उसकी परिणति है। सहिष्णुता और सच्चरित्रता उसका धर्म है।

यद्यपि सापेक्षता व्यापकता लिये हुए रहती है पर मानवता के साथ सापेक्षता को सम्बद्ध करना उसके तथ्यात्मक स्वरूप को आवृत करना है। इसलिए समता की सत्ता मानवता की सत्ता मे निहित है। ये दोनो सत्तायें आत्मा की विशुद्ध अवस्था के गुण हैं।

व्यवहारत: मानवता के साथ सापेक्षता के आधार पर विचार किया भी जा सकता है पर वास्तविक समता उससे दूर रहती है। समता में ' यदि, और, तो ' का सम्बन्ध बैठता ही नही। वह तो समुद्र के समान गभीर, पृथ्वी के समान क्षमाशील और आकाश के समान स्वच्छ तथा व्यापक है। इसलिए समता का सही रूप धर्म है। यही उसका मर्म है।

यही समता और धार्मिक चेतनता सास्कृतिक और सामुदायिक चेतना का अविनाभावी अग है जिसमे धृति और सहिष्णुता, अहिंसा और सवेग-नियन्त्रण जैसे तत्त्व आपाद समाहित हैं। आचार्यश्री ने धरती माँ मे हृदयवती चेतना का दर्शन कराकर उसमे सामुदायिक चेतना का भाव दिखाया है और गुरु गम्भीरता, हर्ष का आवेग, अनन्य आत्मीयता जैसे भावो का उसमे उत्कर्ष माना है -

जिसकी आँखे/ और सरल और तरल हो आ रही है/ जिनसे/ हृदयवती चेतना का/ दर्शन हो रहा है/ जिसके/ छल-छलों से शून्य/ विशाल भाल पर/ गुरु गम्भीरता का/ उत्कर्षण हो रहा है/ जिसके/ दोनो गालो पर/ गुलाब की आभा ले/ हर्ष के सवर्धन से/ दृग-बिन्दुओ का अविरल/ वर्षण हो रहा है/ विरह-रिक्तता, अभाव/ अलगाव-भाव का भी/ शनै शनै / अपकर्षण हो रहा है/ नियोग कहो या प्रयोग/ सहज-रूप से अनायास/ अनन्य आत्मीयता का/ सस्पर्शन हो रहा है/ और वह धृति-धारिणी धरती/ कुछ कहने को आकर्षित होती है/ सम्मुख माटी का / आकर्षण जो हो रहा है। (पृ ६-७)

मिट्टी की दलित-पतित अवस्था देखकर धरती माँ का द्रवित हो जाना और फिर माटी की शक्ति को जाग्रतकर उसकी अनगिनत सभावनाओ को प्रस्तुत करना

सामुदायिक चेतना का एक विशिष्ट अग है (पृ ७)। उसी आधार पर धरती माटी को मंगलकलश तक पहुँचाने के लिए साधन देती है, सत्सगति का उपदेश देती है (पृ १०) और यह कहती है कि लक्ष्य तक पहुंचने में स्खलन की सभावना हो सकती है पर उसे सघर्ष करना पडेगा। सघर्ष के बिना हर्ष का अवसर हाथ नही आता (पृ १४)। तभी पतित माटी को नया प्रभात मिलता है, कोपलें खिलती हैं मानो हरिताभ की साडी रात को मिल गई हो (पृ १९)। यहाँ चेतना की सृजनशीलता (पृ १६), सहकारभाव (पृ २३), सप्रेषण (पृ २३), तनाव (पृ २३), भाग्यविधाता के रूप मे कुम्भकार की प्रस्तुति (पृ २८) कुदाल से माटी का खोदा जाना, तितर - बितर किया जाना फिर भी उसमे रुदन की आवाज न आना और फिर दु खियो के रूप मे स्वय का इतिहास प्रस्तुत करना जीवन के वास्तविक स्वरूप को प्रस्तुत करना जैसा है-

> **जो वर्षा-काल मे/ थोडी-सी वर्षा मे/ टप-टप करती है/ और उस टपकाव से/ धरती मे छेद पडते हैं/ फिर तो इस जीवन-भर/ रोना ही रोना हुआ है/ दीन-हीन इन आँखों से/ धारा प्रवाह / अश्रु-धारा बह/ इन गालो पर पडी है/ ऐसी दशा मे/ गालों का सछिद्र होना/ स्वाभाविक ही है/ और/ प्यार और पीडा के घावो मे अन्तर भी तो होता है/ रति और विरति के भाव/ एक से होते है क्या? (पृ३३)**

गदहा की स्थिति को देखकर माटी का करुणाद्र हो जाना, उसकी पीठसे बोरी की रगड के कारण खून का बहना और उसमे द्रवित हो जाना माटी की सामुदायिक चेतना का प्रतिफल दिखाई देता है (पृ ८०),और यह स्पष्ट किया जाता है कि **अन्त समय मे/ अपनी ही जाति काम आती है/ शेष सब/ दर्शक रहते हैं / दार्शनिक बनकर** (पृ ७२)।

मानवीय व्यक्तित्व का निर्माण

ससार एक कर्मभूमि है जहाँ धर्म से सने कर्तव्य की एक लम्बी शृखला है। वहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति के बीच अन्तर्द्वन्द्व, अनेक विपदाये और विघ्न, कर्मठता का आह्वान करते हैं। साधक को अनेक परीक्षाओं से गुजरना पडता है जहा उसकी महानता का परिचय सहनशीलता एव अदम्य विश्वास द्वारा मिलता है। मूक माटी का द्वितीय खण्ड "शब्द सो

बोध नहीं, बोध सो शोध" नहीं ऐसे ही विश्वास को उद्घाटित कर मानवीय व्यक्तित्व के निर्माण की भूमिका प्रस्तुत करता है। उच्चारण मात्र शब्द है, शब्द का सम्पूर्ण अर्थ समझ लेना बोध है और इस बोध की अनुभूति मे आचरण में उतारना शोध है।

यह शोध मान के विगलन से प्रारम्भ होता है (पृ ९७) जहाँ बोध का फूल खिलता है और निराकुलता पनपती है। (पृ १०७)। साधक यह तय करता है पूरी आस्था के साथ कि उसका आमूल जीवन प्रशम पूर्ण शम्य हो, शरणागतो के लिए अभय पूर्ण शरण्य हो और परम नम्य हो (पृ १०८)। वह यह भी समझ लेता है कि अपने को छोडकर पर पदार्थो से प्रभावित होना ही मोह का परिणाम है और सबको छोडकर अपने आप में भावित होना ही मोक्ष का धाम है(पृ १०९)। इसी सदर्भ मे साहित्य की व्याख्या सुख के समुद्भावक-सम्पादक के रूप मे करना (पृ.१११),करुणा-रस को जीवन का प्राण बताना(पृ १५८), औरो के सुख को देख जलना और औरो के दु ख को देख खिल उठने मे दुर्जनता को मापना (पृ १६८) सामुदायिक चेतना की फलश्रुति है। इसी सदर्भ मे "उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्त सत् " सूत्र का व्यावहारिक अनुवाद प्रस्तुतकर धर्म की परिभाषा को व्यापक बनाने का काम भी आचार्यश्री ने बडी प्रभावकता के साथ किया है -

आना, जाना लगा हुआ है
आना यानी जनन — उत्पाद है
जाना यानी मरण — व्यय है
लगा हुआ यानी स्थिर — ध्रौव्य है
और है यानी चिर — सत् / यही सत्य है, यही तथ्य --। (पृ १८५)

चारित्रिक विशुद्धि

मूक माटी का तृतीय खण्ड "पुण्य का पालन पाप का प्रक्षालन" माटी की विकास कथा के माध्यम से पुण्यकर्म के सम्पादन से उपजी श्रेयस्कर उपलब्धि का चित्रण करता है। इस खण्ड में धर्म को शाश्वत और चिरन्तन सुखदायी माना गया है पर उसके वैविध्य रूप में यह शाश्वतता धूमिल-सी होने लगती है। समता का स्वरूप धूमिल होने की स्थिति मे कभी नहीं आता। वह तो विकारी भावो की असत्ता मे ही जन्म लेता है। क्रोधादिक विकारी भाव असमता विषमता, उद्धतता और ससरणशीलता की पृष्ठभूमि में प्रादुर्भूत होते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के समन्वित रूप मे ही ये विकारभाव तिरोहित होते हैं और वही सही तप है। आस्था इसकी आधार भूमि है (पृ ९, १३, १२१)।

चारित्र का सम्यक् परिपालन किये बिना दर्शन और ज्ञान की आराधना हो नहीं सकती। दर्शन और ज्ञान, आत्मशक्ति, आत्मविश्वास और आत्मज्ञान के प्रतीक हैं जो समता के मूल कारण हैं। इसलिए चारित्र को धर्म कहा गया है (पृ ४६२)।

धर्म तथा समता को राग-द्वेषादिक विकारभावों की अभावात्मक स्थिति कहा जाता है। ममत्व का विसर्जन और सहिष्णुता का सर्जन उसके आवश्यक अग हैं। मानसिक चचलता को सयम की लगाम से वशीभूत करना तथा भौतिकता की विषादाग्नि को आध्यात्मिकता के शीतल जल से शमन करना समता की अपेक्षित तत्त्व दृष्टि है। सहयोग, सद्भाव, समन्वय और सयम उसके महास्तम्भ हैं। श्रमण का यही सही रूप है, स्वरूप है। इसी को आचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार कहा है -

चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो [१]।।
सुविदिदपयत्थसुत्तो सजमतवसजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवत्तिओगो त्ति [२]।।

समता आत्मा का सच्चा धर्म है। इसलिए आत्मा को समय भी कहा जाता है। समय की गहन और विशद व्याख्या करने वाले समयसार आदि ग्रन्थ इस सदर्भ में द्रष्टव्य है। सामायिक जैसी क्रियाये उसके फील्ड वर्क हैं। अहिंसा उसी का एक अग है। वह तो एक निर्द्वन्द्व और शून्य अवस्था है जिसमें व्यक्ति निष्पक्ष वीतराग, सुख-दु ख मे निर्लिप्त प्रशसा-निन्दा में निरासक्त, लोष्ठ-काचन मे निर्लिप्त तथा जीवन-मरण मे निर्भय रहता है। यही श्रमण अवस्था है।

वीतरागता मे जुडी हुई समता आध्यात्मिक समता है जो आगमो और कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थो मे दिखाई देती है। माध्यस्थ भाव से जुडी हुई समता दार्शनिक समता है जिसे हम स्याद्वाद अनेकान्तवाद किंवा विभज्यवाद मे देख सकते है। तथा कारुण्यमूलक समता पर व्यक्ति की विखण्डित, दरिद्र, पतित और वीभत्स अवस्था देखकर / अनुभवकर राजनीति के कुछ वाद प्रस्थापित हुए हैं। मार्क्स का साम्यवाद ऐसी ही पृष्ठभूमि लिये

---

१ यदि क्रोधादयक्षीणास्तदा किं खिद्यते वृथा। तपोभिरथ तिष्ठन्ति ततस्तत्राप्यपार्थक।। ज्ञानार्णव, १९,७६
२ प्रवचनसार १ ७ १ १४

हुए है। गांधी जी का सर्वोदयवाद महावीर के सर्वोदय तीर्थ पर आधारित है जिसका सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य समन्तभद्र (ई २ री सदी) ने किया था।

सर्वान्तवत् तद्गुणमुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव।।

मानवीय एकता, सह अस्तित्व, समानता और सर्वोदयता धर्म के तात्त्विक अग हैं। तथाकथित धार्मिक विज्ञान और आचार्य इन अगो को तोड-मरोडकर स्वार्थवश वर्गभेद और वर्णभेद जैसी विचित्र धारणाओ की विषैली आग को पैदा कर देते हैं जिसमे समाज की भेडियाधसान वाली वृत्ति वैचारिक धरातल से असबद्ध होकर कूद पडती है। उसके सारे समीकरण झुलस जाते हैं। दृष्टि में हिसक व्यवहार अपने पूरे शक्तिशाली स्वर मे गूजने लगता है, शोषण की मनोवृत्ति सहानुभूति और सामाजिकता की भावना को दूषित कर देती है, वैयक्तिक और सामूहिक शान्ति का अस्तित्व खतरे मे पड जाता है। इस दुर्व्यवस्था की सारी जिम्मेवारी एकान्तवादी चिन्तको के सबल हिसक कधो पर है जिसने समाज को एक भटकाव दिया है, अशान्ति का एक आकार-प्राकार खडा किया है और पडोसी को पडोसी जैसा रहने में सकोच, वितृष्णा और मर्यादाहीन भरे व्यवहारो की लौहिक दीवाल को गढ दिया है।

अनेकान्तवाद और सर्वोदय दर्शन इन सभी प्रकार की विषमताओ से आपादमग्न समाज को एक नई दिशा दान देता है। उसकी कटी पतग को किसी तरह सम्हालकर उसमे अनुशासन तथा सुव्यवस्था की सुस्थिर मजबूत और सामुदायिक चेतना से सजी डोर लगा देता है, आस्था और ज्ञान की व्यवस्था मे प्राण फूँक देता है। तब सघर्ष के स्वर बदल जाते है। समन्वय की मनोवृत्ति, समता की प्रतिध्वनि सत्यान्वेषण की चेतना गतिशील हो जाती है, अपने शास्त्रीय व्यामोह मे मुक्त होने के लिये अपने वैयक्तिक एकपक्षीय विचारो की आहूति देने के लिए दूसरे के दृष्टिकोण को सम्मान देने के लिए और निष्पक्षता, निर्वैरता-निर्भयता की चेतना के स्तर पर मानवता को धूल-धूसरित होने से बचाने के लिए। (पृ १७३)। मूक माटी मे 'ही' और 'भी' केमाध्यम से इस तथ्य का सुन्दर ढग से प्रतिपादन किया गया है।

सापेक्षिक कथन दूसरो के दृष्टिकोण को समान रूप से आदर देता है। खुले मस्तिष्क से पारस्परिक विचारो का आदान-प्रदान करता है, प्रतिपाद्य की यथार्थवत्ता

प्रतिबद्धता म मुक्त होकर सामने आ जाती है। वैचारिक हिमा मे व्यक्ति दूर हो जाता है, अस्ति-नास्ति क विवाद से मुक्त होकर नयो के माध्यम से प्रतिनिधि शब्द समाज और व्यक्ति को प्रेमपूर्वक एक प्लेटफार्म पर बैठा देते हैं। चिन्तन और भाषा के क्षेत्र मे "न या मियावाय बियागरज्जा" का उपदेश समाज और व्यक्ति के अन्तर्द्वन्द्वो को समाप्त कर देता है, सभी को पूर्ण न्याय देकर सरल, स्पष्ट और निर्विवाद अभिव्यक्ति का मार्ग प्रशस्त कर दता है। आचार्य मिद्धसेन ने "उदधाविव ममुदीर्णास्त्वयि नाथ। दृष्ट्य" कहकर इसी तथ्य को अपनी भगवद् स्तुति मे प्रस्तुत किया है। हरिभद्रसूरि की भी समन्वय-साधना इस सदर्भ मे स्मरणीय है -

भववीजाकुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णु वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै।।

३ अहिसा और अपरिग्रह

जैन सस्कृति अहिसा और अपरिग्रह मूलक है। इसलिए धर्म के गुणात्मक स्वरूप पर चिन्तन करते समय जैनाचार्यो ने व्यक्ति और समाज को परस्पर-निष्ठ बताया है। उन्होने स्पष्ट कहा है कि धर्म वस्तुत आत्मा का स्पन्दन है जिसमे कारुण्य सहानुभूति सहिष्णुता, परोपकारवृत्ति, सयम, अहिसा, अपरिग्रह जैसे गुण विद्यमान रहते है वह किसी जाति या सम्प्रदाय से प्रतिबद्ध नही। उसका स्वरूप तो सार्वजनिक, सार्वभौमिक और लोक मागलिक है। व्यक्ति समाज राष्ट्र और विश्व का अभ्युत्थान ऐसे ही धर्म की परिसीमा स सभव है।

धर्म क इस गुणात्मक स्वरूप की परिभाषाय इस प्रकार मिलती हैं -

१ धम्मो दयाविसुद्धो - बोध पाहुड २५ नियमसार व ६ वरागचारित - १५-१०७, कार्तिकेया ९७

२ धम्मो मगलमुक्किट्ठ अहिसा सजमो तवो - दशवैकालिक सूत्र १ १ तत्त्वार्थ वार्तिक ६ १३ ५ सर्वार्थसिद्धि ६ १३ जीवाण रक्खण धम्मो- कार्तिकेया ४७८

३ क्षान्त्यादिलक्षणो धर्म - तत्त्वार्थसार, ६ ४२ भाव सग्रह , ३०६

तत्त्वार्थवृत्ति, श्रुत ६ १३, उपासकाध्ययन, ३ धर्मस श्रा १०-९९ आदि

धर्म और अहिंसा में शब्दभेद है गुण भेद नहीं। धर्म अहिंसा है और अहिंसा धर्म है। क्षेत्र उसका व्यापक है। अहिंसा एक निषेधार्थक शब्द है। विधेयात्मक अवस्था के बाद ही निषेधात्मक अवस्था आती है। अत विधिपरक हिंसा के अनन्तर इसका प्रयोग हुआ होगा। इसलिए सयम, तप, दया आदि जैसे विधेयात्मक मानवीय शब्दों का प्रयोग पूर्वतर रहा होगा। (पृ ८८)।

हिसाका मूलकारण है - प्रमाद और कषाय[१]। उसके वशीभूत होकर जीव के मन, वचन कार्य में क्रोधादिक भाव प्रगट होते हैं जिनमे स्वय के शब्द प्रयोग रूप भाव प्राणों का हनन होता है। कषायादिक तीव्रता के फलस्वरूप उसके आत्मघात रूप द्रव्य प्राणो का हनन होता है। इसके अतिरिक्त दूसरे को मर्मान्तक वेदनादान अथवा परद्रव्यव्यपरोपण भी इन्हो भावो का कारण है। इसलिए भिक्षुओ को कैसे चलना, फिरना, उठना-बैठना, खाना-पीना चाहिए इसका विधान मूलाचार दशवैकालिक आदि ग्रन्थो मे उपलब्ध है।

समस्त प्राणियो के प्रति सयम भाव ही अहिसा है- अहिसा निउण दिट्ठा सव्वभूयेसु सजमो[२]। उसके सुख सयम मे प्रतिष्ठित हैं। मन, वचन , काय से सयमी व्यक्ति स्व-पर का रक्षक तथा मानवीय गुणो का आगार होता है। शील, सयमादि गुणो से आपूर व्यक्ति ही सत्पुरुष है। जिसका चित्त मलीन और दूषित रहता है वह अहिंसा का पुजारी कभी नहा हो सकता। जिस प्रकार घिसना, छेदना, तपाना और रगढना इन चार उपाया स स्वर्ण की परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार श्रुत, शील, तप और दया रूप गुणो के द्वारा धर्म एव व्यक्ति की परीक्षा की जाती है -

धम्मो मगलमुक्किट्ठ अहिसा सजमो तवो।
देवा पि त नमस्सति जस्स धम्मे सया मणो।। दशवैकालिक, १ १
सजमु सीलु सउज्जु तवु सूरि हि गुरु सोई।
दाहक - छेदक - सघायकसु उत्तम कचणु होई ।। भाव पाहुड - १४३

पानी छानकर पीना, रात्रि भोजन निषेध, देवदर्शन, अष्टमूलगुणो का परिपालन, निर्व्यसनी जीवन, समन्वयात्मक दृष्टि आदि कुछ ऐसे नियमो का विधान इसीलिए

---

१ प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसा - तत्त्वार्थसूत्र, ७ १३

२ दशवैकालिकसूत्र ६ ९

किया गया है कि साधक अहिंसक और संयमी बनकर अहिंसक समाज की रचना कर सके।

जीवन का सर्वांगीण विकास करना संयम का परम उद्देश्य रहता है। सूत्रकृतांग (१८ ६) मे इस उद्देश्य को एक रूपक के माध्यम से समझाने का प्रयत्न किया गया है। जिस प्रकार कछुआ निर्भय स्थान पर निर्भीक होकर चलता फिरता है, किन्तु भय की आशंका होने पर शीघ्र ही अपने अंग-प्रत्यंग प्रच्छन्न कर लेता है और भय-विमुक्त होने पर पुन अंग-प्रत्यंग फैलाकर चलना-फिरना प्रारम्भ कर देता है। उसी प्रकार संयमी व्यक्ति अपने साधना मार्ग पर बड़ी सतर्कता पूर्वक चलता है। संयम की विराधना का भय उपस्थित होने पर वह पंचेन्द्रियो व मन को आत्मज्ञान मे ही गोपन कर लेता है। मैत्री, करुणा, मुदिता और माध्यस्थ भाव समभाव की परिधिमें आते हैं। समभावी व्यक्ति समाचारिता का पालक और सर्वोदयशीलता का धारक होता है।

अध्यात्म का सम्बन्ध अनुभूति से है और हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध अध्यवसाय-संकल्प से है। अध्यात्म और संकल्प से आस्था की सृष्टि होती है जिसमे मानसिक दुर्बलता से भरी विलासिता समाप्त हो जाती है, स्वार्थ और अहिंसा का विसर्जन हो जाता है, परिशोधन और पवित्रता के आन्दोलन से वह जुड़ जाता है। वह भोग मे भी योग खोज लेता है।

जैन संस्कृति मूलत अपरिग्रहवादी संस्कृति है। जिन, निर्ग्रन्थ, वीतराग जैसे शब्द अपरिग्रह के ही द्योतक है। मूर्च्छा परिग्रह का पर्यायार्थक है। यह मूर्च्छा प्रमाद है और प्रमाद कषायजन्य भाव है। राग-द्वेषादि भावो से ही परिग्रह की प्रवृत्ति बढ़ती है। मिथ्यात्व, कषाय, नोकषाय आदि भाव अन्तरंग परिग्रह हैं और धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह का मूल साधन हिंसा है। झूठ, चोरी, कुशील उसके अनुवर्तक हैं और परिग्रह उसका फल है। परिग्रही वृत्ति व्यक्ति को हिंसक बना देती है। इस हिंसक वृत्ति से तभी विमुख हो सकता है व्यक्ति जब वह अपरिग्रह या परिग्रह परिमाणव्रत का पालन करे।

क्षमा, मार्दव आदि दस धर्मों का पालन भी धर्म है। मनुष्य गिरगिट स्वभावी है, अनेक चित्त वाला है। क्रोधादि विकारो के कारण वह बहुत भूले कर डालता है। क्रोध विभाव है, परदोषदर्शी है। क्षमा आत्मा का स्वभाव है। परपदार्थों में कर्तृत्व बुद्धि से, मिथ्यादर्शन से क्रोध उत्पन्न होता है और क्षमा सम्यग्दर्शन से उत्पन्न होती है। पंचम

गुणस्थान वर्ती अणुव्रती से लेकर नौवें-दसवें गुणस्थान में महाव्रती के उत्तमक्षमा है पर नौवें ग्रैवेयक तक पहुँचने वाले मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी के उत्तमक्षमा नहीं होती।

मार्दव का विरोधी भाव मान है। दु:ख अपमान में नहीं, मान की आकांक्षा में है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, समृद्धि, तप, आयु और बल के अभिमान से दूसरे को नीचे दिखाने का भाव पैदा होता है। इससे सत्य की खोज नहीं हो पाती। बिना विनय के भक्ति और आत्मसमर्पण कहाँ? प्रतिक्रिया और प्रतिशोध को जन्म देने वाले अहंकार को समाप्त किये बिना जीवन का बदलना संभव नहीं है।

धर्म आत्मस्थिति का मार्ग है, आत्मनिरीक्षण का पथ है। ऋजुता आये बिना धर्म का मर्म पाया नहीं जा सकता। शौचधर्म में चरित्र विशुद्ध हो जाता है और अकषाय की स्थिति आ जाती है और लोभ चला जाता है। सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य ब्रह्मचर्य आदि धर्म भी आध्यात्मिक साधना को जाग्रत करते रहते हैं और विचारों की पवित्रता को बनाये रखते हैं। इन धर्मों का पालन करने से संकल्प शक्ति का विकास होता है और साधक ध्यान-साधनाकर आत्मस्वरूप के चिन्तन में डूबने लगता है।

मूक माटी चूंकि आध्यात्मिक महाकाव्य है इसलिए इसमें अहिंसा और अपरिग्रह की भावना अथ से इति तक वर्णित है। माटी, सरिता, धरती आदि सभी पात्र करुणार्द्र हैं और पूर्ण अहिंसक होकर स्व-पर का विकास करते दिखाई देते हैं। सेठ, धनतन्त्र स्वर्णकलश, आतंकवाद मशाल आदि कुछ ऐसे भी पात्र हैं जिनके माध्यम से आचार्यश्री ने एक वर्ग विशेष पर कटाक्ष करते हुए उस धर्म के अन्तस्तल तक पहुँचकर साम्प्रदायिक चेतना जाग्रत करने की सलाह दी है।

४ रत्नत्रय का समन्वय

तीर्थंकर महावीर ने साधना की सफलता के लिए तीन कारणों का निर्देश किया है - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन तीनों तत्त्वों का समवेत रूप में रत्नत्रय कहा जाता है। दर्शन का अर्थ श्रद्धा अथवा व्यावहारिक परिभाषा में आत्मानुभूति के लिये प्रयास कह सकते हैं। श्रद्धा पूर्वक ज्ञान और चारित्र का सम्यक् योग ही मोक्ष रूप साधना की सफलता में मूलभूत कारण है। मात्र ज्ञान अथवा चारित्र से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए इन तीनों की समन्वित अवस्था को ही मोक्षमार्ग कहा गया है -- सम्यग्दर्शन -

ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग ।- तत्त्वार्थसूत्र १.१ । रत्नत्रय का पालन ही धर्म है। इस प्रकार की परिभाषायें देखिए -

१. सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु - रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ३

२. धम्मो णाम सम्मद्दसण-णाण-चरित्ताणि - धवला पु ८, पृ.९२

३ सम्यग्दृष्टि-प्राप्ति चारित्र धर्मो रत्नत्रयात्मक - लाटी सहिता - ४, २३७-३८

मोक्ष-प्राप्ति का रत्नत्रय के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। जिस प्रकार औषधि पर सम्यक् विश्वास, ज्ञान और आचरण किये बिना रोगी रोग से मुक्त नही हो सकता उसी प्रकार ससार के जन्म-मरण सभी रोग से मुक्त होने के लिए रत्नत्रय का सम्यक् योग होना आवश्यक है । तत्त्वार्थ वार्तिक (१ १ पृ १४) मे इस सदर्भ मे बडे अच्छे दो श्लोक उद्धृत हुए हैं -

हतं ज्ञान क्रियाहीन हता चाज्ञानिना क्रिया ।

धावन् किलान्धको दग्ध पश्यन्नपि च पंगुल

संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञानमेकचक्रेण रथ प्रयाति।

अन्धश्च पगुश्च वने प्रविष्टौ तौ सप्रयुक्तौ नगरे प्रविष्टौ।।

जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध सवर निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वो और पुण्य-पाप को मिलाकर नव पदार्थों में रुचि होना सम्यग्दर्शन है - तच्चरुई सम्मत्त-मोक्खपाहुड, ३८। सच्चे देव शास्त्र और गुरू का ज्ञान होना भी सम्यग्दर्शन है। वह परोपदेश से अथवा परोपदेश के बिना भी प्रकट होता है। इन दोनो प्रकारो मे आत्मप्रतीति होना मूल कारण है। आत्मप्रतीति से सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्ज्ञान वह है जिसमे ससार के सभी पदार्थ सही स्थिति मे प्रतिबिम्बित हो। प्रमाण और नय इसी सीमा मे आते हैं। सम्यक्त्व का महत्त्व "दसणभट्ठा भट्ठा" गाथा से भलीभाति स्पष्ट हो जाता है।

सम्यक् आचरण को सम्यक्चारित्र कहा जाता है जिसमे कोई पाप-क्रियाये न हो, कषाय न हो, भाव निर्मल हो तथा पर-पदार्थो मे रागादिक विकार न हो। यह सम्यक्चारित्र दो प्रकार का होता है- गृहस्थो के लिए और मुनियो के लिए। एक अणुव्रत है दूसरा महाव्रत है । इनमे अणुव्रतो की सख्या बारह है - अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । दिग्व्रत देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत पचव्रतो को पालन करने मे सहायक बनते

हैं और सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिणाम तथा अतिथि संविभाग इन चार व्रतो का पालन करने से सामाजिकता का पालन होता है।

श्रावक बडी महत्त्वपूर्ण अवस्था है। इसमे व्यक्ति इस अवस्था तक पहुंच जाता है कि वह उपदेश ग्रहण करने का पात्र बन सके। वह बारह व्रतो का पालन घर में रहकर करता है। व्रत पालन करने से धीरे-धीरे उसकी चित्तवृत्तियाँ विशुद्धता की ओर बढती चली जाती हैं। आत्मा में इस आध्यात्मिक क्रमिक विकास को जैनधर्म में प्रतिमा कहा गया है। उनकी संख्या बारह है। उनमें प्रारम्भ के छह प्रतिमाधारी गृहस्थ कहलाते हैं और वे जघन्य श्रावक हैं। सात से नवमी प्रतिमाधारी को ब्रह्मचारी या वर्णी कहा जाता है। वे मध्यम श्रावक हैं तथा दशावी और ग्यारहवी प्रतिमा के धारक भिक्षुक कहलाते हैं और वे उत्कृष्ट श्रावक है। उनम दशावो प्रतिमा तक साधक श्रावक गृहस्थावस्था मे रहता है पर ग्यारहवी प्रतिमा स्वीकार करने पर उसे गृहत्याग करना आवश्यक हो जाता है। उसके बाद वह परिपूर्ण निष्परिग्रही मुनि बन सकता है।

जैन मुनि २८ मूल गुणो का पालन करता है - पांच महाव्रत पांच समितियाँ, पचेन्द्रियविजय, छह आवश्यक, केश-लुञ्चनता अचेलकता, अस्नानता, भूशैय्या, स्थिति भोजन, अदन्त धावन और एकभुक्ति। इन मूलगुणो के परिपालन से उसके मन मे सवेग और वैराग्य की भावना प्रबलतर होती रहती है। वह क्षमादि दश धर्मो का पालन करता है और अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओ का अनुचिन्तन करता है, बाईस परीषहो को सहजता पूर्वक सहन करता है तथा बाह्यतपो और अन्तरग तपों का पालन करता है। मुनिचर्या का वर्णन चतुर्थ खण्ड का अभिधेय रहा है।

५ स्वाध्याय

जैन संस्कृति मे स्वाध्याय को सर्वोत्तम तप माना गया है। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मकथा के माध्यम से उसे किया जाता है। उसे धर्म मे समाहित किया गया है। जैनागम ग्रन्थो मे धर्म की उक्त चारो परिभाषाओं को एक स्थान पर भी एकत्रित किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों मे भी ये परिभाषायें बिखरी पडी हुई हैं। उनका सुन्दर सूत्रीकरण आचार्य कार्तिकेय ने किया है। जिसमें स्वाध्याय का रूप प्रतिबिम्बित हुआ है।

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।

रयणत्तय च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो।।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ४७८,

उत्तरकालीन आचार्यों ने भी जहाँ कहीं आचार्य कार्तिकेय का अनुकरण किया है। वस्तुत य परिभाषाये धर्म के विविध रूपो को उजागर करती है । उनमे कोई भद नही है, वणन करने का तरीका ही अलग अलग है। इन सारी परिभाषाओ की आधार शिला है -

ज इच्छसि अप्पणत्तो, जं च न इच्छति अप्पणतो ।

तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियग जिणसासण।।

अर्थात् अपने लिये वही चाहो जो तुम दूसरो क लिए भी चाहत हो और जो तुम अपन लिय नही चाहत वह दूसरा क लिए भी मत चाहो। यही जिनशासन है। स्वाध्याय क माध्यम मे ही यह प्राप्तव्य है।

जैनधर्म मे धर्म की य सारी परिभाषाये समता को केन्द्र म रखकर बनाई गई हैं। समता पाने का इच्छुक साधक तव परम्परा का पालन नही करता। वह तो अपने मे हर पल क्रान्ति देखता है, नयी ज्योति पाता है। इसलिये धर्म वैयक्तिक हे सामूहिक नही। उस ज्योति को पाने मे उस स्वाध्याय सबसे बडा सहयोगी तत्त्व सिद्ध होता है और उसी तत्त्व स वह परम सत्य को उपलब्ध हो जाता है - स्वाध्याय श्रेयस मत । मूक माटी मे य सारी परिभाषाय किसी न किसी रूप म प्रतिबिम्बित हुई हैं।

६ उपयोग और भक्ति

जैन संस्कृति मे आत्मा स परमात्मा बनन के लिए शुद्ध भक्ति का आश्रय लिया जाता है। यहाँ आत्मा की व्याख्या उपयोग शब्द के माध्यम मे भी की गई है। यह उपयोग चैतन्य का परिणाम है ज्ञान-दर्शन मूलक है। जो ज्ञानोपयोग इन्द्रियो की सहायता के बिना ही प्रगट होता है वह केवलज्ञान है, स्वभावज्ञान है। शेष चारो ज्ञानो मे स मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होते है तथा अन्तिम दो ज्ञान अवधि ज्ञान और मन पर्ययज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता क बिना ही उत्पन्न होते हैं। क्रमश ये ज्ञान उत्तरोत्तर विमलता को लिये रहते है।

वह उपयोग तीन प्रकार का है - शुभोपयोग, अशुभोपयोग तथा शुद्धोपयोग। जीवों पर दया शुद्ध मन-वचन-काय की क्रिया, शुद्ध दर्शन ज्ञान रूप उपयोग ये शुभोपयोग सवर तथा निर्जरा सहित मुख्यता से पुण्य कर्म के आस्रव के कारण हैं। पूजा, दान आदि मे लीन आत्मा शुभोपयोगी होती है पंच परमेष्ठियों के प्रति भक्ति भाव से भी शुभोपयोग होता है। प्रशम, सवेग, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ आदि भावनाओ से चित्त विशुद्ध होता है। पर राग, द्वेष, मोह आदि विकार भाव इस चित्त विशुद्धि को प्राप्त करने म बाधक बनते हैं। कषाय व्यक्ति को बांध देती है, काट देती है क्रोध प्रीति को नष्ट करता है, अहकार विनम्रता को नष्ट करता है माया मैत्री को नष्ट करती है और लोभ सब कुछ नष्ट कर दता है। इन कषायो से दूर होने पर भी सम्यक धर्म का उदय होता है। शुभोपयोग रूप व्यवहार धर्म पुण्य का कारण है और अशुभोपयोगी रूप असदाचरण पापकर्मास्रव का कारण है। आत्मा का शुद्ध स्वभाव शुद्धोपयोग है जो शुभोपयोग के माध्यम म प्राप्त होता है। शुद्धोपयोग ही मोक्ष का कारण है।

शुभोपयोग व्यवहार धर्म है और शुद्धोपयोग निश्चय धर्म है। जीव का स्वभाव अतीन्द्रिय आनन्द है। जिस अनुष्ठान विशेष म उस आनन्द की प्राप्ति होती है वह धर्म कहा जाता है। वह दो प्रकार का है एक बाह्य और दूसरा अन्तरग। पूजा, दान पुण्य, शील सयम व्रत, त्याग आदि बाह्य अनुष्ठान हैं और अन्तरग अनुष्ठान समता व वीतरागता की साधना करना है। बाह्य अनुष्ठान व्यवहार धर्म है और अन्तरग अनुष्ठान निश्चयधर्म है। निश्चय धर्म सम्यक्त्व सहित ही होता है पर व्यवहार धर्म सम्यक्त्व सहित भी होता है और सम्यक्त्व रहित भी होता है। परमसमाधि रूप केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए व्यवहार धर्म भी त्याज्य हो जाता है। इसके बावजूद निश्चय व व्यवहार धर्म सापेक्ष ही हैं निरपेक्ष नहीं। सम्यक व्यवहार धर्म सवर तथा कर्मनिर्जरा का तथा परम्परा म मोक्ष का कारण सिद्ध होता है।

श्रमण सस्कृति यद्यपि मूलत स्व पुरुषार्थवादी सस्कृति है पर व्यवहार म वह अपने परम वीतराग इष्टदेव के प्रति श्रद्धा और भक्ति की अभिव्यक्ति से विमुख नहीं रह सकी। यह स्वाभाविक है और मनोवैज्ञानिक भी। व्यक्ति के मन मे जिसके प्रति पूज्य भाव होता है, उस के प्रति निष्ठा श्रद्धा, आस्था और भक्ति स्वय स्फुरित होने लगती है और स्वर लय खोजने लगता है। स्तुति और स्तोत्र उसी लय का जीवन्त रूप है। सगीत

का माधुर्य और हृदय का स्वर-स्रोत उसी से प्रवाहित होता है। भक्ति के माध्यम से आध्यात्मिकता के साथ-साथ भौतिक साधनों की प्राप्ति की भी लालसा जाग्रत होती है और उसी लालसा से मन्त्र-तन्त्र का प्रादुर्भाव होता है। इसलिए भक्ति अध्यात्म का निष्यन्द है और मन्त्र-तन्त्र उसके पत्र-पुष्प। निर्वाण-प्राप्ति इसका फल और लक्ष्य है।

इस भूमिका पर बैठकर जब हम आगम और सिद्धान्त ग्रन्थों को देखते हैं, टटोलते हैं तो पाते हैं कि भक्ति वह आराधना है जो वीतराग देव के प्रति शुद्ध रत्नत्रय-परिणामों से की जाती है। वस्तुतः वह शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना है[1]। व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टि पंच परमेष्ठियों की आराधना-भक्ति करता है, विशुद्ध भावों के साथ उनके प्रति अनुराग व्यक्त करता है। यह भक्ति दर्शन-विशुद्धि आदि के बिना हो नहीं सकती।

इस भक्ति की छह आवश्यक क्रियायें हैं- सामायिक, वन्दना, स्तुति, स्वाध्याय, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। स्तुतियों में तीर्थंकरों का स्तवन होता है और कायोत्सर्ग में निश्छल सीधे खड़े होकर २७ श्वासों में णमोकार मन्त्र का जप किया जाता है। प्रत्येक क्रिया के साथ भक्ति पाठों का निर्देश है। दैनिक और नैमित्तिक क्रियाओं में इन भक्तिपाठों का प्रयोग किया जाता है।

भक्ति तन्त्र से मन्त्र परम्परा का उद्भव हुआ। भक्ति के प्रवाह में आकर साधक परमात्मा की स्तुति करता है और उस स्तुति में वह वाचाल हो उठता है। मन्त्र उस वाचालता को कम करता है और मन को एकाग्र करके आध्यात्मिक अनुभव को पाने का प्रयत्न करता है। नामस्मरण, श्रवण, मनन, चिन्तन की पृष्ठभूमि में मन्त्र की उत्पत्ति होती है। मांगलिक कार्य करने के लिए इष्टदेव की स्तुति होती है, समास-पद्धति का आधार लेकर भगवान का अनुचिन्तन होता है। और मंगलवाक्य के रूप में मंत्र की रचना हो जाती है।

विस्तार से समास की ओर जाने की यह एक सर्वमान्य स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मन्त्र-तन्त्र परम्परा भी उसी से सम्बद्ध है। स्वानुभूति की सरसता का पान करने के लिए मन्त्र ही एक ऐसा माध्यम है जिससे मानसिक चंचलता की दौड़ को विराम दिया जा सकता है। इसलिए मन्त्र की परिधि में समग्र तत्त्व-चिन्तन आ जाता है जो हमारे शुभ-अशुभ भावों के साथ घूमता रहता है। मन्त्र की सार्थकता हमारे भावों पर अधिक निर्भर करती है।

---

१ नियमसार १३४, समयसार ता. वृ. १७३-१७६

जैन धर्म चूंकि भावों की शुद्धि और अहिंसक आचरण पर अधिक जोर देता है, इसलिए शैव और वैष्णव शाक्त परम्पराओं का प्रभाव होने पर भी जैन मन्त्र-तन्त्र परम्परा पर उनकी हिंसक मान्यता की कोई छाप दिखाई नहीं देती। कोई भी यक्ष, यक्षिणी, देवी, देवता ऐसा नहीं माना गया जिसका आकार-प्रकार बीभत्स और दुष्ट हो या हिंसा की गंध उसमें आती हो। यह विशेषता जैन संस्कृति की प्रगाढ अहिंसक भावना का फल है।

हवन, यज्ञ आदि क्रियायें भी यद्यपि जैन संस्कृति की मूल क्रियायें नहीं हैं फिर भी उन्हें धर्म का अंग मान लिया गया है। आचार्य हरिभद्र और जिनसेन के चिन्तन में इन क्रियाओं को वैदिक संस्कृति से लेकर अपने ढंग से आत्मसात् किया गया है। विशेषता यह है कि जैन संस्कृति ने उसे व्यवहार धर्म का अंग बना दिया और अहिंसात्मकता की परिधि के भीतर उसे स्वीकार कर लिया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि व्यवहार धर्म जैन संस्कृति में निश्चय धर्म के लिए सोपानवत् काम करता है। इसलिए वह भक्ति का अभिन्न अंग है और उपेक्षणीय नहीं है। इसका फल यह हुआ कि भक्ति शास्त्र का जन्म हुआ। और मन्त्र-तन्त्र परम्परा स्तुतियों और स्तोत्रों का सृजन हुआ। निश्चय और व्यवहार धर्म के समन्वय से अहिंसा की परिधि में रहकर जैन संस्कृति वैदिक संस्कृति की समीप पहुँचकर भी अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखने में सक्षम रही। शाकाहार की प्रतिष्ठा और पर्यावरण की सुरक्षा का आह्वान सबसे पहले जैन संस्कृति ने ही किया जो उसकी मूल अवधारणा का अंग था।

७ सामाजिक समता

जैन संस्कृति भाव प्रधान संस्कृति है। इसलिए वहाँ ऊँच-नीच स्त्री-पुरुष सभी के लिए समान स्थान रहा है। वैदिक संस्कृति में प्रस्थापित जातिवाद की कठोर शृंखला को काटकर महावीर ने जन्म के स्थान पर कर्म का आधार दिया। उन्होंने कहा कि उच्च कुल में उत्पन्न होने मात्र से व्यक्ति को ऊँचा नहीं कहा जा सकता। वह ऊँचा तभी हो सकता है जबकि उसका चारित्र या कर्तृत्व ऊँचा हो, विशुद्ध हो। इसलिए महावीर ने समानता के आधार पर चारों जातियों की नई व्याख्या की और उन्हें एक मनुष्य जाति के रूप में प्रस्तुत किया - मनुष्यजातिरेकैव।

कम्मुणा बम्भणो होई, कम्मुणा होई खत्तियो।
वइस्सो कम्मुणो होई, सुद्दो होई कम्मुणो।। उत्तरा २५-१९-२७

इसी सामाजिक समता के आधार पर महावीर ने सभी जातियों और सम्प्रदायों के लोगों को अपने धर्म में दीक्षित किया और उन्हें विशुद्ध आचरण देकर वीतरागता के पथ पर बैठा दिया। यही कारण है कि जैनाचार्यों मे सभी जातियो के आचार्य हुए हैं। इसी प्रकार नारी को भी दासता से मुक्त कर उसे सामाजिक समता की ही देहली पर नहीं खड़ा किया बल्कि निर्वाण-प्राप्ति का भी अधिकारी घोषित किया। यह उस समय का बहुत बड़ा क्रान्तिकारी सिंहनाद था। दास मुक्ति, नारी मुक्ति और जातिभेद मुक्ति के क्षेत्र मे जैन संस्कृति किंवा मूक माटी का यह योगदान अविस्मरणीय है। मूक माटी म तो सामाजिक समता पर बहुत जोर दिया गया है। (पृ ४, ५, १०)।

८ एकात्मकता और राष्ट्रीयता

जैन संस्कृति में एकात्मकता और राष्ट्रीयता को उतना ही महत्त्व दिया गया है जितना चरित्र का। धर्म और संस्कृति परस्पर गुथे हुए अविच्छिन्न अंग हैं। उनकी सांस्कृतिकता व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्र की एक अजीब नब्ज हुआ करती है जिसकी धड़कन को देख-समझकर उसकी त्रैकालिक स्थिति का अन्दाज लग जाता है। हमारी भारतीय संस्कृति में उतार-चढ़ाव और उत्थान-पतन आये पर सांस्कृतिक एकता कभी विच्छिन्न नहीं हो सकी। उसमे एकात्मकता के स्वर सदैव मुखरित होते रहे। इतिहास के उदय काल मे लेकर आज तक इस वैशिष्ट्य को जैन संस्कृति सहेजे हुई है।

राष्ट्र एक सुन्दर मनमोहक शरीर है। उसके अनेक अंगोपांग हैं जिनकी प्रकृति और विषय भिन्न-भिन्न है। अपनी सीमा मे उनका बंधत्व ? लगाव है और इसी लगाव मे उनमे परस्पर संघर्ष भी होते हैं। इन सब के बावजूद वे मूल आत्मा मे पृथक होते दिखाई नहीं देते। आत्मा के नाम पर उनमे एकात्मकता सदैव बनी रहती है। यह एक ऐसी अन्विति है जिसमे बाह्य तत्त्व भी चिपक जाते हैं, रम जाते हैं और एक ही तत्त्व मे समाहित हो जाते हैं।

हमारे राष्ट्र का अस्तित्व एकात्मकता की शृंखला मे स्नेहिलता पूर्वक भलीभांति जुड़ा हुआ है जिसमें जैन संस्कृति का अनूठा योगदान है। राष्ट्रीयता का जागरण उसके विकास का प्राथमिक चरण है। जन-जन मे और मन-मन मे शान्ति सह-अस्तित्व और चतुर्मुखी अहिंसात्मकता उसका चरम बिन्दु है। विविधता में पली-पुसी एकता

सौजन्य और सौहार्द को जन्म देती हुई "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" का हृदयग्राही पाठ पढ़ाती है और सज्जनता को प्रतिफलित करती है।

भाषा, धर्म, जाति और प्रादेशिकता एकता को विखण्डित करने के प्रबल कारण होते हैं। उनकी संकीर्णता से बंधा व्यक्ति न्याय और मानवता की दीवालों को लांघकर हिंसक क्रूर और आततायी हो जाता है। उसकी दृष्टि स्वार्थपरता के जहर से दूषित हो जाती है, हेयोपादेय के विवेक से मुक्त हो जाती है, सीमितता के चकाचौंध से अंधया जाती है और हिंसक व्यवहार को जन्म देती है।

भाषा अभिव्यक्ति का एक स्वतन्त्र और सक्षम साधन है, साध्य नहीं है। जहाँ वह साध्य हो जाता है वहाँ आसक्तियो और संकीर्णताओं के घेरे में मनोमालिन्य, झगड़े-फसाद और कलह की चिनगारियाँ विषाद उगलने लगती है, चेतना समाप्त हो जाती है होश गायब हो जाता है। मात्र बच जाता है विरोध, वैमनस्य और प्रादेशिकता की सड़ी गली भावनायें।

एक वर्ग विशेष धर्म को अफीम मानता आया है। उसका दर्शन जो भी हो पर यह तथ्य इतिहास के पन्नो मे छिपा नही है कि जब भी धार्मिक उन्माद उभरा अल्पसंख्यको पर मुसीबत आयी और धर्म के नाम पर उन्हे बुरी तरह कुचला गया। धर्म का यदि सुपाक न हुआ हो तो वह विष से भी बदतर सिद्ध होता है। धर्म के अन्तस्तल तक पहुँचना सरल नही होता। तथाकथित धार्मिक और राजनीतिक नेता जब धर्म के मुखौटे को ओढ़कर जनसमुदाय की भावनाओ को उभारकर अपना उल्लू सीधा करते हैं तो वस्तुत वे किसी देशद्रोही से कम नही है। भूसे से भरा उनका दिमाग और उगल भी क्या सकता है ? धर्म की गली सकरी होती नही, बना दी जाती है और उसे इतनी सकरी बना देते हैं हमारे अहमन्य नेता कि उसमे दूसरा कोई प्रवेश कर ही नही पाता। प्रवेश के अभाव में खून-खच्चर होने की आशंकाये बढ़ जाती हैं, संयम की सारी अर्गलायें टूट जाती हैं और अमानवीय भावनाओ को अनधिकृत प्रवेश मिल जाता है।

हमारी सारी राजनीति का केन्द्र-बिन्दु आज धर्म और जाति बन गया है। धर्मनिरपेक्षता की बात आज मात्र धोखे की टट्टी हो गई है। शैक्षणिक संस्थायें भी इस कराल गरल से बच नहीं पा रही हैं। कुर्सी बचाने और पाने की प्रवृत्ति ने हमारी नैतिकता पर कठोर पदाघात किया है। उसने नयी पीढ़ी के खून में अजीबोगरीब मानसिकता भर दी

है संस्कार दूषित कर दिये हैं और निकम्मेपन और कठमुल्लेपन को जन्म दिया है। आज भले और ईमानदार आदमी का जीवन दूभर होता जा रहा है। उसकी कराहती आवाज को सुनने वाला तो दूर सान्त्वना देने वाला भी नही मिलता। ऐसी स्थिति मे हमारा देश कहाँ जायेगा यह अनबुझी पहेली बन गई है।

इतिहास के भूले-बिसरे पन्नो को यदि हम खोलकर पढे तो तो यह तथ्य उद्घाटित होते देर नही लगेगी कि हमारी भारतीय संस्कृति का धवल आँचल कभी मैला नही हुआ। आदिकाल से लेकर अभी तक वर्ण व्यवस्था की मूल आत्मा जब भी अपने पथ से भटकी समाज मे क्रूरता के दर्शन अवश्य हुए पर उस स्वार्थपरता भरी अहमन्यता को वास्तविकता का चोला नही माना जा सकता। वह तो वस्तुत एसा सडाध रही है जिसमे गर्वीली जातीयता और धार्मिक कट्टरता पनपी और न जाने कितने असहाय वर्गो को वैतरणी का विषपान करना पडा। एसे अपुनीत, असामाजिक और अमानवीय दूषित कदमो को भारतीय संस्कृति का अग नही कहा जा सकता। वह तो वस्तुत विकृत मानसिकता का अग रही है। आर्य-अनार्य की भेदक रेखा के पीछे भी ऐसे ही गर्हित तत्त्वो का हाथ रहा है। सरस्वती नदी का तट ऋग्वैदिक मन्त्रो से पवित्र हुआ पर धर्म के नाम पर पशु-हिसा से उसका पुनीत जल रक्तरजित होने से भी नही बच सका। ऋग्वैदिक कालीन नैतिक आदर्शो की व्याख्या उत्तरकाल मे बदलनी पडी। मर्यादा पुरुषोत्तम राम और यदुवंशी भगवान कृष्ण ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियो के बीच की सुदृढ कडियाँ बन गये और भारतीय संस्कृति के समन्वयात्मक मूल स्वर और अधिक मिठास लेकर गुञ्जित होने लगे। इस मिठास को पैदा करने मे जैनधर्म का बेजोड हाथ रहा है। मूक माटी का संगीत भी इसी राष्ट्रीय एकता के स्वर मे भरा हुआ है।

ब्राह्मण परम्परा की अनुश्रुतियो मे लिच्छवि मल्ल, मोरिय आदि जातियो को व्रात्य कहा गया है। व्रात्य जन्मत क्षत्रिय और आर्यजाति के थे, जो मूलत मध्य देश के पूर्व या उत्तर-पश्चिम मे रहते थे। उनकी भाषा प्राकृत थी और वेषभूषा अपरिस्कृत थी। वे चैत्यो की पूजा करते थे। आर्य द्रविण, नाग, पणि और विद्याधर जाति से भी उनके सम्बन्ध थे। वर्णसकरता उनमे बनी हुई थी। फिर भी अपने को वे क्षत्रिय मानते थे और श्रमण संस्कृति के पुजारी थे। उनके वैदिक यज्ञ विधान और जातिवाद के विरोधक प्रखर स्वर मे आध्यात्मिकता व औपनिषदिक विचारधारा का उदय व्रात्य संस्कृति का ही परिणाम है जहाँ वैदिक यज्ञो को फूटी नाव की उपमा दी गई है।

श्रमण व्यवस्था ने उस एकात्मकता को अच्छी तरह परखा था और संजोया था अपने विचारों में जिन्हें तीर्थंकरों और जैनाचार्यों ने समता, पुरुषार्थ और स्वावलम्बन को प्रमुखता देकर जीवन क्षेत्र को एक नया आयाम दिया और जिसे महावीर और बुद्ध जैसे महामानवीय व्यक्तित्वों ने आत्मानुभूति के माध्यम से पुष्पित-फलित किया। श्रमण संस्कृति ने वैदिक संस्कृति में धोखे-धान्धे से आयी विकृत परम्पराओं के विरोध में अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की और अनायास ही समाज का नवीनीकरण और स्थितिकरण कर दिया। इस समाज की मूल निधि चारित्रिक पवित्रता और आत्मिक दृढ़ता थी जिसे उसने थाती बनाकर कठोर झंझावातों में भी सम्भालकर रखा। विभज्यवाद और अनेकान्तवाद के माध्यम से समन्वय और एकात्मकता के लिए जो अथक प्रयत्न जैनधर्म ने किया है वह निश्चय ही अनुपम माना जायगा। बौद्धधर्म में तो कालान्तर में विकृतियाँ आ भी गई पर जैनधर्म ने चारित्र के नाम पर कभी कोई समझौता नहीं किया।

अब मात्र संस्कृत ही साहित्यकारों की अभिव्यक्ति का साधन नहीं था। पालि-प्राकृत अपभ्रंश जैसी लोकबोलियों ने भी जनमानस की चेतना को नये स्वर दिये और साहित्य सृजन का नया प्रांगण खुल गया। इस समूचे साहित्य में एकात्मकता का जितना सुन्दर ताना-बाना हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। अर्हन्तों और बोधिसत्वों की वाणी ने जीवन-प्रासाद को जितना मनोरम और धवल बनाया उतनी ही उनके प्रति आत्मीयता जाग्रत होती रही। फलत: हर क्षेत्र में उनका अतुल योगदान सामने आया। भावात्मक एकता की सृजन-शक्ति भी यहीं से विकसित हुई।

इसी बीच मगध साम्राज्य का उदय हुआ। विदेशी आक्रमण हुए। उस राजनीतिक अस्थिरता को दूरकर एकता प्रस्थापित करने का काम किया राष्ट्रनिर्माता कुशल प्रशासक मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने जिसने जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण प्रदेश की यात्रा की और दिगम्बर मुनिव्रत धारण कर श्रवणबेलगोला में समाधिमरण पूर्वक शरीर त्याग किया। अशोक (२६८-२६९ ई.पू.) भी मूलत: जैन सम्राट् था जिसमें धार्मिक सहिष्णुता, सार्वभौमिकता, असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति, अहिंसात्मक भावना, सद्विचार और एकात्मकता कूट-कूट कर भरी हुई थी।

मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद पुष्यमित्र शुंग ने ब्राह्मण साम्राज्य की स्थापना की। आन्ध्र-सातवाहन आये जिन्होंने प्राकृत भाषा को विशाल आश्रय दिया। कलिंग खारवेल

भी जैन सम्राट् था जिसने मगध साम्राज्य से युद्धकर कलिंग जिनमूर्ति को वापिस प्राप्त किया। इसी समय मूर्तिकला के क्षेत्र मे गान्धारकला ने एक नयी दृष्टि-सृष्टि दी। मथुरा कला का भी अपने ढग का विकास हुआ और वहाँ जैन, बौद्ध, वैदिक तीनों सम्प्रदाय समान रूप से विकास करते रहे। मथुरा की जैनकला कदाचित् प्राचीनतम कला है।

गुप्तकाल को हमारे इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है। पूज्यपाद, सिद्धसेन आदि प्रखर जैन विद्वान इसी काल मे हुए जिन्होंने समन्वयवादिता पर विशेष जोर दिया। इसी युग में देवर्धिगणी द्वारा ४५३ ई मे वल्लभी में जैनागमो का सकलन हुआ।

गुप्त काल के बाद राजनीतिक विकेन्द्रीकरण की प्रवृति प्रारम्भ हो गई। इस काल में हर्ष की धार्मिक सहिष्णुता विशेष निदर्शनीय है। हर्ष की मृत्यु (६४६ A D) के उपरान्त उत्तर भारत मे पाल, सेन परमार कलचुरि आदि कितने ही छोटे-मोटे राजा हुए जिन्होने हमारी सस्कृति को सुरक्षित ही नही रखा बल्कि उसे बहुत कुछ दिया भी है। वाकाटक, राष्ट्रकूट आदि राजवंशों ने भी जैनधर्म का पालन करते हुए सास्कृतिक एकता के यज्ञ मे अपना योगदान दिया।

पूर्व मध्यकाल मे चालुक्य पाल चेदि चंदेल आदि वश आये जिन्होने शैव और वैष्णव मत का विशेष प्रसार किया। शाक्त और नाथ सप्रदाय भी उदित हुए। ब्रह्मा, विष्णु महेश गणेश दिक्पाल आदि की पूजा का प्रचलन बढा और अवतारवाद का खूब प्रचार-प्रसार बढा। इसी काल मे बौद्धधर्म की तान्त्रिकता ने उसे पतन का रास्ता बता दिया। पर जैनधर्म अपेक्षाकृत अधिक अच्छी स्थिति मे रहा। विशेषत दक्षिण भारत मे उसे अच्छा राज्याश्रय मिला। यद्यपि लिंगायत सम्प्रदाय द्वारा ढाये गये अत्याचारो को भी उसे झेलना पड़ा। फिर भी अपनी चारित्रिक निष्ठा के कारण जैनधर्म नामशेष नही हो सका। यह इसलिए भी हुआ कि जैनधर्म वैदिक धर्म के अधिक समीप आ गया था। कला के क्षेत्र मे उसका यह रूप आसानी से देखा जा सकता है।

जैनधर्म प्रारम्भ से ही वस्तुत एकात्मकता का पक्षधर रहा है। उसका अनेकान्तवाद का सिद्धान्त अहिंसा की पृष्ठभूमि में एकात्मकता को ही पुष्ट करता रहा है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। हिंसा के विरोध मे अभिव्यक्त अपने ओजस्वी और प्रभावक विचारो से जैनाचार्यों ने एक ओर जहाँ दूसरों के दुःखो को दूर करने का प्रयास किया वही मानव मानव के बीच पनप रहे अन्तर्द्वन्द्वों को समाप्त करने का भी मार्ग प्रशस्त

किया। समन्तभद्र ने उसी को सर्वोदयवाद कहा था। हरिभद्र और हेमचन्द्र ने इसी के स्वर को नया आयाम दिया था। प्रारम्भ से लेकर अभी तक सभी जैनाचार्य अपने उपदेशो और साहित्य सृजन के माध्यम से एकात्मकता की प्रतिष्ठा करने मे ही लगे, रहे है। इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नही जिसमें जैन धर्मावलम्बियोंने किसी पर आक्रमण किया हो और एकात्मकता को धक्का लगाया हो। भारतीय संस्कृति में उसका यह अनन्य योगदान है जिसे किसी भी कीमत पर झुठलाया नही जा सकता। मुसलिम आक्रमणकारियों द्वारा मन्दिरो और शास्त्र भण्डारों के नष्ट किये जाने के बावजूद जैनधर्मावलम्बियो ने अपनी अहिंसा और एकात्मकता के स्वर मे आँच नही आने दी। यह उनकी अहिंसक धार्मिक जीवन पद्धति और दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक चिन्तन का परिणाम था कि सदैव उसने जोडने का काम किया, तोडने का नही।

मूक माटी महाकाव्य ने एकात्मकता और राष्ट्रीयता को बडा महत्त्व दिया है। "वसुधैव कुटुम्बकम्" का नारा देकर समाजवादी और सर्वोदयवादी विचारधारा की अच्छी वकालात की है। आचार्यश्री ने स्पष्ट कहा है कि राजमना न स्वार्थ से दूषित हो और न मात्र नारेबाजी से। उसे तो सदाशय और समष्टि की बात सोचनी चाहिए, अनेकान्तवाद और अध्यात्मवाद का मार्ग अपनाना चाहिए। अर्थ-लिप्सा (पृ १०२, २१७) और कलह (पृ १४०) स्वार्थभाव (पृ १९७)और आतंकवाद (पृ १४) राष्ट्रीय एकात्मकता के लिए दीमक हैं। उनसे दूर रहना ही श्रेयस्कर है।

जैन संस्कृति की ये मूल अवधारणाएँ मानवतावाद के विकास मे सदैव कार्यकारी रही है। उन्होने आर्थिक सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र मे भ्रष्टाचार दूरकर सर्वोदयवाद और अहिंसावादी विचारधारा को प्रचारित करने का अथक प्रयत्न किया धनोपार्जन के सिद्धान्तो को न्यायवत्ता की ओर मोडा, मूक प्राणियों की वेदना को अहिंसा की चेतनादायी संजीविनी से दूर किया शाकाहार पर पूरा बल देकर पर्यावरण की रक्षा की और सामाजिक विषमता की सर्वभक्षी अग्नि को समता के शीतल जल और मन्द बयार से शान्त किया। जीवन के हर अंग में अहिंसा और मद्य मांस, द्यूत आदि जीवनघाती व्यसनो से मुक्ति के महत्त्व को प्रदर्शितकर मानवता के संरक्षण मे जैन संस्कृति ने सर्वाधिक योगदान दिया है। यह उसकी गहन चरित्र-निष्ठा का परिणाम है। बारह व्रतो मे अनर्थदण्डव्रत को जोडकर उसने और भी महनीय प्रतिष्ठा का काम किया है।

ब्राह्मण जैसे पारम्परिक शब्दों की भी परिभाषाओं को जैन संस्कृति में चारित्रिक आधार पर नयी व्याख्या दी और उसे पूर्ण वैज्ञानिक रूप दिया। जैन संस्कृति पूर्ण आत्मवादी और कर्मवादी संस्कृति है। इसीलिए रत्नत्रय की जितनी सुन्दर प्रतिष्ठा यहाँ हुई है उतनी अन्यत्र देखने नहीं मिलती। आत्मस्वातन्त्र्य में विश्वास करने वाली कर्मवादी संस्कृति का समाज चरित्रनिष्ठ रहेगा ही। उसके सम्यक्चारित्र और विवेक की जड़ें बड़ी गहरी रहेंगी। इस तथ्य को हम इतिहास की सारी घड़ियों में भी देख सकते हैं कि जैन संस्कृति कभी भी अपनी मूल अवधारणा से पथभ्रष्ट नहीं हुई। अहिंसा की परिधि में रहकर प्रगतिवाद की जिन सूक्ष्म रेखाओं पर जैन संस्कृति ने जिस वैज्ञानिक ढंग से अपने विचार दिये हैं वे आज भी उतने ही प्रामाणिक हैं जितने पहले थे। आज भी जैन समाज अपेक्षाकृत अधिक चरित्र-निष्ठ है। यह सदियों से आये हुए उसके सुसंस्कारों का परिणाम है। अपार आक्रमणों और अत्याचारों के भीषण झंझावातों के बावजूद वह कभी भी न आक्रामक रहा और न उसने राष्ट्रीयता का अपमान किया। अल्पसंख्यक होने के बावजूद जीवन के हर क्षेत्र में जैन संस्कृति ने अपनी मूल मानवीय अवधारणाओं के माध्यम से अपना विशिष्ट योगदान दिया। यही योगदान उसके जीवन्त होने का अनुपम निदर्शन है। मूक माटी महाकाव्य का कथ्य और शिल्प भी इसी निदर्शन की प्रस्तुति है।

जैन संस्कृति की ये मूल अवधारणायें मूक माटी महाकाव्य के हर शब्द में प्रतिबिम्बित हो रही हैं। पिछले पृष्ठों में यथास्थान हम इस विषय पर प्रकाश डाल चुके हैं। फिर भी उसका चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा चाँदी-सी राख' इन अवधारणाओं की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत करता है। कुम्भ अग्नि से जो कुछ कहता है उसमें जैन संस्कृति का हृदय देखा जा सकता है -

मेरे दोषों को जलाना ही / मुझे जिलाना है /
स्व-पर दोषों को जलाना परम धर्म माना है सन्तों ने
दोष अजीव है / नैमित्तिक है /
बाहर से आगत है कथंचित् /
गुण जीवगत है / गुण का स्वागत है।
तुम्हें परमार्थ मिलेगा इस कार्य से /
इस जीवन को अर्थ मिलेगा तुम से /

मुझ में जल-धारण करने की शक्ति है?

जो तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है।

उसकी पूरी अभिव्यक्ति मे / तुम्हारा सहयोग अनिवार्य है।

(पृ.२७७)

धरती का ध्येय सद्‌गुरु का धर्म है और वही धर्म की अन्यतम विशेपता है जिसे हम पीछे देख चुके हैं। इसी तथ्य को यहाँ भी देखिए -

जल को जड़त्व से मुक्त कर

मुक्ता-फल बनाना,

पतन के गर्त से निकाल कर

उत्तुग - उत्थान पर धरना

धृति - धारिणी धरा का ध्येय है।

यही दया - धर्म है

यही जिया कर्म है। (पृ १९३)

इसी तरह इसे भी देखिये -

सदाशय और सदाचार के साँचे मे ढले

जीवन को ही अपनी

सही कसौटी समझती हूँ।

जलाने का भाव भी मन मे लाना

अभिशाप — पाप समझती हूँ।

शिष्टो पर अनुग्रह करना

सहज - प्राप्त शक्ति का

सदुपयोग करना है, धर्म है।

और, दुष्टो का निग्रह नहीं करना

शक्ति का दुरुपयोग करना है, अधर्म है। (पृ.२७६-७७)

सांस्कृतिक और सामुदायिक चेतना के संदर्भ में इन कतिपय प्रसंगों की ओर भी ध्यान दीजिए - साधक का धर्म (पृ २८३), दर्शन - अध्यात्म (पृ.२८७-८८), अतिथि सत्कार (पृ ३००), श्रमण का स्वरूप (पृ ३००), प्रकृति-पुरुष भेद (पृ ३०६), स्पर्धा और अर्ह (पृ ३३९) नियति-पुरुषार्थ (पृ ३४९), घर की ओर जा रहे सेठ का वर्णन (पृ ३५०) पात्रदान तथा सन्त समागम का फल (पृ ३५२-५३), कुम्भ के रूप में सन्त (पृ ३५४), संस्कार की उपयोगिता (पृ ३५७) श्रमण उपदेश (पृ ३६१) कलश के शब्दो में (पृ ३६३) पाप मन व्यक्ति का चित्र (पृ ३७५), स्वर्ण कलश के प्रति कथन (पृ ३६४-६) दीपक और मशाल (पृ ३६७) ध्यान और ध्येय (पृ ३६०) बीजाक्षर - श म य (पृ ३९७-९९), वेखरी आदि का वर्णन (पृ ४०१-४०४) ध्यान साधना विपश्यना पश्यन्ती आदि (पृ ४०४-७) कलिकाल का प्रभाव (पृ ४११-१३) आतंकवाद (पृ ४४१) बंधन रूचना नहीं (पृ ४४३), समाजवाद (पृ.४६१), उपसंहार आचरण स्वयं का (पृ ४८७)। इनमें समाजवाद का अर्थ और विस्तार दृष्टव्य -

समाज का अर्थ होता है समूह
और / समूह यानी
सम — समीचीन ऊह — विचार है
जो सदाचार की नीव है।
कुल मिलाकर अर्थ यह हुआ कि
प्रचार-प्रसार से दूर
प्रशस्त आचार-विचार वालो का
जीवन ही समाजवाद है।
समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से
समाजवादी नहीं बनोगे। (पृ ४६१)

आचार्यश्री ने सांस्कृतिक और सामुदायिक चेतना के आधार पर समाज का रूपान्तरित करने का सफल प्रयत्न किया है। माटी के माध्यम से उन्होंने व्यक्ति के चरित्र को विपुल बनाकर एक नये रिनैसाँ युग का आविर्भाव किया है। उनकी यह चेतना युगधर्म

है जो धर्मयुग की प्रस्थापना कर सकता है, आस्थाओं को परिष्कृत और परिवर्धित कर सकता है, वैराग्य मूलक वातावरण का निर्माण कर सकता है और दे सकता है वह आध्यात्मिक वातावरण जिसे आज हमारी भावी पीढ़ी पूरी प्रामाणिकता के साथ खोज रही है। विस्तार भय से यहाँ हम तुलनात्मक अध्ययन को विराम - सा दे रहे हैं। पर इतना अवश्य कहना चाहेंगे कि जिस गहराई को आध्यात्मिकता की चासनी के साथ आचार्यश्री ने चखा है, स्वाद लिया है और उसे सुन्दर शब्दों मे सजाया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। अहिंसक आर्हत् परम्परा की यह मनोरम प्रस्तुति अभिरमणीय है, अतुलनीय है और साम्प्रदायिक चेतना से ओतप्रोत है।

यहाँ यदि हम आधुनिक हिन्दी कविता की ओर दृष्टिपात करें तो यह उल्लेखनीय है कि छायावाद ने हिन्दी कविता को कोमलकान्त पदावली तथा व्यंजक भाषा दी। द्विवेदी युग की रूखी-सूखी भाषा के स्थान पर दुराग्रही वृत्ति के कारण इस भाषा मे अस्पष्टता और कृत्रिमता का दोष दिखाई देने लगा। प्रयोगवादी कवि इस छायावादी काव्य की भाषा शैली का कट्टर विरोधी रहा है। अज्ञेय ने छायावादी कविता की तुलना उस घिसे हुए बर्तन से की थी जिसका मुलम्मा छूट गया है। प्रभाकर माचवे ने भी छायावाद को अस्पष्ट और अर्थहीन कहकर उसका मजाक उड़ाया था।

अर्थहीन शब्दो का गुफन, अस्पष्टार्थ विवादी।
क्या इसको ही कहते है कविता छायावादी ।।

छायावादी कवि - स्वप्नभग

नई कविता प्रयोगवाद का ही विस्तार है पर वहाँ घोर वैयक्तिकता और समाजविमुखता दिखाई देती है। उत्तरकालीन नेमिचन्द्र जैन भवानीप्रसाद मिश्र आदि कवियो मे भी यही प्रवृत्ति नजर आती है। आचार्यश्री ने शायद इसी तथ्य को दृष्टि मे रखकर साहित्य और काव्य को मानवीय हित से जोड़कर उसे आध्यात्मिकता से सम्बद्ध कर दिया है अन्यथा वह शब्दो का जाल झुण्ड ही रह जायगा (पृ १११)।

नई कविता का कथ्य-संसार व्यापक और असीमित है। उसकी विषय वस्तु जीवन के मीठे-कड़वे सभी प्रकार के अनुभव हैं जिन्हे कवि बड़ी सहृदयता पूर्वक सकलित करता है। उसके शब्दों मे सामाजिक दु:ख दर्द, करुणा, आह्लाद, तनाव, असन्तोष आदि सभी मानवीय भावो से साक्षात्कार होता है। राजनैतिक क्षेत्र भी उससे असंपृक्त नहीं रहता।

धर्मवीर भारती के "अन्धायुग" और मुक्तिबोध की कविता "अन्धेरे मे" मे राजनैतिक चेतना की गहरी प्रतिक्रिया दिखाई देती है। आचार्यश्री का आध्यात्मिक व्यक्तित्व भी अपने आपको इस प्रतिक्रिया से नही बचा सका और आतकवाद का जिक्र मूक माटी मे आ गया।

इसी तरह नई कविता म असुरक्षा, निराशा छटपटाहट सामाजिक सघर्ष उदासीनता, कुण्ठा, पराजय आदि भाव अन्तर्मन को कचोटते दिखाई दे रहे हैं। पर आचार्यश्री के कवि मे ये भाव नही आ पाय। उनकी कविता का मूल भाव रहा है व्यक्ति के आत्मिक चरित्र को शिखर की ऊँचाइयो तक पहुँचाना उठाना। मूक माटी को मगलकलश के रूप में प्रतिष्ठापित करने के पीछे उनका यही मनोभाव काम करता रहा है। चिलचिलाती धूप म नगे पैर चलकर और कडकडाती ठड म खुले बदन घूमकर भूख-प्यास रहकर सभी तरह के परीषहो को शान्ति म सहकर उन्होंने जो आध्यात्मिक और सामाजिक चेतना जाग्रत की उसमे व्यक्ति की नैराश्य भावना तिरोहित होने लगी व्यावहारिक जीवन की विषमताओ से जूझने का साहस बढा और विघटन की कगार पर खडे मानव मूल्यो को बचने बचाने का उसे आधार मिल गया।

इसी प्रकार राजनीतिक और सास्कृतिक मुद्दो पर भी आचार्यश्री ने सुन्दर व्यग किया है। रघुवीर सहाय की कविता "हमी खुशी मान जाता लाइया रामदास म" धर्मवीर भारती का "अन्धायुग" मदन वात्स्यायन का "मिथिला म बाढ सर्वेश्वर की "कलाकार और सिपाही' आदि कविताओ म जो आज की राजनीति पर करारा व्यग किया गया है उसस भी कही, अधिक नाखा व्यग आचार्यश्री के आतकवाद धनतत्र आदि प्रसगो म मिलता है।

धार्मिकता और एहिकता साम्प्रदायिकता और जातिवाद, नारी की स्थिति मूल्यो का सकट आदि एसे सास्कृतिक प्रसग है जिन पर महाकवि ने अपनी बेजोड कलम उठाई है और प्रहार किया है उन सामाजिक रूढियो विकृतियो और विसगतियो पर जिन्होने व्यक्ति और समाज को भावना की दृष्टि म पत्थर बना दिया है। जातिवादी व्यवस्था को दूरकर आत्मिक शुद्धि की वकालात तथा नारी को कुण्ठाओ से मुक्त कर उसे अपनी प्रतिभा को जाग्रत करने का नया क्षेत्र प्रदान करने का जो प्रयत्न आचार्यश्री की मूक माटी कृति मे दिखाई देता है नूतन व्याख्या के साथ, वह अन्यत्र दुर्लभ है। केदारनाथ

अग्रवाल और मुक्तिबोध भी इस दौड़ में पीछे दिखने लगते हैं। वस्तुतः यह महाकाव्य मानवतावाद की प्रतिष्ठा करता है समग्र मानव को रूपायित करता है, जीवन की विसंगतियों को दूरकर उसके आध्यात्मिक विकास की क्षमता को प्रतिष्ठित करता है और बनाता है उस आस्था को चिरस्थायी, जो मानवता को शाश्वत शान्ति का सन्देश देकर मानव-समानता का प्रतिपादन करता है। यही उसकी मूल्य चेतना है, यही उसका कथ्य और शिल्प है जिसने सांस्कृतिक चेतना को आत्मबोध का परिदृश्य दिया और व्यथा, घुटन और पीड़ा में व्यक्ति को निकालकर सामुदायिक चेतना के स्वर उसमें अंकित कर दिए।

* * *

सप्तम परिवर्त

अभिव्यञ्जना शिल्प चेतना

अभिव्यञ्जना शिल्प कवि की अनुभूतिपरक अभिव्यक्ति की क्षमता का द्योतक है। यह क्षमता अथवा प्रतिभा उसके काव्य में प्रयुक्त भाषा, बिम्ब, प्रतीक, अलंकार, ध्वनि, छन्द आदि योजना को देखकर आंकी जा सकती है। विषय-वस्तु को भी इसमें सम्मिलित किया जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में अलकार और अलकार्य (शब्द और अर्थ) के बीच अभेद की स्वीकृति इसी तत्त्व का समर्थन करती है। क्रोञ्चे का अभिव्यञ्जनावाद भी लगभग इसी विचार का अनुगमन करता है। शब्द और अर्थ के बीच सबध आदि विषय को लेकर भारतीय और पाश्चात्य दोनों काव्यधाराओं के मर्मज्ञों के बीच काफी मीमांसा हुई है। उस विवाद में न पडकर यहाँ हम मात्र इतना कहना चाहते है कि कवि की अनुभूति काव्य के अभिव्यञ्ना शिल्प को बेहद प्रभावित करती है। यदि कवि किसी वासना से पीडित है तो उसके प्रतीक, उपमान, छद आदि उस वासना को निश्चित ही अभिव्यक्त करेंगें, भाषा ऊलजलूल होगी और यदि वह पवित्र आध्यात्मिकता की अनुभूति से सराबोर है तो उसके काव्य का हर शब्द उस अनुभूति को उडेलता हुआ नजर आयेगा।

"मूक माटी" पारम्परिक छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद या नयी कविता जैसी किसी ऐसी विधा से सम्बद्ध नही है, जिसमे घनघोर सांसारिकता और अतृप्त वासना की कायरता जडी हुई हो। वह तो ऐसे कवि की महाकृति है जो वीतरागता के पथ पर काफी दूर तक चल पडा है और उसके पवित्र आचरण की सुगन्ध से आकर्षित होकर एक बहुत बडा समुदाय उसका अनुगामी बन गया है। इसलिए प्रस्तुत महाकाव्य में न खण्डित व्यक्तित्व दिखाई देगा और न कहीं बोधशून्यता लक्षित होगी। उसके सारे प्रतीक, उपमान, बिम्ब, प्रतिबिम्ब एक नये शिल्प को लेकर पवित्रता का वातावरण खडा कर देते है, जिसमें पाठक अपने को स्थापित कर अपूर्व आनन्द का अनुभव करता है। कवि की शक्तिशाली परम अनुभूति उसके काव्य को लीक से हटकर दीपस्तभ के रूप में प्रस्थापित कर देती है जिसकी तुलना के लिए आधुनिक काव्य जगत बिलकुल शून्य-सा दिखाई देता है। फिर भी यहाँ हम उसके अभिव्यञ्जना शिल्प पर विचार करते समय कुछ तुलनात्मक तथ्यों की ओर सकेत करने का प्रयत्न अवश्य करेंगे।

महाकाव्यत्व [illegible]

"मूक माटी" में पारम्परिक महाकाव्य के लक्षणों को खोजना असामयिक होगा। हाँ, उसमें सामान्य लक्षण अवश्य देखे जा सकते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने विभिन्न महाकाव्यों की समीक्षा करने के बाद महाकाव्य के केवल चार तत्वों को अधिक महत्व दिया है (१) इतिवृत्त (२) वस्तु-व्यापार वर्णन (३) भाव व्यञ्जना, तथा (४) संवाद। समीक्षा की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि महाकाव्य के तीन आन्तरिक स्थायी तत्व हैं, (१) अन्वित महान् घटना (२) महान् उद्देश्य, तथा (३) प्रभावान्विति या रसात्मकता। बाह्यलक्षणों में कथात्मकता, सर्गबद्धता, जीवन के विविध आयामों का चित्रण, शैली की गंभीरता जैसे तत्वों का आकलन किया जा सकता है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी महाकाव्य की परिभाषा को तराशा है और आधुनिक भारतीय विद्वानों ने भी उस पर काफी मंथन किया है जिसकी पुनरावृत्ति यहाँ करना आवश्यक नहीं है।

महाकाव्य की स्थापित सारी परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में हम यदि "मूक माटी" की महाकाव्यात्मकता को परखना चाहे, तो हम उसे एक अनुपम महाकाव्य की कोटि में सरलतापूर्वक बैठा सकते हैं। वैसे यह रूपक काव्य/महाकाव्य है, इसलिए ऐतिहासिक वृत्तान्त का तो प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, माटी अपने आपमें एक पवित्र नायिका है, मानवीयकरण यदि कर लिया जाये। उसी तरह कुम्भकार को नायक माना जा सकता है। वे दोनों अथ से लेकर इति तक प्रभावक पात्र के रूप में बने रहते हैं। एक माटी जैसा पददलित पात्र किसप्रकार स्वयं के पुरुषार्थ या उपादान शक्ति से दूसरे का सहारा या निमित्त पाकर निम्नतम अवस्था से अध्यात्म की उच्चतम अवस्था तक पहुँच सकता है, इसका सांगोपांग चित्रण प्रस्तुत महाकाव्य का विषय है, जो पीछे महाकाव्य के चारों खण्डो में दृष्टव्य है। महाकाव्य की परिभाषा हम जो भी बनायें, पर इतना निश्चित है कि उसकी चरित्र कल्पना मानवतावादी दृष्टि से ओतप्रोत हो, अभिव्यञ्जना शैली गंभीर हो और शिल्प उन्नत और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर आधारित हो। 'मूक माटी' का उद्देश्य विशुद्ध प्रयत्नों पर स्वयं की शक्ति और दूसरे का यथावश्यक सहयोग पाकर अपना आध्यात्मिक लक्ष्य प्राप्त करना रहा है। माटी जिसतरह मंगलकलश तक की स्थिति में कुम्भकार के सहयोग से पहुँच जाती है, उसी तरह रत्नत्रय का परिपालन कर कोई भी व्यक्ति अपवर्ग की स्थिति में आ सकता है। यही महाकाव्य का कथ्य है।

वस्तु-व्यापार वर्णन की दृष्टि से मूक माटी एक सफल महाकाव्य है। उसकी हर कथा की पृष्ठभूमि में गंभीर दर्शन छिपा है। उदाहरणार्थ सरिता माँ पदार्थ की शाश्वत

सत्ता को अभिव्यक्त करती है। माटी क्षमा और सहिष्णुता का प्रतीक है, गधा भारवाहिता का, कंकर वर्णसंकर का, बाल्टी अथाह ज्ञानसागर से कुछ बिन्दु निकालने का साधन-प्रतीक है, मछली मिथ्यादृष्टि से ग्रस्त व्यक्ति का, काँटा आपत्ति का, सिंह और श्वान जीवन-पद्धति का, कछुआ और खरगोश साधना-विधि का, और मच्छर-मत्कुण धनी-मानी का प्रतीक है। इन प्रतीकों के माध्यम से ही कथा सूत्र जुड सके है और जीवन के नये तथ्य उजागर हुए है।

जहाँ तक भाव-व्यञ्जना का प्रश्न है, वह तो पन्ने-पन्ने में से टपक रही है। महाकाव्य का प्रारम्भ ही प्राकृतिक चित्रण से हुआ है। कवि को वस्तुत प्रकृति से सर्वाधिक प्रेम है। वह चाहे मिट्टी की यात्रा हो या सरिता का प्रवाह, प्रभाकर का गमन हो या बादलों की छटपटाहट, सागर का तट हो या वनोपवन का परिसर, सर्वत्र कवि ने अपनी नई-नई कल्पनाओं का उद्भावन किया है, जिन्हें हम पहले ही उद्धृत कर चुके है।

संवाद की दृष्टि से भी महाकाव्य उत्कृष्ट कोटि का है। सपूचा महाकाव्य सवादों से भरा पडा है। सरिता और मिट्टी, काँटा और फूल, रसों का पारस्परिक कथन, मिट्टी और शिल्पी, प्रभाकर और बदली, पुष्प और पवन, शिल्पी और बबूल, कुम्भ और कुम्भकार, श्रीफल और पत्र, स्वर्ण और माटी -कलश, आदि सभी पात्रों के बीच संवाद और कथोपकथन आद्योपान्त चलते रहते है। ये सारे संवाद बडे मार्मिक और प्रभावक है। कथासूत्र का ध्यान रखने पर उनमें अप्रासंगिकता नहीं झलकती। इतना ही नहीं, वे कथा-प्रवाह में सहयोगी बनकर भी सामने आते हैं।

शब्द - सौन्दर्य

आचार्यश्री शब्द साधना के तो अनन्य कलाकार हैं। उनका सारा काव्य अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलकारों से भरा पडा है। यदि इनको गिनाया जाये तो एक लम्बी लिस्ट हो जायेगी। शब्दों की तोडफोड और उनसे विविधार्थ निकालने में कवि को अधिक आनन्द आता है। जैसे —अवसान — अब + शान (पृ १), गुमराह —गम + आह, (पृ.१२), कुम्भकार (पृ. २८), याद —दया (पृ ३८), गधा —गदहा (पृ ४१), राही - हीरा (पृ.५७), राख - खरा (पृ.५७), आदमी - आ-द-मी (पृ. ६४), कृपाण —कृपा + न (पृ. ७३), कामना — काम + ना (पृ. ७७), शिव—शव (पृ.८४), शीतलता —शीत + लता (पृ.८५), लाभ—भला (पृ.८७), कम्बल —कम + बल (पृ.९२), शीत — शीला - शीतलीला (पृ. ९३), कायरता—काय + रता (पृ. ९४), नमन — न + मन (पृ.९७), राजसत्ता —

राजसत्ता (पृ.१०[illegible]), [illegible] — [illegible] + [illegible] (पृ.[illegible]), खोला दिया — खो + खा + दिया (पृ.१२२), किसलय - किस + लय (पृ.१४१), कसर — असर + सर (पृ १५१), परछम — [illegible] + [illegible] (पृ.१७४), मैं दो गला (पृ. १७५), उरु—उदर — गुरु दरारदार (पृ.१७७), नदी — दीन (पृ.१७८), रसना — ना + सर (पृ. १८१), जलधि - जड + धी (पृ.१९१), नारी — न अरि, न + आरी, (पृ.२०२), अबला — अब + ला (पृ.२०३), कुमारी — कु + मा + री (पृ २०४), स्त्री — स् + त्री (पृ २०५), सुता — सु + ता (पृ.२०५), दुहिता — दो + हिता (पृ.२०५), अंगना — अंग + ना (पृ.२०७), स्वप्न — स्व + प् + न (पृ २९५), परख (पृ.३०३), वरतन — वर + तन (पृ ३२३), पायस — पाय + सेना (पृ.३६४), का, ख, स (पृ.३९८), वैखरी (पृ ४०२), उरग (पृ ४३३), अपराधी — अपरा + धी (पृ ४७४-४७७), परा भव (पृ.२७२), कलशी — कल + शी (पृ.४१७), मदद — मद + द (पृ.[illegible]), आदि। इन सारे शब्दों की व्याख्या में दर्शन और अध्यात्म का स्वर मुखरित हुआ है। उदाहरण के तौर पर उरग की व्याख्या देखिए।

युगों युगों का इतिहास
इस बात का साक्षी है कि
इस वंश परम्परा ने
आज तक किसी कारणवश
किसी जीवन पर भी
पद नहीं रखा, कुचला नहीं ----
अपद जो रहे हम।
यही कारण है कि सन्तों ने
बहुत सोच-समझकर
हमारा सार्थक नामकरण किया है
उरग!
हाँ! हाँ!
हम पर कोई पद रखते
हमें छेड़ते --- तो ---
हम छोड़ते नहीं उन्हें।
जघन्य स्वार्थसिद्धि के लिए

किसी को पददलित नही किया हमने।
प्रत्युत, जो
पददलित हुए हैं
किसी भाँति
उर से सरकते-सरकते
उन तक पहुँचकर
उन्हें उर से चिपकाया है,
प्रेम से उन्हें पुचकारा है,
उनके घावों को सहलाया है। (पृष्ठ ४३३)

यह शब्दगत व्याख्या शब्दालकार की पृष्ठभूमि में दर्शन के विविध अंगो को स्पष्ट करती दिखाई देती है। इसे हम सभग पद श्लेष और सभग पद श्लेष वक्रोक्ति के आधार पर समझ सकते हैं जहाँ कवि ने श्लिष्ट शब्दों के अनेक टुकडे कर अनेक अर्थों का विधान किया है। उदाहरण के तौर पर देखिए —

१ निशा का अवसान हो रहा है।
उषा की अब शान हो रही है। (पृष्ठ १)

२ और, वह राही
गुमराह हो सकता है।
उसके मुख से
गम - आह निकल सकती है। (पृष्ठ १२)

३ मेरा नाम सार्थक हो प्रभु।
यानी
'गद' का अर्थ है रोग
'हा' का अर्थ है हारक
मै सबके रोगों का हन्ता बनूँ
----- बस
और कुछ वाँछा नहीं
गद - हा ----- गदहा ----। (पृष्ठ ४०)

४ आदमी वही है
जो यथायोग्य
सही आ ----दमी है। (पृष्ठ ६४)

५. कृपाण कृपालु नहीं हैं
वे स्वयं कहते हैं,
हम हैं कृपाण
हम में कृपा न। (पृष्ठ ७३)

६. यही मेरी कामना है कि
आगामी छोरहीन काल में
बस इस घट में काम ना रहे। (पृष्ठ ७७)

७. एक का जीवन
मृतक-सा लगता है
कान्तिमुक्त शव है,
एक का जीवन
अमृत-सा लगता है
कान्तियुक्त शिव है।
शव में आग लगाना होगा,
और
शिव में राग जमाना होगा। (पृष्ठ ८४)

८ हर्षों की वर्षा की है
तेरी शीतलता ने।
माँ शीत-लता हो तुम।
साक्षात् शिवायनी। (पृष्ठ ८५)

९ कम बल वाले ही
कम्बल वाले होते हैं। (पृष्ठ ९२)

१० मन के गुलाम मानव की
जो कामवृत्ति है
तामसता काय-रता है
वही सही मायने में
भीतरी कायरता है। (पृष्ठ.९४)

११. मन की छाँव में ही
मान पनपता है

मन का माथा नमता नहीं
न-'मन' हो, तब कहीं
नमन हो 'समण' को
इसलिए मन यही कहता है सदा -
नम न! नम न!! नम न!!! (पृष्ठ ९७)

१२ राजसत्ता वह राजसत्ता की
रानी - राजधानी बनेगी (पृष्ठ १०४)

१३ कर्तव्य के क्षेत्र में
कर प्राय कायर बनता है
कर माँगता है कर
वह भी खुलकर।
इतना ही नहीं,
मानवत्ता से घिर जाता है
मानवता से गिर जाता है (पृष्ठ ११४)

१४ इससे विपरीत शील है पाँव का
पाँव नता से मिलता है
पावनता से खिलता है। (पृष्ठ ११५)

१५ प्रकृति ने पुरुष को आज तक
कोरा धोखा दिया है
धोखा दिया, धोखा ही सही
यूँ बार-बार कह, उसे भी
पुरुष ने आँखों के जल से
धो, खा दिया। (पृष्ठ १२२)

१६. किसलय ये किसलिए
किस लय में गीत गाते हैं।
किस वलय में से आ
किस वलय में क्रीत जाते है। (पृष्ठ १४१)

१७. ईश्वर का उस पर गहरा असर भी है
पर, इतनी ही कसर है कि
वह असर सर तक ही रहा है
अन्यथा,
सर के बल पर क्यों चल रहा है,
आज का मानव? (पृष्ठ १५१)

१८ मर, हम, मरहम बने
यह इन चार शब्दों की
कविता मिलती है (पृष्ठ १७४)

१९ मै दो गला
इस से पहला भाव यह निकलता है कि
मैं द्विभाषी हूँ
अब इसका दूसरा भाव सामने आता है
मैं दोगला
छली, धूर्त मायावी हूँ। (पृष्ठ १२९)

२०. दशा बदल गई है
दशों दिशाओं की
धरा का उदारतर उर
और
उरु उदर ये
गुरु - *दरारदार* बने हैं। (पृष्ठ १७७)

२१ जलधि जडधी है
सागर मे परोपकारिणी बुद्धि का अभाव
जन्मजात है उसका वह स्वभाव। (पृष्ठ १९९)

२२ इसका सार्थक नाम है "नारी"
यानी
न अरि नारी ---
अथवा ये आरी नहीं
सो नारी। (पृष्ठ २०२)

२३. जो अव यानी
'अवगम' — ज्ञानज्योति लाती है
'अव' यानी
आगत —वर्तमान में लाती है
अबला कहलाती है वह
बला यानी समस्या संकट है
न बला सो ---- अबला।
समस्या शून्य समाधान। (पृष्ठ २०३)

२४ 'कु' यानी पृथिवी
'मा' यानी लक्ष्मी
और
'री' यानी देने वाली
इससे यह भाव निकलता है कि
यह धरा सम्पदा -सम्पन्न तब तक रहेगी
जब तक यहाँ कुमारी रहेगी (पृष्ठ २०४)

२५ 'स्' यानी सम - शील सयम
'त्री' यानी तीन अर्थ हैं
धर्म - अर्थ - काम - पुरुषार्थों में
पुरुष को कुशल सयत बनाती है
सो 'स्त्री' कहलाती है। (पृष्ठ २०५)

२६ 'सु' यानी सुहावनी अच्छाइया
और
'ता' प्रत्यय वह
भाव- धर्म, सार के अर्थ में होता है
यानी,
सुख - सुविधाओं का स्रोत सो
'सुता' कहलाती है
यही कहती हैं श्रुत - सूक्तियाँ। (पृष्ठ २०५)

२७. दो हित जिसमें निहित हों
वह 'दुहिता' कहलाती है
अपना हित स्वयं ही कर लेती है
पतित से पतित पति का जीवन भी
हित सहित होता है जिससे
वह दुहिता कहलाती है। (पृष्ठ २०५)

२८ अगना
मात्र अग ना हूँ ----
और भी कुछ हूँ मैं ----
अग के अन्दर भी कुछ
झाकने का प्रयास करो (पृष्ठ २०७)

२९ 'स्व' घन = स्वप्न
जो निज भाव का रक्षण नही कर सकता
वह औरों को क्या सहयोग देगा? (पृष्ठ २९५)

३० पर को तो *परख रहे* हो
अपने को तो परखो जरा। (पृष्ठ ३०३)

३१ तुम मे पायस ना है
तुम्हारा पाय सना है। (पृष्ठ ३६४)

३२ 'क' यानी आत्मा-सुख है
'ला' यानी लाना - देता है
कोई भी कला हो
कला मात्र से जीवन में
सुख- शान्ति -सम्पन्नता आती है। (पृ.३९६)

३३. श, स, ष
ये तीन बीजाक्षर हैं
'श' यानी कषाय का शमन करनेवाला
'स' यानी समता का साथी

समता का अजस्र स्रोत
'ष' होता है कर्मातीत। (पृष्ठ ३९८)

३४ 'वैखरी' या वैखली
सज्जन मुख से निकली वाणी
'वै' यानी निश्चय से
'खरी' यानी सच्ची है।
अथवा
'वै' या निश्चय से
'खली' यानी धूर्त - पापनी है
अथवा
'ख' का अर्थ होता है शून्य, अभाव।
शेष बचे दो अक्षरों को मिलाने पर
शब्द बनता है 'वैरी'
दुर्जनों की वाणी वह
स्व और पर के लिए
वैरी का ही काम करती है
अत उसे
वै-खली या वैरी
मानना ही समुचित है। (पृष्ठ ४०४)

३५ 'उरग'
जो पद-दलित हुए है
किसी भाँति
उर से सरकते-सरकते
उन तक पहुँचकर
उन्हें उर से चिपकाया है
प्रेम से उन्हें पुचकारा है,-
उनके घावों को सहलाया है। (पृष्ठ ४३३)

३६. अपराधी नहीं बनो
अपरा 'धी' बनो।

'पराधी' नहीं
पराधीन नहीं
परन्तु
अपराधीन बनो। (पृष्ठ ४७७)

३७. इन वैभव-हीन भव्यों को
भवों-भवों में
पराभव का अनुभव हुआ।
अब,
'पराभव' का अनुभव वह
कब होगा (पृष्ठ ३७२)

३८ ओ री कलशी।
कहाँ दिख रही है तू
कल --- सी ?
केवल आज कर रही है
कल की नकल-सी।
तू रही न कलशी
कल - सी !
कल-सी कमनीयता कहा है वह
तेरे गालों पर।
लगता है, अधरों की वह
मधुरिम सुधा
कहीं-गई --- है निकल-सी।
अकल के अभाव में
पड़ी है काया अकेली
कला-विहीन विकल-सी
छोटी-सी ले शकल-सी। (पृष्ठ ४१७)

३९ मित्रों से मिली मदद
यथार्थ में मद-द होती है
जो विजय के पथ में बाधक
अन्धकार का कार्य करती है। (पृष्ठ ४६०)

४०. 'कु' यानी धरती
और
'भ' यानी भाग्य-
यहाँ धरती पर जो
भाग्यवान भाग्य-विधाता हो
कुम्भकार कहलाता है।
यथार्थ में
प्रति-पदार्थ वह
स्वय-कार होकर भी
यह उपचार हुआ है
शिल्पी का नाम
कुम्भकार हुआ है।

इसी तरह वर्ण-विपर्यय अथवा विलोम के माध्यम से शब्दों के पीछे छिपा दर्शन भी समझा जा सकता है। उदाहरणत

१) स्व की याद ही
स्व-दया है
विलोम रूप से भी
या - - द - - द - - या - - । (पृष्ठ ३८)

२) राही बनना ही तो
हीरा बनना है,
स्वयं राही शब्द ही
विलोम रूप से कह रहा है - - -
रा - - - ही - - - ही - - - रा
तन और मन को
तप की आग में
तपा-तपा कर
जला-जला कर
राख करना होगा
तभी कहीं चेतन-आत्मा

खरा उतरेगा
राख बने बिना
खरा दर्शन कहाँ
रा – – – ख – – – ख – – – रा (पृष्ठ ५७)

३) वातानुकूलता हो या न हो
वातानुकूलता हो या न हो
सुख या दुःख के लाभ में भी
भला छुपा हुआ रहता है। (पृष्ठ ८७)

प्राकृतिक चित्रण

कवि शब्दों का कुशल खिलाडी तो है ही, पर उसकी कल्पना-शक्ति भी बेजोड है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा जैसे कल्पना प्रधान अलकार और अनुप्रास, यमक जैसे शब्दालकारो की छटा ने काव्य मे कवित्व की सुन्दर स्थापना की है। ये अलकार मात्र शब्द-साधना तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उनके पीछे एक स्वस्थ दर्शन प्रस्फुटित होता दिखाई देता है। काव्य के प्रारम्भ का भाग ही देखिए, जिसमें प्रात काल का वर्णन अनुपम कल्पना-प्रसूत और रससिद्ध है —

भानु की निद्रा टूट तो गई है
परन्तु अभी वह
लेटा है
माँ की मार्दव गोद में,
मुख पर अचल लेकर
करवटे बदल रहा है।

प्राची के अधरों पर
मन्द मधुरिम मुस्कान है
सर पर पल्ला नहीं है
और
सिन्दूरी धूल उडती-सी
रगीन-राग की आभा -
भाई है, भाई ----- ।

लज्जा के घूंघट मे
डूबती-सी कुमुदिनी

प्रभाकर के कर-छुवन से
बचना चाहती है वह
अपनी पराग को -
सराग मुद्रा को -
पखुरिया की ओट देती है। (पृष्ठ २)

माटी और ककर का लम्बा सवाद है जिसमें जीवन का दर्शन प्रतिफलित हुआ है और राह, राही, हीरा, राख, खरा आदि शब्दों की मीमासा भी कल्पना मण्डित, पर सार्थकता लिये हुए है -

तन और मन को
तप की आग मे
तपा-तपा कर
जला-जला कर
राख करना होगा
यतना घोर करना होगा
तभी कहीं चेतन-आत्मा
खरा उतरेगा।
खरा शब्द भी स्वय
विलोम रूप से कह रहा है -
राख बने बिना
खरा दर्शन कहाँ।
रा--ख--ख--रा
आशीष के हाथ उठाती-सी
माटी की मुद्रा
उदार समुद्रा।

इसीप्रकार एक और प्राकृतिक वर्णन देखिए जहाँ कवि की मनोहारी कल्पना सार्थक शब्दों में झलकी है। उसे तरुवर छत्ता ताने दिखाई देते हैं और हरी-भरी धरती पर छाया ने दरी बिछाई लगती हैं। फलफूल मुस्काते और लतिकायें निमन्त्रित करती-सी लगती हैं। मानवीयकरण का यह अच्छा उदाहरण है -

उत्तु ग-तम गगन चूमते
तरह-तरह के तरुवर
छत्ता ताने खड़े हैं,

श्रमहारिणी धरती है
हरी-भरी लसती है
धरती पर छाया ने दरी बिछाई है।
फूलों फलों पत्रों से लदे
लघु-गुरु गुल्म गुच्छ
श्रान्त-श्लथ पथिकों को
मुस्कान-दान करते-से
आपाद-कण्ठ पादपों से लिपटी
ललित लतिकायें वह
लगती हैं आगतों को बुलाती-लुभाती-सी
और अविरल चलते पथिकों को
विश्राम लेने को कह रही हैं। (पृष्ठ ४२३)

रसिक कवियों ने वसन्तादि ऋतुओं का वर्णन कामोद्दीपन की पृष्ठभूमि में किया है, परन्तु आचार्यश्री ने अपनी आध्यात्मिकता का आरोपण प्रकृति के हर तत्वो के साथ पूरे मनोभाव से किया है। महाकाव्य का कोई भी कोना कवि की आध्यात्मिक दृष्टि से खाली नही रह पाया। उस दृष्टि में फिर भोग यहीं पडे रहते हैं, और योगी आगे चला जाता है, वासना की गन्ध न उसके तन में है, न वसन में, वरन् माया से प्रभावित मन में है। इसलिए कवि देखता है -

वसन्त का भौतिक तन पड़ा है
निरा हो निष्क्रिय, निरावरण,
गन्ध शून्य शुष्क पुष्प-सा,
मुख उसका थोड़ा-सा खुला है,
मुख से बाहर निकली है रसना
थोडी-सी उलटी-पलटी,
कुछ कह रही-सी लगती है -
भौतिक जीवन मे रस ना।
और
र--स--ना, ना--स--र
यानी वसन्त के पास सर नहीं था
बुद्धि नहीं थी हिताहित परखने की,
यही कारण है कि
वसन्त-सम जीवन पर
सन्तों का ना-असर पड़ता है। (पृष्ठ १८०-८१)

साधु रूप का विश्लेषण करते समय कवि को न जाने कितनी उपमायें ध्यान में आती गईं। उन सभी उपमाओं से उसने साधु के विशुद्ध स्वरूप को प्रस्तुत कर दिया है। प्रभातकालीन भानु (ज्ञान) की आभा से उसमें नयी उमग-नयी तरग, नयी ऊषा, नयी शरण, नयी खुशी, नयीं गरीयसी आयी है। क्या-क्या नया रूप मिला है देखिये उसे । उसमे आपको नया सिंचन, नये चरण, नया राग, नये भाव, नया मगल, नया जगल, नया योग, नया करण आदि सब कुछ नया परिवर्तन लिए हुए साधु दिखाई देगा। (पृष्ठ २६३-२६४) ऐसा ही साधु पाप प्रपच से मुक्त, पदयात्री, पाणिपात्री होता है। अपने प्रति वज्रसम कठोर, पर दूसरे के प्रति नवनीत जैसा मृदु होता है। तथा -

पाप-प्रपच से मुक्त, पूरी तरह
पवन-सम नि.सग
परतत्र-भीरु
दर्पण-सम दर्प से परीत
हरा-भरा, फूला-फला
पादप-सम विनीत ।
नदी-प्रवाह-सम लक्ष्य की ओर
अरुक, अथक---गतिमान । (पृष्ठ ३००)

भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से मूकमाटी एक अभिनव विधा है। रूपक से भरे सारे पात्र अपनी-अपनी बात बडी खूबी से कहते चले जाते हैं और कथा आगे बढती जाती है। कवि मानवता की स्वतत्रता का पोषक है वह स्वतत्रता जिसमें आत्मज्ञान का दीपक जलता है और पर पदार्थों की परतत्रता समाप्त हो जाती है, मानव हृदय सुसस्कृत और परिष्कृत हो जाता है। जहाँ यह परिवर्तन नही हो पाता, वहाँ व्यक्तिवाद, प्रतिस्पर्धा, अर्थसग्रह, उपनिवेशवाद, कलह, आतकवाद आदि वस्तुवादी मूल्य मानवीय मूल्यो को आच्छादित कर देते हैं। इन सारे तत्वों का सुन्दर विश्लेषण आचार्यश्री ने अपने इस अनोखे दार्शनिक काव्य मे किया है।

आतंकवाद और धनतन्त्र

आतकवाद और धनतत्र जब शिर पर बोलने लगते हैं, तब गणतत्र का उपहास होना शुरु हो जाता है। वहाँ निरपराधी पिट जाते हैं और अपराधी बच जाते हैं (पृष्ठ २७१)। आतकवाद हिसा, अधर्म और लूटपाट पर जीता है। वह निष्कारण और क्रूर होता है। जब तक वह रहेगा, धरती शान्ति पूर्वक रह नहीं सकती। कवि की दृष्टि में यह आंतक भले ही राग-द्वेष का रहा हो, पर भौतिकता के साये में

वह आज के आतकवाद से कम नहीं है। इसलिए संत कवि उसे दूरकर संसार रूपी नदी को पार करने का दृढ सकल्प किये बैठे हैं -

जब तक जीवित है आतकवाद
शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह,
ये आँखें अब
आतकवाद को देख नहीं सकती
ये कान अब
आतक का नाम सुन नहीं सकते,
यह जीवन भी कृतसंकल्पित है कि
उसका रहे या इसका
यहाँ अस्तित्व एक का रहेगा
अब विलम्ब का स्वागत मत करो
नदी को पार करना ही है। (पृष्ठ ४४१)

सत कवि आतंकवाद को समाप्त करने का मार्ग बताता है समाजवाद की स्थापना। वह समाजवाद नहीं, जिसमें नारो के अलावा कुछ न हो बल्कि वह समाजवाद है, जिसमें प्रशस्त आचार-विचार हो। धनसंग्रह नहीं, जन सग्रह हो और धनहीनों में समुचित वितरण हो, अन्यथा उनमें चोरी करने का भाव जागेगा और आतकवाद का विस्तार होगा। चोरो की अपेक्षा चोरों को पैदा करनेवाले अधिक पापी होते हैं। आज के आतकवाद पर यह एक मार्मिक टिप्पणी है।

कुल मिलाकर अर्थ यह हुआ कि
प्रचार-प्रसार से दूर
प्रशस्त आचार-विचारवालों का
जीवन ही समाजवाद है।
समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से
समाजवादी नहीं बनोगे। (पृष्ठ ४६१)

अब धनसग्रह नहीं
जनसंग्रह करो।
और
लोभ के वशीभूत हो
अंधाधुंध संकलित का
समुचित वितरण करो

अन्यथा
धनहीनों में
चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं। (पृष्ठ ४६८)

आतकवाद की जैसी स्थिति है वैसी ही आजकल उन तथाकथित धार्मिकों की है जो स्वयं तो पथ पर चलना नही चाहते पर औरों को चलाना चाहते हैं। ऐसे चालको की सख्या अनगिन है। सत कवि को उनकी इस आचरण-प्रक्रिया पर आश्चर्य और दु ख है (पृष्ठ १५२)। धनिक भी लगभग उसी श्रेणी में आ जाते हैं। उनके पास रहने से कुछ मिलता नहीं, यदि मिल भी जाता है तो वह काकतालीय न्याय है -

अरे, धनिकों का धर्म दमदार होता है,
उनकी कृपा कृपणता पर होती है,
उनके मिलन से कुछ मिलता नहीं,
काकतालीय न्याय से
कुछ मिल भी जाय
वह मिलन लवण-मिश्रित होता है
पल मे प्यास दुगुनी हो उठती है। (पृष्ठ ३८५)

ममतामयी माँ

सत कवि बडे सहदय और नेक प्रकृति के हैं। उन्हें माँ के प्रति अपार ममता और सम्मान है, धरती उनके लिए सब कुछ है। काव्य का प्रारभिक भाग धरती मां से ही प्रार भ होता है। कवि को उस धरती माँ में हदयवती चेतना का दर्शन हो रहा है, उसके निश्छल विशाल भाल पर आत्मीयता और गभीरता दिखाई दे रही है। (पृष्ठ ६)। तभी तो वह सतान की सुसुप्त शक्ति को जागृत करने पर ही अपनी सार्थकता मानती है। (पृष्ठ १४८)। शायद इसीलिए समूचे नारी वर्ग से उन्हें हमदर्दी है, आदर है। इसीलिए परपरागत नारी के पर्यायार्थक शब्दो का आलोचनात्मक अर्थ न कर उनकी प्रशसात्मक व्याख्या की है। (पृष्ठ २०२-२०९)। कवि की यह भी अवधारणा है कि पुरुष में जो भी क्रियायें-प्रतिक्रियायें होती हैं उनका अभिव्यक्तिकरण नारी पर ही आधारित है। नारी के बिना पुरुष अधूरा है। उसमें वासना नहीं, सुवास है। पुरुष उसकी पवित्रता को दूषित करता है। फिर भी वह पावस बरसाती है, उसका पथ-प्रशस्त करती है। (पृष्ठ ३९३-३९४)।

रूपक तत्त्व

माटी जैसी उपेक्षित जड़ वस्तु का आधार लेकर कवि ने रूपक के माध्यम से यह उद्घाटित करने का यथाशक्य प्रयत्न किया है कि ससार के प्रत्येक पदार्थ में ऊपर उठने की क्षमता है, उसमें उपादान शक्ति है, बस उसे किसी निमित की आवश्यकता है, जो उसे ऊपर उठाने में कारण बन सके । हा, पूरी इस जीवन प्रक्रिया में, साध्य और साधन में, यथार्थ पवित्रता होनी चाहिए । पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति में बाधायें आ सकती हैं, पर उनके समक्ष किसी को घुटने नही टेकना चाहिए । कवि को आश्चर्य है कि आज के मानव पर इसका असर क्यों नहीं हो रहा है, व्यक्ति चरित्र से दूर क्यों चला जा रहा है ? (पृष्ठ १५१-१५२)। माटी से कुम्भ और मगलकलश तक की यात्रा 'मूक माटी' महाकाव्य का वर्ण्य विषय है । उपादान और निमित्त के दर्शन को स्पष्ट करना ही इस काव्य का लक्ष्य रहा है । इससे ईश्वर को सृष्टिकर्ता, सुख-दुख दाता आदि माननेवाली विचारधारा का खण्डन स्वयमेव हो जाता है । इसी के साथ ही सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और शैक्षणिक जगत में व्याप्त कुरीतियों को निर्मूल करना भी इसका अभिधेय रहा है । कवि ने स्वय सशक्त शब्दों में यही सब यथाकार और तथाकार बन जाने की आकाक्षा में अभिव्यक्त किया है--

मैं यथाकार बनना चाहता हूँ
व्यथाकार नहीं ।
और,
मैं तथाकार बनना चाहता हूँ
कथाकार नहीं ।

इस लेखनी की भी यही भावना है -
कृति रहे, सस्कृति रहे
आगामी असीमकाल तक
जागृत---जीवित---अजित । (पृष्ठ २४५)

काव्य की भाषा सस्कृतनिष्ठ और विषयानुसार प्रयोगित हुई है । कवि की मातृभाषा हिन्दी न होने पर भी उसका इतनी मनमोहक हिन्दी भाषा में काव्य का सृजन एक विशिष्ट अभिनन्दनीय कदम है । निर्मुक्त छन्द में रचित होने पर भी उसकी रसात्मकता में कमी नहीं आयी । कवि की धारणा है कि शान्तरस के बिना काव्य वैसे ही लगता है जैसे शीतल चन्द्रिका से विरहित रात होती है या बिन्दी से विरहित अबला होती है । (पृष्ठ ३५१) इसीलिए समीक्षात्मक दृष्टि से देखा जाये तो प्रस्तुत महाकाव्य का प्रधानरस शान्तरस ही है । आध्यात्मिकता और

दार्शनिकता इसकी मूल उद्‌भावना है। इसीलिए इसे कवि ने स्वयं मौलिक और अलौकिक काव्य कहकर सबोधित किया है -

मृदुता का मोहक स्पर्शन
यह एक ऐसा
मौलिक और अलौकिक
अमूर्त दर्शक काव्य का
श्रव्य का सृजन हुआ
इसका सृजक कौन है वह
कहाँ है, .
क्यों मौन है वह ?
लाघव-भाव वाला नरपुंगव,
नरपों का चरण हुआ। (पृष्ठ ४३६)

डॉ पुष्पलता जैन का यह कथन अक्षरश सत्य प्रतीत होता है मौलिकता के आलोक में कि हिन्दी साहित्य मे छायावादी कवि प्रसाद की **कामायनी**(१९३५ ई) युगचारण दिनकर की **उर्वशी** (१९६१ ई) तथा लोकमगल के वंशीवादक सुमित्रानदन पत का **लोकायतन**(१९६४ ई) ये तीनो काव्य अध्यात्म-प्रबन्धत्रयी के रूप में प्रस्थापित हुए हैं। चेतना के स्व-पर उन्नायक आचार्य विद्यासागरजी ने इसके बाद अपनी अनूठी आध्यात्मिक कृति 'मूक माटी'(१९८८ ई.) की रचना कर उक्त प्रस्थानत्रयी की मणिमाला में एक और अपरिमित ज्योतिर्मयी मणि को गुम्फित कर दिया है। इस सुन्दर आकलन को हिन्दी साहित्य अपनी धरोहर के रूप मे सदैव एक दीपस्तभ मानता रहेगा। (मूकमाटी अधुन्नातम आध्यात्मिक रूपक काव्य, तीर्थंकर, दिसम्बर १९९० पृष्ठ २७)

श्रीपती जैन ने इसे रूपक काव्य कहा है। मै इसमें दार्शनिक विशेषण और जोड देना चाहूँगा। अमूर्त भावो और सवेदनाओं को अभिव्यक्त करने में जब भाषा विराम लेने लगती है, तब कवि रूपक और प्रतीको का आश्रय लेता है। साधारणत रूपक और प्रतीक में कोई विशेष अतर नहीं दिखाई देता। पर बारीकी से देखने पर यह अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि रूपक में उपमान-उपमेय की अभिन्नता तथा तद्रूपता रहती है पर प्रतीक में उपमान-उपमेय (प्रस्तुत-अप्रस्तुत) की सत्ता नहीं रहती। वहाँ तो उपमान में उपमेय अन्तर्भूत होकर उपमान ही प्रतीक की स्थिति को स्पष्ट करता है। इसके बावजूद इतनी गहराई में जाये बिना इतना तो कहा जा सकता है कि माटी एक प्रतीक बनकर कवि की दृष्टि में सदैव बनी रही है जो इस तथ्य को उद्‌घाटित करती है कि यदि अनुकूल निमित्त मिल जाये तो व्यक्ति अपने चरम आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है।

आचार्यश्री ने मृदु माटी के कथा-रूपक द्वारा प्रतीकीकरण कर जिस शाश्वत सत्य को अभिव्यक्ति किया है वह अनुभूतिपरक है और एक विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना से आपूर है। उसमें उन्होंने मानवीयकरण का आरोपण कर तादात्म्य स्थापित कर दिया है और जड तथा चेतन को अध्यात्म तत्त्व के सूत्र में बाँध दिया है। अनुभूति की प्रांजलता ने काव्य को इतना साकार कर दिया है कि साधारणीकरण की पुनीत सरिता में अवगाहन किये बिना कोई सहृदय पाठक रह नहीं सकता। भावात्मक और साधनात्मक तत्त्वों के सुन्दर समन्वय ने काव्य को और भी गौरवान्वित कर दिया है। लोकोत्तर अनुभूति भी उसमें प्रतिबिम्बित होती हुई दिखाई देती है।

प्रतीक-विधान

जब प्रतीक की बात आती है तब यह भी ध्यातव्य है कि मूक माटी के प्रतीक एकदम निराले हैं। जायसी के अधिकाश प्रतीक - सूर, साकी, सुरा आदि शुद्ध इस्लामी हैं। मीरा और सूर के प्रतीक प्रेम-भक्ति से सम्बद्ध हैं - चकई, मीन, पतग आदि प्रेम की व्यजना करते हैं। बिहारी, मतिराम, केशव, सेनापति आदि रीतिकालीन कवियों ने चपक, मालती, चदन, अशोक, कमल, आदि वृक्षों और पौधों में कलात्मकता का रूप देखा है। प्रसाद, पन्त जैसे आधुनिक कवियो के प्रतीकों ने रचनात्मकता को और आगे बढाया है। पर आचार्यश्री विद्यासागरजी के मछली, बाल्टी, रस्सी आदि प्रतीको में जो पैनी और गभीर दृष्टि भरी है जीवनदर्शन के सूत्रों के साथ, वह अन्यत्र दिखाई नही देती। उपनिषदिक प्रतीको में बिम्बग्रहण की प्रवृत्ति अवश्य देखी जाती है पर जिस विस्तृत भावभूमि का स्पर्श मूक माटी के प्रतीकों में होता है, वह वहाँ भी अनुपलब्ध है।

ये प्रतीक व्यक्ति के आत्मनिर्माण की भावना को ऊपर उठाने में बडी मदद करते हैं। चिदानन्दानुभूति की पृष्ठभूमि में कल्पनाओं में भी स्व-पर चेतना का जागरण सूत्र भरा हुआ है यहाँ। सत्य, शिव, सुन्दरम् की पृष्ठभूमि में इस काव्य के ज्ञानवाद ने प्रगतिवाद की भावभूमि को एक नया ही आध्यात्मिक दर्शन दिया है जो जीवन-निर्माण की दिशा में अधिक मूल्य-परक बन जाता है। दार्शनिक विचारणा के उन्मेष को संस्कृतनिष्ठ भाषा शैली ने और भी आकर्षित बना दिया है।

कवि ने वस्तुतः बिम्बों-प्रतीकों के माध्यम से पाठक की ज्ञान-पिपासा को और भी कुरेद दिया है, समरसता को जन्म दिया है, और जीवन के परम सत्य को सामने खोलकर रख दिया है। उन प्रतीकों में वास्तविकता झाँकती है, शब्द नये-नये

मायने पा लेता है, इतिहासबोध गतिशील हो जाता है, और सृजनशील व्यक्तित्व की निर्माण-प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। 'मूक माटी' के अध्ययन से कभी-कभी तो ऐसा लगता है जैसे आचार्यश्री सांकेतिकता और प्रतीकात्मता के माध्यम से व्यक्ति को आत्मालोचन की ओर प्रेरित कर रहे हैं। आतंकवाद कहीं जीवन के स्वच्छन्द विलास और वैभव की कहानी तो नहीं कह रहा है ? समाजवाद की परिभाषा में जीवन की असमानता और समता विहीन पृष्ठ तो अंकित नहीं है? तथ्य तो यह है कि आधुनिक जीवन की विषमताओं से भरे समाज को आध्यात्मिकता, लोक सेवा और विश्वबन्धुत्व की ओर उन्मुख करना इन प्रतीको के प्रयोग के पीछे कवि का लक्ष्य रहा है।

निराला से भी आगे बढकर कवि ने शब्द विन्यास को एक नई अर्थवत्ता दी है, जिससे उसकी चित्रात्मकता प्रदान करने वाली प्रतिभा का पता चलता है। अज्ञेय की अचेतन शब्द-शिल्पिता से भी कवि की शब्दशिल्पिता अधिक जानदार है। तारसप्तक के कवियों में दर्शन शब्द के पीछे चलता है, जबकि मूक माटी के कवि में दर्शन शब्द के आगे अपने को प्रस्थापित करता है। समूची कृति में कही भी निराशावादिता हावी नही हो सकी। कवि की आस्था और आशा जीवन के बदले हुए सुन्दर पडाव की ओर दृष्टि जमाये हुए है, जहाँ विद्रोही सकल्पनायें अन्तिम सास लेने लगती है, कुठाये अस्तित्वहीन बन जाती है और आध्यात्मिकता सजग हो जाती है। कवि चूकि समष्टि-सत्य का द्रष्टा है, वह व्यक्ति को त्रासदी से निकालकर नई सम्भावना के क्षितिज पर खडा कर देता है, व्यक्ति की प्रकृति पर उसे गहरी आत्मीयता है, द्वन्द्व भरी चेतना को परखने की दृष्टि है, जीवन मूल्यों को ऊष्मा प्रदान करने की क्षमता है, आध्यात्मिक शिखर पर प्रतिष्ठित होने/करने की योग्यता /पात्रता है। इसलिये उसका काव्य नैतिक जागरण का काव्य है, आत्मचेतना को जागृत करने वाला काव्य है, जीवन के प्रति अटूट आस्था -दर्शन भरा काव्य है।

कवि के साहित्य में सम्पूर्ण जीवन की चेतना और ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, "मूक माटी"अपने सारे क्रियाकलापों में उस चेतना को समेटे हुए है। वहीं सवेदनात्मकता प्रतिबिम्बित होती है, सौन्दर्यानुभूति का संस्पर्शन होता है और सामने खडी हो जाती हैं जीवन की वे वास्तविकतायें,जो समन्वित और संशोधित मार्जन की अपेक्षा करती हैं। वहीं आत्मसघर्ष का विवेचन-विश्लेषण है, कलात्मक सौन्दर्य का परिपाक है, गहरी सामाजिक दृष्टि की अर्थवत्ता से सयोजन है।

इसलिए काव्य सृजन में और उसके प्रतीकों-बिम्बों में मौलिकता, प्रामाणिकता और गहन संवेदना भरी हुई है। इसे हम एक सम्यग्दृष्टि-सम्पन्न श्रमण

की जटिल जीवन - प्रक्रिया का जीवन्त दस्तावेज भी कह सकते हैं, जहाँ जीवन, जगत और काव्य की समन्वित त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है और साधारणीकरण का जीता -जागता रस छलक रहा है।

"मूक माटी" में आचार्यश्री ने जैनदर्शन को सृजनात्मक स्वर देने का सफल प्रयत्न किया है। उनकी सृजन प्रक्रिया बाह्य यथार्थ की अभ्यन्तरीकरण प्रक्रिया है जो स्वानुभव और स्वानुचिन्तन पर आधारित है। कवि ने युग जीवन के वैषम्य को देखा-समझा-परखा है, नैतिक सकट की उसे जबर्दस्त अनुभूति हुई है। इसलिये उसकी सृजनशील प्रतिभा से मूक माटी जैसा प्रतीकात्मक रूपक दार्शनिक महाकाव्य का सृजन हो सका है।

काव्य-बिम्ब विधान

काव्य-बिम्ब एक प्रकार से शब्द-चित्र है, जो भावुकता, बौद्धिकता अथवा ऐन्द्रियता से सबद्ध होते है। उनसे अनुभूति में तीव्रता आती है और काव्य प्रभावशाली बन जाता है। 'मूक माटी' में प्रारभ से ही प्रकृति चित्रण में अचेतन पर चेतन क्रियाओं का आरोपण कर बिम्बों का निर्माण बडे प्रभावक ढग से हुआ है। प्राकृतिक पदार्थ ही बिम्ब-विधान की सामग्री का मुख्य स्रोत है जिसका उपयोग कवि ने बखूबी किया है। भानु, धूल, आभा, उषा, कुमुदिनी, सरिता, धरती, भूमण्डल, ओला-वृष्टि, पर्वत आदि द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य को अच्छा विस्तार मिला है। मूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत, अमूर्त प्रस्तुत के लिए मूर्त प्रस्तुत, अमूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत तथा मूर्तामूर्त रूप अप्रस्तुतों का विधान होने से बिम्बात्मकता और अधिक प्रभावी बन जाती है। सज्ञा और क्रिया में विशेषण लगाकर और विशेषण-विपर्यय पद्धति का आधार लेकर बिम्ब-विधान सिद्ध किया गया है।

प्रतीक-विधान बिम्ब-विधान के काफी निकट दिखाई देता है, पर सूक्ष्मता से विचार करने पर उनके बीच भेद स्पष्ट हो जाता है। प्रतीक में उपमा मूलक अलंकारों (उपमा, रूपक, अन्योक्ति आदि) से समानता है अवश्य, पर अन्तर यह है कि प्रस्तुत या वर्ण्य वस्तु का महत्त्व उपमा मूलक अलकारों में अक्षुण्ण रहता है, जबकि प्रतीक में अप्रस्तुत या प्रतीयमान अर्थ ही मुख्य हो जाता है। बिम्ब अभिधात्मक हो सकते हैं, पर प्रतीक नहीं। प्रतीक में बिम्ब की अपेक्षा अभिव्यंजना शक्ति अधिक सशक्त होती है। 'मूक माटी' के प्रतीक भी गहरी अभिव्यंजना व्यक्त करते है। माटी, कुम्हार, बाल्टी,

मछली आदि सभी पात्र प्रतीक के रूप में कोई न कोई विशेष सन्देश देते है। छायावादी, प्रगतिवादी आदि कवियों द्वारा प्रयुक्त प्रतीको की तुलना के लिये 'मूक माटी' में कोई विशेष प्रतीक नही हैं, क्योंकि उनका कथ्य बिलकुल भिन्न है। कबीर को भी माटी से अधिक स्नेह रहा है। उन्होंने माटी और कुम्हार के बीच एक सवाद स्थापित किया है, जो 'मूक माटी' की पृष्ठभूमि में स्मरणीय है —

"माटी कहे कुम्हार से तू क्यों रूँधे मोय।
एक दिन ऐसा आयेगा, मै रूँधूगी तोय"

अलंकार विधान

अलकारों का सहज प्रयोग काव्य के कथ्य और संप्रेष्य को सरल बना देता है। अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति आदि शब्दालकार चमत्कार मूलक होते है। इनमें अनुप्रास भाषा को मधुर और सगीतमय बना देता है और यमक शब्दचित्र को प्रस्तुत करता है। 'मूक माटी' में ये दोनों अलकार भरे पडे है। प्रसाद, पन्त, निराला से भी अधिक इनका प्रयोग 'मूक माटी' के कवि ने किया है। जहाँ तक अर्थालकारों के प्रयोग की बात है, उसमें अप्रस्तुत योजना अधिक लोकप्रिय रही है। यह औपम्यमूलकता प्रारभ मे तो परम्परागत उपमानों के साथ चलती रही पर द्विवेदी युग के बाद नये-नये उपमानों ने जन्म लिया और साठोत्तरी कविता तक आते-आते तो उनमें बाढ-सी लग गई। 'मूक माटी' में भी यद्यपि परम्परागत या शास्त्रबद्ध उपमानों का प्रयोग नही हुआ है पर जो उपमान आये है उनमें वीतरागता ही नजर आती है। उदाहरणत रीतिकालीन कवि को बादल काजल के पहाड या हाथियों जैसे दिखाई देते है तो छायावादी कवियो को वे जलाशय में खिले हुये कमल, चौकडी भरते मृग, मदोन्मत्त वासवसेना, स्वर्ण हस, बन्दर आदि जैसे लगते है। मूकमाटी के कवि को उसमें ये सब नहीं दिखाई देता। उसे तो बदली बस साध्वी-सी लगती है और प्रभाकर की प्रभा उससे प्रभावित होती दिखती है तो प्रभाकर का प्रवचन प्रारभ हो जाता है (पृ १९९-२००)। मानवीकरण के ऐसे प्रयोग मूक माटी में बहुत प्रभावक सिद्ध हुए है। अन्य अर्थालकारों के प्रयोग भी सार्थकता लिये हुए हैं। शान्तरस ने उन्हें और भी सार्थक बना दिया है।

'मूक माटी' अलकार विधान की दृष्टि से सशक्त महाकाव्य है। उसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, श्लेष, अनुप्रास, प्रदीप, दीपक आदि अलकारों की भरमार है। कल्पना की गभीरता और अभिव्यक्ति की प्राजलता ने काव्य को और भी रमणीय और

रसात्मक बना दिया है। काव्य का प्रारम्भ ही उपमा और उत्प्रेक्षा से होता है। तृतीय खण्ड तक पहुँचते-पहुँचते उनमें और सघनता आ जाती है। उदाहरण के तौर पर —

वसुधा की सारी सुधा
सागर में जा एकत्र होती
फिर प्रेषित होती ऊपर ----
और
उसका सेवन करता है
सुधाकर, सागर नहीं
सागर के भाग्य में क्षार ही लिखा है।
"यह पदोचित कार्य नहीं हुआ —
मेरे लिए सर्वथा अनुचित है"
यूँ सोचकर चन्द्रमा को लज्जा-सी आती है।
उज्ज्वल भाल कलंकित हुआ उसका
अन्यथा,
दिन मे क्यों नहीं
रात्रि मे क्यों निकलता है घर से बाहर ?
वह भी चोर के समान - सशंक
छोटा-सा मुख छिपाता हुआ अपना --- ।
और
धरती से बहुत दूर क्यों रहता है ?
जबकि भानु
धरती के निकट से प्रवास करता है अपना ।।

(पृष्ठ १९१-२)

कवि की कल्पना है कि सागर का संकेत पाकर तीन बदलियाँ गागर भरकर सूर्य को प्रभावित करने निकल पडी है। देखिये ये कल्पनायें आपको कैसी लगती हैं —

सागर के संकेत पा
सादर सचेत हुई हैं
सागर से गागर भर-भर
अपार जल के निकेत हुई हैं

गजगामिनी भ्रम-भ्रामिनी
दुबली-पतली कटिवाली
गगन की गली में अबला-सी
तीन बदली निकल पडी हैं।
दधि-धवला साडी पहनें
पहली वाली बदली वह
ऊपर से
साधनारत साध्वी-सी लगती है।

रति-पति-प्रतिकूला-मतिवाली
पति-मति-अनुकूला-गतिवाली
इससे पिछली, बिचली बदली ने
पलाश की हंसी-सी साडी पहनी
गुलाब की आभा फीकी पडती जिससे
लाल पगतली वाली लाली-रची
पद्मिनी की शोभा सकुचाती है जिससे
इस बदली की साडी की आभा वह
जहाँ-जहाँ गई चली
फिसली-फिसली, बदली वहाँ की आभा भी
और/ नकली नहीं, असली
सुवर्ण वर्ण की साडी पहन रखी है
सबसे पिछली बदली ने।। (पृ १९९-२००)

राहु से ग्रस्त सूर्य कवि को कभी सिन्धु में बिन्दु-सा लगता है तो कभी माँ के गहन-गोद में शिशु-सा, कभी वह दुर्दिन से घिरा दरिद्र गृहस्थ-सा लगता है तो कभी तिलक विरहित ललना-ललाट-सा। इस सदर्भ में कवि ने अनेक कल्पनायें की हैं —

सिन्धु में बिन्दु-सा
माँ की गहन-गोद में शिशु-सा
राहु के गाल में समाहित हुआ भास्कर।
दिनकर तिरोहित हुआ --- सो
दिन का अवसान-सा लगता है

दिखने लगा दीन-हीन दिन
दुर्दिन से घिरा दरिद्र गृही-सा।
यह सन्ध्याकाल है या
अकाल में काल का आगमन
तिलक से विरहित
ललना-ललाट-तल-सम
गगनांगना का आँगन
अभिराम कहाँ रहा वह ?
दिशाओं की दशा बदली
जीर्ण-ज्वर-ग्रसित काया-सी।
कमल बन्धु नहीं दिखा सो -
कमल-दल मुकुलित हुआ
कमनीयता में कमी आई अक्रम --- ।
वन का, उपवन का जीवन वह
मिटता-सा लगता है,
और, पवन का पावन-सजीवन
लुटता-सा लगता है। (पृष्ठ २३८-३९)

इसप्रकार कवि की ढेर सारी कल्पनायें 'मूक माटी' मे देखी जा सकती हैं। सागर में विष का विशाल भण्डार क्यों मिलता है ? धरती सर्वंसहा क्यों होती है ? मेघमाला से मुक्ताओं की वर्षा क्यों होती है ? सागर में बड़वानल क्यों उत्पन्न होता है ? प्रभाकर दिनभर क्यों भटकता है ? राहु-ग्रस्त सूर्य कैसा लगता है ? आदि प्रश्नों का समाधान सुन्दर कल्पनात्मक ढग से किया है। श्लेषादि अलकारों के विषय में हम यथास्थान कह ही चुके हैं। उनकी पुनरुक्ति यहाँ अनावश्यक लगती है। कथ्य और तथ्य नामक परिवर्त में हम विस्तार से इस विषय को ले चुके हैं।

अलकार के साथ रस-विधान भी सम्बद्ध है। तृतीय परिवर्त में इस विषय पर भी हम यहाँ विस्तार से लिख चुके हैं। कवि मिट्टी से आजानु सने शिल्पी के वर्णन के प्रसग में उसे विविध रूप से देखता है और उसी दृष्टि में वह वीर, हास्य, रौद्र, भयानक, श्रृगार, वीभत्स, करुणा, वात्सल्य और शान्तरस के स्वरूपों पर गंभीरता से विचार करता है। उसकी विचारधारा के अनुसार करुणा और वात्सल्य रसों का

अन्तर्भाव शान्तरस में हो जाना चाहिए पर शान्तरस का अन्तर्भाव करुणा अथवा वात्सल्यरस में नही माना जा सकता। इस विषय में विस्तार से हम यथास्थान उन सारे तर्कों को प्रस्तुत कर चुके हैं। पाठक वहीं देख सकते हैं।

छन्द-विधान

कविता की वाचकता छन्द बिना नहीं हो पाती। द्विवेदी युग तक सस्कृठ के वर्णिक और मात्रिक छन्दो का प्रयोग होता रहा, पर धीरे-धीरे प्रसाद, पन्त, निराला आदि छायावादी कवियों तक आते-आते उनके प्रयोग में कमी होती गई। छायावादोत्तर काल में दिनकर को छोडकर प्राय सभी महत्वपूर्ण कवियों ने परम्परागत छन्दो पर आधारित नये छन्दों या मुक्त छन्द में अपनी काव्य-रचना की है। बाद मे मात्रिक छन्दो ने गीतो में परिणत होकर नाना रूप धारण किये और नये- नये छन्दो का विकास हुआ अन्तर्वर्ती अनुप्रास और अन्त्यानुपास का प्रयोग भवानीप्रसाद मिश्र और श्रीकान्त वर्मा आदि जैसे कवियो ने प्रारभ किया। मुक्त छन्द कविता की वर्ण सख्या को अस्वीकार नही करता, पर बलाघात के अनुसार छन्द बनाये रखता है। गिरिजा कुमार माथुर ने मुक्त छन्द का पूरा विधान रचा है। मुद्रण-कला के प्रभाव ने कविता के छन्द पर और भी प्रभाव छोडा और बलाघात ने भी मूक माटी में ये सारे प्रयोग देखे जा सकते हैं। मूक माटी मूलत मुक्तक छन्द में रचित महाकाव्य है, जिसमें भाव, विषय और प्रसग के अनुकूल तुकान्त, अतुकान्त, दोहा, तथा अन्य पारम्परिक छन्दों को समाहित किया गया है। उदाहरणार्थ —

दोहा

पकज से नहीं पक से, घृणा करो अयि आर्य।
नर से नारायण बनो, समयोचित कर कार्य।। (पृष्ठ ५०-५१)
शरण,चरण हैं आपके, तारण-तरण जहाज।
भवदधि तट तक ले चलो, करुणाकर गुरुराज।। (पृष्ठ ३२५)

वसन्ततिलका

देते हुए श्रय परस्पर में मिले हैं
ये सर्व-द्रव्य पय-शर्करा से घुले हैं।
शोभे तथापि अपनें-अपने गुणों से
छोडे नही निज स्वभाव युगों युगों से।। (पृष्ठ १८५)

सम मात्रिक छन्द

काव्य में समान मात्राओं का प्रयोग हुआ है। कहीं आठ-आठ मात्रायें वाले छन्द हैं तो कही बारह-बारह, चौदह-चौदह और यहाँ तक कि सैंतीस-सैंतीस मात्राये वाले छन्द हैं। उदाहरणत २७-२७ मात्राओंका छन्द निम्न है —

चेतन की इस सृजन-शीलता का भान किसे है ?
चेतन की इस द्रवण-शीलता का ज्ञान किसे है ? (पृष्ठ १६)

करिमकर भुजा ८ मात्रिक

वही गात है, वही माथ है।
वही पाद है, वही हाथ है।
घात-घात में वही साथ है।
गाल वही है, अधर वही है।। (पृष्ठ ४५६)

पद्धडिया (पज्झटिका) १६ मात्रिक

नयी पलक मे नया पुलक है।
नयी ललक में नयी झलक है।
नये भवन में नयी छुवन है
नये छुवन में नये स्फुरण हैं।

३३ मात्रिक छन्द

आचरण के सामने आते ही प्राय चरण थम जाते हैं।
आचरण के सामने आते ही प्राय नयन नम जाते हैं।। (पृष्ठ ४६२)

३७ मात्रिक छन्द

कभी किसी दशा पर, इसकी आँखों में करुणाई छलक आती है।
कभी किसी दशा पर, इसकी आँखों में अरुणाई झलक आती है।।
(पृष्ठ १५१)

अर्द्ध-सम-मात्रिक छन्द

जिनमें प्रथम-तृतीय तथा द्वितीय-चतुर्थ चरण में समान मात्रायें हों, वे अर्द्ध-सम-मात्रिक छन्द हैं। मूकमाटी में ऐसे छन्दों का प्रयोग वैविध्य दिखाई देता है- उदाहरण के तौर पर देखिए —

प्रथम-तृतीय चरण में ११ मात्रायें और द्वितीय-चतुर्थ चरण में २० मात्रायें वाला छन्द —

कभी-कभी शूल भी
अधिक कोमल होते हैं, फूल से भी।
कभी-कभी फूल भी
अधिक कठोर होते है, शूल से भी।। (पृष्ठ ९१)

इसी तरह प्रथम-द्वितीय चरण में १६ मात्रायें तथा तृतीय-चतुर्थ चरण मे १२ मात्रायें निम्न छन्द में दृष्टव्य है —

नया मगल तो नया सूरज
नया जगल तो नयी भूरज।
नयी मिति तो नयी मति,
नयी चिति तो नयी यति।। (पृष्ठ २६३)

विषम मात्रिक छन्द

ये वे छन्द हैं जिनमें चरणों की मात्राओं में कोई समानता नही पायी जाती। उदाहरणत – प्रथम चरण में २०, द्वितीय चरण में २२, तृतीय चरण में १८ तथा चतुर्थ चरण में २३ मात्राओ का छन्द देखिये —

पलाश की हँसी-सी साडी पहनी,
गुलाब की आभा फीकी पडती जिससे।
लाल पगतली वाली लाली-रची,
पद्मिनी की शोभा सकुचाती है जिससे।। (पृष्ठ २००)

इसी तरह चारों चरणो में क्रमश १७,१८,१६, और १९ मात्राओं वाले छन्द का भी रस लीजिए —

एक औरों का दम लेता है,
बदले में, मद भर देता है।
एक औरों में दम भर देता है,
तत्काल फिर निर्मद कर देता है। (पृष्ठ १०२)

"मूक माटी" में इसप्रकार पचासों पद्यों को प्रस्तुत किया जा सकता है, जिनमें विभिन्न मात्रिक छन्दों का आकर्षक ढग से प्रयोग हुआ है। इस प्रयोग में सगीत अपने

पूरे लय और ताल के साथ-साथ चलता रहा है, क्योंकि कवि का सगी सगीत ही रहा है – "मेरा सगी सगीत है। स्वस्थ जगी जीत है" (पृष्ठ १४६-१४७)। जबसे वह सगीत के ससार में घूमने लगा है, उसके मन से सारे वैषम्य मिटसे गये हैं और संसार भी नश्वर-सारहीन दिखाई देने लगा है, तभी तो वह गा उठता है —

धा --- धिन् --- धिन् --- धा ---
धा --- धिन् --- धिन् --- धा ---
वेतन- भिन्ना --- चेतन --- भिन्ना,
ता ---- तिन --- तिन --- ता
ता ---- तिन --- तिन --- ता
का -- तन -- चिन्ता, का --तन -- चिन्ता ?
--- धू --- धू --- यू ! (पृष्ठ ३०६)

कवि को किसी भी प्रकार का बन्धन नहीं रुचता। वह तो स्वतन्त्रता प्रिय है, अनुभूतिवादी है, जहाँ सहजानन्द का सरस प्रवाह प्रवाहित हो रहा है। इसीलिए उसके पुनीत हृदय से गीत निकल पडता है सहज सवेदनजन्य —

जय हो! जय हो ! जय हो !!
अनियत विहारवालों की
नियमित विचारवालों की,
सन्तों की , गुणवन्तों की
सौम्य-शान्त छविवन्तों की
जय हो! जय हो ! जय हो !!
पक्षपात से दूरों की
यथाजात यतिशूरों की
दया-धर्म के मूलों की
साम्यभाव के पूरों की
जय हो! जय हो ! जय हो !
भव-सागर के कूलों की
शिव-आगर के चूलों की
सब-कुछ सहते धीरों की
विधि-मल धोते नीरों की
जय हो! जय हो ! जय हो !! (पृष्ठ ३१५)

सम्पूर्ण महाकाव्य इसीप्रकार की गेयात्मकता और लयात्मकता से आपूर है। विशेषता यह है कि मुक्त छन्दों का प्रयोग होते हुए भी सगीत की स्वर-लहरी किसी भी तरह परदे के पीछे बैठी दिखाई नही देती। छन्दशास्त्र के कुशल ज्ञान और उसके यथास्थान सुन्दर प्रयोग से काव्य का अभिव्यञ्जना शिल्प और भी रमणीयता पा सका है।

भाषा – शैली

अभिव्यञ्जना शिल्प के इन सारे तत्त्वों को तुलनात्मक दृष्टि से 'मूक माटी' में यदि हम निहारे तो हम पायेगे कि 'मूक माटी' का अभिव्यञ्जना शिल्प अपनी अलग ही पहचान बनाये हुए है। कवि की मातृभाषा कन्नड है, पर खडी बोली के शब्द प्रयोग में वह पूर्ण निष्णात है। पाठक को कही भी ऐसा भान नही हो पाता कि वह अहिन्दी भाषी का काव्यपाठ कर रहा है। बुन्देलखण्ड में काफी समय बिताने के कारण कतिपय शब्द अवश्य देखे जा सकते है पर 'कतिपय' कन्नड शब्दो के साथ वे और भी अधिक अभिव्यञ्जक बन जाते है। भाषा पर तत्सम शब्दो का प्रभाव उसे व्यवस्थित और परिस्कृत बना देता है, अन्त्यानुप्रासो के आग्रह से भी कोमलता और प्रवाह क्षमता मे कोई बाधा नही आती शैली मे निखार और माधुर्य, ओज तथा प्रसाद गुण सामुदायिक रूप मे प्रभावक बना रहता है बोलचाल के मुहावरे और कहावते **आधा भोजन कीजिए, दुगुणा पानी पीव। तिगुणा श्रम चउगुणा हँसी वर्ष सवा सौ जीव,** (पृ १३३) **दाल नहीं गलना,** (पृ १३४), **आमद कम खर्चा जादा लक्षण है मिट जाने का। कूबत कम गुस्सा ज्यादा, लक्षण है पिट जाने का,** (पृ १३५), **माटी पानी और हवा, सौ रोगों की एक दवा,**(पृ ३९९) **पूत का लक्षण पालने मे,** (पृ १४), **बाये हिरण दाये जाय, लका जीत राम घर आय,** (पृ २५), **मुँह मे राम बगल मे छुरी,** (पृ ७२) आदि भाषा को परिमार्जितकर देती है, शब्द की लक्षणा और व्यजना शक्ति उसे और भी सूक्ष्म बना देती है , भाषा की चित्रमयता और ध्वन्यात्मकता कवि की सवेदना को सरलता पूर्वक अभिव्यक्त करती दिखाई देती है, अनुप्रास के सातत्य ने सगीतात्मकता को सुरक्षित रखा है, भाषा के साथ सर्वत्र अर्थ की चामत्कारिकता तथा सार्थकता जुडी हुई है, जीवनानुभूति की तलस्पर्शिता, सप्रेषणता और साधारणीकरण जैसी कोई समस्या यहाँ नही है, पारिभाषिक शब्दावली और सूत्रों में समाहित अर्थ सामान्य जन की भाषा में समझाने के लिये कवि प्रयत्नशील भी दिखाई देता है, तथा विषय के अनुसार शब्दों का चयन विशेष ध्यान आकर्षित करता है, यद्यपि अपनी पराग, सरगम झरती है, हमारी

उपास्य देवता अहिंसा है, उनकी पाद-पूजन जैसे लिंगदोषयुक्त प्रयोग खटकते हैं। अहिंसा और सदाचरण, इन पृष्ठभूमि में शान्तरस के स्थायी भाव निर्वेद ने माटी की अदम्य शक्ति को भी प्रभावक ढंग से अभिव्यञ्जित किया है।

निष्कर्ष

इसप्रकार आधुनिक काव्य श्रखला में 'मूक माटी' महाकाव्य इस दृष्टि से अनुपम मणिमाला के मौक्तिक रूप में गुँथा हुआ है। उसका अभिव्यञ्जना शिल्प एक बेजोड कडी है, जिसका दर्शन श्रमण संस्कृति पर आधारित है। निमित्त और उपादान की व्याख्या की पृष्ठभूमि में रचित यह महाकाव्य हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर है। प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी आदि कवियों के काव्य-सग्रहो और तार-सप्तक जैसे काव्यसग्रहों को जिसप्रकार भूमिका की आवश्यकता पडती रही उसी प्रकार 'मूक माटी' में भी उसके रचयिता को 'मानस तरंग' लिखकर अपने कथ्य को स्पष्ट करना पडा। दर्शन के साथ ही रत्नत्रय की व्यावहारिक उपयोगिता को दिखाकर कवि ने प्रस्तुत महाकाव्य को व्यक्ति के जीवन के साथ घनीभूत रूप में जोड दिया है। यही उसकी प्रासगिकता है और यही उसकी मौलिकता है। (पृ. ४३६)

समीक्षा से विराम लेने के पूर्व यह कहना आवश्यक हो जाता है कि समकालीन कविता के क्षेत्र में भी 'मूक माटी' ने अपने को रेखांकित किया है और आचार्यश्री एक सशक्त हस्ताक्षर के रूप मे काव्यक्षेत्र में प्रतिष्ठित हो गये है । उनके प्रमुख काव्यसंग्रह "नर्मदा का नरम कंकर", "डुबो मत लगाओ डुबकी", "तोता क्यों रोता ?" अष्टम-नवम् दशक में ही प्रकाश में आये है। परन्तु विडम्बना यह रही है कि वे एक वर्ग विशेष तक ही सीमित रहे है अन्यथा विश्वम्भर नाथ उपाध्याय के, "समकालीन कविता की भूमिका में", जगदीश चतुर्वेदी के "आज की हिन्दी कविता" तथा प्रताप सहगल व दर्शन सेठी के "नवें दशक की कविता यात्रा" जैसे काव्य सग्रहों में उनकी अभिव्यक्ति को स्थान अवश्य मिलता। फिर भी एक ओर छायावादी प्रसाद की 'कामायनी' (१९३५), दिनकर की 'उर्वशी' (१९६१), तथा पत के 'लोकायतन' (१९६५), के बाद 'मूक माटी' को उस काव्य श्रखला में जोडकर अब हम अध्यात्म प्रबन्ध चतुष्टय को प्रस्थापित कर सकते हैं तो दूसरी ओर नवें दशक के दौरान प्रकाशित हुए काव्य-परिदृश्य में उसे कविता के विकास में नये आयाम के रूप में देखा जा सकता है। अभी हाल में प्रकाशित "समकालीन हिन्दी कवितायें" (सं रामदरश मिश्र/सुशील), "नवें दशक के प्रगतिशील कवि" (सं.याद.के.सुगम) तथा "त्रयी-३" श्याम (सं.जगदीश गुप्त) संकलनों में आज का यथार्थ सामाजिक चित्र प्रस्तुत हुआ है। इनमें यदि 'मूक माटी' में खिंचे कुछ परिदृश्य भी सम्मिलित कर

दिये गये होते तो वह निस्सदेह समकालीन कविता का महत्त्वपूर्ण दस्तावेज बन जाता।

यह जानते हुए भी कि 'मूक माटी' काव्य समकालीन कविता की परिपाटी से बिलकुल हटकर लिखा गया है, मै यह बात इसलिये कह रहा हूँ कि 'मूक माटी' के कवि ने कविता को एक विशिष्ट मुहावरा दिया है, जिसमें प्रतीकों मे छिपा आतकवादी परिवेश और जीवनानुभवो की वास्तविकता की टकराहट बडे प्रभावक ढग से अभिव्यक्त हुई है। इस अभिव्यक्ति में शिल्प का स्पर्श पाकर कविता चरितार्थ होती दिखाई दे रही है। सामाजिक दायित्व और मानवीय मूल्यो के मुद्दो पर कवि की वेदाग और मर्मान्तक टिप्पणियाँ भी जीवन के हाशियो पर अमिट रेखाये बन गई है, जिन पर सुभग जीवन की सफलता के चित्र अकित है। सामाजिक परिस्थितियों से प्रतिबद्ध कवि की चिन्ता भी वही प्रतिबिम्बित होती दिखाई देती है। उनका कथ्य समकालीन कवियो से भी कही अधिक बेजोड, भाव प्रवण, रससिद्ध, विविधतापूर्ण, सदाचारमय और बहु-आयामी है, जिसमे उन्होने दर्शन और अध्यात्म को समवेत रूप मे उतारा है, और व्यक्ति के जीवन को कलात्मक ढग से सवारा है। "मूक माटी" महाकाव्य का यही प्रदेय है जो अपने क्षेत्र में दीप-स्तम्भ जैसा सदैव पथदर्शक बना रहेगा।

वस्तुत 'मूक माटी' महाकाव्य मे दार्शनिकता के साथ यथार्थवाद भी है और आदर्शवाद भी है और कलावाद भी, अध्यात्मवाद भी है और अभिव्यञ्जनावाद भी। इन सभी तत्वों ने मिलकर इस काव्य में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को जितने सुन्दर ढग से समन्वित कर रूपायित किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिये यह महाकाव्य एक दार्शनिक मौलिक महाकृति है, अभिव्यञ्जना शिल्प की दृष्टि से एक अभिनव प्रयोग है, जिसमें आचार्य श्री का चिंतन मुखर हुआ है, सदाचरण ने पनाह पायी है और प्रतिमान ने सम्मान पाया है।

उसमें महाकवि ने जैनदर्शन को सृजानात्मक स्वर देने का प्रयत्न किया है। उनकी सृजन-प्रक्रिया बाह्य यथार्थ की आभ्यन्तरी-करण-प्रक्रिया है, जो स्वानुभव पर आधारित है। उन्होंने युगजीवन के वैषम्य को देखा - समझा - परखा है, नैतिक सकट की उन्हें अनुभूति हुई है। इसलिए 'मूक माटी' जैसे दार्शनिक महाकाव्य का सृजन हो सका है।

कवि के प्रस्तुत साहित्य में सम्पूर्ण जीवन की चेतना एवं ज्ञान की अभिव्यक्ति होती है, संवेदनात्मकता प्रतिबिम्बित होती है, सौन्दर्यानुभूति का सस्पर्शन होता है, और सामने खडी हो जाती है, जीवन की वे वास्तविकताएँ, जो समन्वित और संशोधित मार्जन की

अपेक्षा करती हैं। वहाँ आत्मसघर्ष का विवेचन-विश्लेषण है, कलात्मक सौन्दर्य का परिपाक है, गहरी सामाजिक दृष्टि की आर्थवता से सयोजन है। इसीलिए काव्य-सृजन में मैलिकता प्रामाणिकता और गहन संवदेना भरी हुई है। इसे हम जैन श्रमण की एक जटिल जीवन-प्रक्रिया का जीवन्त दस्तावेज भी कह सकते है, जहाँ जीवन, जगत और काव्य की समन्वित त्रिवेणी प्रवाहित हुई है और साधारणी-करण का रस छलक रहा है।

कवि ने बिम्बो-प्रतीकों के माध्यम से पाठक की जिज्ञासा को और भी कुरेद दिया है, समरसता को जन्म दिया है और जीवन के परम सत्य को सामने खोलकर रख दिया है। उन प्रतीकों में वास्तविकता झॉकती है, शब्द नये मायने पा लेता है, इतिहास-बोध गतिशील हो जाता है और व्यक्तित्व की निर्माण-प्रक्रिया प्रारभ हो जाती है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है, जैसे अचार्यश्री संकेतिकता और प्रतीकात्मकता के माध्यम से व्यक्ति को उनके आत्मालोचन की ओर प्रेरित कर रहे हैं। उस प्रेरणा में आतकवाद कहीं जीवन के स्वच्छन्द विलास और वैभव की कहानी तो नहीं कह रहा है? समाजवाद की परिभाषा में जीवन के असमान और समता विरहित पृष्ठ तो अंकित नहीं हैं? तथ्य यह है कि आधुनिक जीवन की विषमताओ से भरे समाज को आध्यात्मिकता और विश्व-बन्धुत्व की ओर उन्मुख करना कवि का लक्ष्य दिखाई देता है।

इस महाकाव्य में कवि ने निराला से भी आगे बढकर शब्द-विन्यास को नई अर्थवत्ता दी है, जिससे उसकी चित्रात्मकता प्रदान करने वाली प्रतिभा का पता चलता है। अज्ञेय की सचेतन शब्द-शिल्पिता से भी कवि की शब्द-शिल्पिता अधिक जानदार है। तार सप्तक के कवियों में दर्शन शब्द के पीछे चलता दिखाई देता है, जबकि 'मूकमाटी' के कवि मे दर्शन शब्द के आगे अपने को प्रस्थापित करता है। मुक्तिबोध के समान वह निराशावादी कवि नही है। उसकी आस्था और आशा जीवन के बदले हुए सुन्दर पडाव की ओर दृष्टि जमाये हुए हैं, जहाँ विद्रोही सकल्पनायें अन्तिम सॉस लेने लगती हैं, कुठायें अस्तित्वहीन बन जाती हैं और आध्यात्मिकता सजग हो जाती है। कवि चूंकि समष्टि-सत्य का दृष्टा है, वह व्यक्ती को त्रासदी से निकालकार नई संभावना के क्षितिज में खडा कर देता है। व्यक्ति की प्रकृति पर उसे गहरी आत्मीयता है, द्वन्द्व भरी चेतना को परखने की दृष्टि है, जीवन मूल्यो को ऊष्मा प्रदान करने की क्षमता है, आध्यात्मिक शिखर पर प्रतिष्ठित होने / करने की पात्रता है। इसलिए उसका महाकाव्य नैतिक जागरण का महाकाव्य है, प्रतिक्रियावादी तत्त्वो की वर्जना करने वाला महाकाव्य है, आत्मचेतना को जागृत करने वाला महाकाव्य है और जीवन के प्रति अटूट आस्था-दर्शन का महाकाव्य है। इसीलिए वह एक दार्शनिक महाकृति है।

अष्टम परिवर्त

कलात्मक सौन्दर्य चेतना

पिछले परिवर्त में हम मूक माटी के अभिव्यञ्जना शिल्प पर किञ्चित् विचार कर चुके हैं। मूक माटी वस्तुत एक ऐसा महाकाव्य है जिसमे जीवन के बिखरे सूत्रों को एक सशक्त प्रतीक के माध्यम से पुष्पमाला के रूप मे गुम्फित किया गया है। उस अध्याय में हमने काव्य के शब्द सौन्दर्य, प्राकृतिक चित्रण, आतकवाद, ममतामयी मा, रूपकतत्त्व, प्रतीक विधान, बिम्बविधान, अलकार विधान, छन्द विधान और भाषा शैली पर सक्षेप मे विचार किया है। ये विषय यद्यपि अभिव्यञ्जना शिल्प के ही सूत्र हैं फिर भी हम प्रस्तुत सस्करण में स्वतन्त्र रूप से कलात्मक सौन्दर्य चेतना शीर्षक के अन्तर्गत उन पर कुछ विस्तार से चर्चा कर रहे हैं हिन्दी साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे उसके विशेष योगदान की ओर सकेत करते हुए।

मूक माटी को हमने महाकाव्य के रूप मे प्रस्थापित किया है। हम चाहे तो उसे प्रबन्ध गीत काव्य भी कह सकते है। गीतिकाव्य विषयी प्रधान होता है। उसमें वैयक्तिक भावनाओ की प्रधानता होती है, सगीतात्मकता और भावो की तीव्रता होती है, जीवन और जगत के सौन्दर्य तत्त्व को अभिव्यञ्जित किया जाता है, कल्पना और चिन्तन का उपयोग होता है तथा चित्रात्मकता होती है। ये सारे तत्त्व मूक माटी मे बडी सरलता से खोजे जा सकते हैं। सस्कृत के कवियो ने मुक्तक का जो लक्षण दिया है वह यद्यपि मूक माटी के साथ घटित नही हो पाता पर आधुनिक सौन्दर्य शास्त्रियो ने जो परिभाषाये दी है उनमे प्रमुख तत्त्व मूक माटी की परिधि से बाहर नही है। जैसा हमने पिछले पृष्ठो में कहा है, मूक माटी के माध्यम से आचार्यश्री ने स्वय के जीवन को तो देखने - परखने का आवाहन किया ही है, साथ ही सघ के परीक्षण का भी निमन्त्रण दिया है, आचार-विचार की सयतता के सन्दर्भ मे। वैयक्तिकता यत्र प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिबिम्बित हुई है। भले ही यह बत सही हो कि इस कृति मे उत्तम पुरुष का प्रयोग नही हुआ है। गीति' प्रबन्ध काव्य में कथा को किसी तरह सम्बद्ध बनाये रखा जाता है। मूक माटी में चारों अध्याय स्वतन्त्र से लगते हैं फिर भी उन्हे कथा अनुस्यूत किये हुए है। साकेत, यशोधरा विष्णुप्रिया, कामायनी इस विधा के प्रमुख प्रबन्ध गीतिकाव्य हैं जिनमें अतिशय

भावुकता और सवेदनशीलता उभरकर सामने आयी है और उसी परम्परा में किसी सीमा तक हम मूक माटी को भी समायोजित कर सकते हैं।

संघटनात्मक तत्त्व - योजना

भाषिक योजना

समीक्षक वस्तुपरक और तटस्थ आलोचक होता है, वह कृति के प्रति प्रतिबद्ध रहता है, कृतिकार के व्यक्तित्व के प्रति नही । आयातित घटना उसकी तटस्थता में बाधक और दायित्वहीन बनती है। कृति के सघटनात्मक तत्त्वो और उसकी आन्तरिक अन्विति को बिना मुखोटे केअभिव्यक्त करना समीक्षक का प्रथम कर्तव्य है । शब्द और अर्थ की सहस्थिति रूप साहित्य मूलत शब्द के माध्यम से मूर्त कला की प्रस्तुति है । शब्दचयन, आचरण, वैयक्तिक रुचि, दर्शन, विचार आदि उसकी सरचना के घटक हैं । इसलिए कृतिकार की भाषाशैली का वैज्ञानिक विवेचन उसके समीप तक पहुचा देता है, उसके परिवेश मे पैठ बना लेता है, उसकी रीति - नीति को प्रतिबिम्बित करता है, उसके अन्तर्मन की द्रवणशीलता को प्रकाशित करता है और कह उठता है कथ्य और अनुभूति के उस व्यापक फलक को जिसमे वह रचा-पचा है । उसकी भाषा एक सिद्ध वस्तु है । उस भाषा का वैज्ञानिक विवेचन अभिधेय सदेश को उन्मीलित करने का एक सशक्त माध्यम है । इस माध्यम मे कभी कभी भाषा स्वीकृत प्रतिमानोको तोडती नजर आ सकती है पर उसमे अभिव्यजित तथ्य विशेष महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। कवि का काव्य विशिष्ट अनुभव पर आधारित रहता है । इसलिये उसकी भाषा विशिष्ट बन जाती है । इस भाषा मे जब कभी भाषिक विचलन भी हो जाता है। पर चूकि कवि निरकुश होते हैं-निरकुशा कवय । यह विचलन क्षम्य बन जाता है वशर्ते उसमें असामान्य ध्वनि व्यञ्जित हो रही हो, ओर अतिरिक्त कथन रेखांकित हुआ हो। वह तो वस्तुत विषय की प्रस्तुति में अधिक सचेत रहता है। छन्दबन्धन काव्यरुढियो और व्यावहारिक नियमो का प्रतिबन्ध विषय के तारतम्य को तोड देता है। प्रसाद, निराला पन्त, महादेवी वर्मा आदि कविओ के काव्य मे भी यह विचलन देखा जाता है ।

आचार्यश्री के काव्य में भी एकाध जगह ऐसा विचलन दिखाई दे जाता है। उदाहरण के तौर पर- "पेड-पौधों के डाल-डाल पर, पात-पात पर चेतना" (पृष्ठ ९०) में "पेड पौधो की" होना चाहिए। " दाग नही लगा पाती वह" (पृष्ठ १००) में वह के स्थान

पर 'वे' होना चाहिए। "हे क्षार का पारावार सागर" (पृष्ठ २२५) हे क्षार का 'के स्थान पर" "हे क्षार के" होना चाहिए। पर यह विचलन काव्य में कोई विशेष दोष के रूप में नही देखा जा सकता है। कवि के लिए प्रवाहात्मकता लाने में इतना विचलन तो कोई विशेष मायना भी नही रखता।

जब भाषा पर विचार करते हैं तो हम पाते हैं कि द्विवेदी युग की संस्कृतनिष्ठता और उर्दूनिष्ठता दोनो अतिवादी, अस्वाभाविक और कृत्रिम थी। उस काल मे तो भाषा को सुसंस्कारित किया गया। यहाँ प्रारंभिक स्तर पर अभिधा शक्ति का ही अधिक उपयोग हुआ है, काव्यात्मकता का विकास बाद में हुआ। छायावादी कवि भाषा के राग, नादात्मक चित्रमयता, छायामयी वक्रता, ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीकात्मकता तथा उपचारवक्रता पर बल देते हैं। इसलिए उनके कुछ शब्दों मे निजी-संवेदना जगत प्रतिबिम्बित होता है। इस में तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। संस्कृत शब्दावली से काव्य भरा रहता है। नये शब्द और नये लय भी मिलते हैं, लक्षणा और व्यजना शक्तिका प्रयोग होता है।

छायावादोत्तर काल मे सूक्ष्म कलात्मकता और बिम्बात्मकता के प्रति उतना लगाव नही रहा, उर्दू शब्दो का प्रयोग अधिक हुआ, अभिधा ने अपना स्थान बनाया। प्रगतिवादी कवि तो और भी भाषा की सरलता, सपाटता, स्पष्टता और बोलचाल की भाषा की ओर झुके, अभिधा शक्ति के साथ सरलता और प्रसाद गुण आया, व्यजनात्मक प्रयोग हुए। पर बाद मे तत्समता और लाक्षणिकता की ओर भी ये कवि उन्मुख हुए। निराला मे हम ऐसे ही रूप पाते है। पन्त की कविता मे भी मिश्रण शैली का प्रयोग है। प्रयोगवादी कवियो ने भाषा को लेकर नये नये प्रयोग किये। अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, मुक्तिबोध, नरेश महता आदि नये कवियो की भाषा मे इसी लिए अन्तर अधिक है, नयी कविता मे आचंलिकता अधिक आई है, उर्दू और संस्कृत शब्दो का समानान्तर प्रयोग हुआ है, और बिम्बात्मकता पर विशेष बल दिया गया है। युवा पीढी के कवियो ने आचलिकता पर इतना अधिक जोर दिया कि उनकी भाषा मे अश्लीलता अपरिष्कृतता आ गई। सस्कारशीलता समाप्त हो गई और जीवन की नग्न वास्तविकता शिर पर बोलने लगी। इसके बावजूद कुछ काव्य इस विधा के विपरीत भी प्रकाशित हुए जिनमे भाषा की प्रगल्भता और सुसंस्कारो की दृढता दिखाई देती है।

संगीत चेतना

बिम्बप्रियता, सगीतात्मकता और चित्रात्मकता का एक साथ निर्वाह होना सरल नही होता। 'रामकी शक्तिपूजा', 'बादलराग' ' नौका विहार' इत्यादि जैसी कविताओ में यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। आचार्यश्री ने इसका निर्वाह बड़ सुन्दर ढग से किया है। सगीतकला मे परिवर्तन की सम्भावना अधिक बनी रहती है। निरालाने इस सम्भावना को इन शब्दो मे व्यक्त किया है -"आधुनिक गीतो की भेड़े और स्वरकम्पन प्राचीन शब्दोच्चारण की दीवारो को पार कर के अपनी सत्यता पर समासीन हो"।

काव्य में सगीत का सफल प्रयोग स्वर ध्वनियो पर आधारित रहता है। व्यजन आधारित अनुप्रास को सगीत की आत्मा नही माना जा सकता। उसमे नादात्मकता नही रहती। तुक अथवा छन्द की परिधि से अबद्ध कविता मे आन्तरिक सगीत लहरा उठता है, अर्थ सगीत मार्मिक हो जाता है, अभिधा-लक्षणा व्यञ्जना गर्भित - कल्पना शक्ति पल्लवित हो जाती है। छायावादी कविता मे यही आन्तरिक सगीत भरा हुआ है। मुक्त छन्द मे रची कविताओ मे अवश्य वह प्रच्छन्न रहता है। निराला इस विधा के अधिष्ठा रहे है जिन्होने 'परिमल' की भूमिका मे मुक्त छन्द के पक्ष मे यह तर्क दिया है कि मनुष्यो की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यो की मुक्ति कर्मो के बन्धन से छुटकारा पाना है और कविता की मुक्ति छन्दों को शासन से अलग हो जाना है। मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नही होता प्रत्युत उससे साहित्य में एक प्रकार की स्वाधीन चेतना फैलती है जो साहित्य के ही कल्याण की मूल होती है। (पृ १४)। शायद इसी दार्शनिक पृष्ठभूमि मे आचार्यश्री ने मूक माटी महाकाव्य मे मुक्त छन्द का प्रयोग किया है। उन्होंने "जुही की कली" के समान अन्त्यानुप्रास विरहित वर्णवृत्तो का उपयोग किया, "परिमल " के द्वितीय खण्डके समान मात्रावृत्तों का प्रयोग और उसके तृतीय खण्ड के समान मुक्त छन्द को स्वीकार किया। कुल मिलाकर मात्रिक और वार्णिक छन्द ने भी टूट-टूट कर मुक्त छन्द का रूप ले लिया। फ्रान्स साहित्य इस मुक्त छन्द का आद्य प्रवर्तक रहा है। प्रसाद और पन्त ने भी इसका प्रयोग किया है।

मुक्त छन्द की योजना भाव-सम्बद्ध होती है। एक ही पक्ति मे ताल का सृजन किया जाता है और अन्य पक्तियो में उसके साथ काव्य जोडा जाता है। इस तरह छायावादी कविता मे नवीन सगीत उभरकर सामने आता है। स्वर सगीत की दृष्टि से उसे लय में बाधा जाता है। आचार्य श्री का काव्य मुक्त छन्द मे है पर उसे भी लय मे गूथा गया है। कही-कही

पारम्परिक छन्दो को भी मुक्त छन्द क रूप म लिया गया है। इस दृष्टि से उनकी कविता की भाषा अपना गहरा प्रभाव छोडती है पाठक पर। आचार्यश्री ने मुक्त छन्द की बकालात स्वय इस तरह की है -

यहा
बन्धन रुचता किसे ?
मुझे भी प्रिय है स्वतन्त्रता
तभी तो किसी के भी बन्धन मे
बधना नहीं चाहता मैं।
ना ही किसी को बाधना चाहता हू। (पृ ४४२)

हम यह भलिभाति जानते हैं कि आधुनिक काल मे सर्व प्रथम निराला ने ही कविता को छन्दो के विधान मे मुक्त किया। पहले उनके इस कदम का घनघोर विरोध हुआ। उसे खण्ड छन्द, केचुआ छन्द, कगारु छन्द आदि कहकर उसकी आलोचना की गई। पर धीरे धीरे साहित्यिक क्षेत्र मे निराला के साहसिक कदम को स्वीकार कर लिया गया और मुक्त छन्द लोकप्रियता की ओर बडी तेजी से बढ गया। निराला ने स्वय उसे स्पष्ट करते हुए कहा - "मुक्त छन्द तो वह है जो छन्द की-भूमि मे रहकर भी मुक्त है। उसमे नियम कोई भी नही, केवल प्रवाह कवित्त छन्द का - सा जान पडता है। कही-कही आठ अक्षर आप ही आप आ जाते है। मुक्त छन्द का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छन्द सिद्ध करता है और उसका नियम साहित्य उसकी मुक्ति।"

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मुक्त या अतुकान्त छन्द मे प्रवाह उसका अनिवार्य धर्म है। कविवर निराला के समान आचार्य श्री भी मुक्त / अतुकान्त और तुकान्त छन्दो की रचना में पूर्णतया सिद्धहस्त हैं। मूकमाटी का अतुकान्त काव्य पाठक पर अपनी छाप छोडे बिना नही रहता। शब्दो की मधुर योजना उसकी कोमलता चित्रात्मकता, सगीतात्मकता, प्रतीकात्मकता आदि सब कुछ 'रसो वैस' का स्मरण दिलाते हैं।

रस योजना

रस काव्य का अभिन्न अग है और चूकि मानवीय सवेदना के साथ काव्य का आविर्भाव हुआ है, इसलिए रस का जीवनकाल काव्य के जीवन काल से जुडा हुआ

है। भरत ने इसलिए रस को प्रारम्भिक स्तर पर स्थायी काव्य का आधार बनाकर उसकी वस्तुपरक व्याख्या की। अभिनवगुप्त ने अद्वैत दर्शन के भाव से उसे विषयिगत और आस्वाद रूप बताया जिसकी मीमांसा उत्तर कालीन आचार्य अपने-अपने ढग से करते रहे हैं।

काव्य रस श्रवणेन्द्रिय का विषय बना और नाट्य रस का माध्यम चक्षुरिन्द्रिय हुआ। माध्यम कुछ भी रहा हो, पर आनन्द के स्रोत का काव्य से प्रवाहित होना एक तथ्य बना रहा है। आस्वाद्यत्व के अतिरिक्त आनन्दवाद के और भी रजनाधिक्य आदि कारणो की स्थापना के प्रसग प्राचीन साहित्य मे उपलब्ध होते ही हैं। उसी के अलोक मे हम आधुनिक साहित्य पर दृष्टिपात कर सकते हैं।

आधुनिक साहित्य-शास्त्रियो ने भी रसानन्द पर विचार किया है। डॉ नगेन्द्र स्थायी प्रभाव, सार्वभौम स्वीकृति, रजनाधिक्य या उत्कट आस्वाद्यमानता, मानवीय मूलप्रवृत्ति से प्रत्यक्ष सम्बध, परम पुरुषार्थों के प्रति उपयोगिता और परिष्कृत अनुभूति इन छ तत्त्वो को रस निर्णायक मानते हैं। (रस सिद्धान्त, पृ २६७)। डॉ मनोहर काले इन तत्त्वो मे से मानवीय मूल प्रवृत्ति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध तत्त्व को छोडकर पाच तत्त्वो को स्वीकार करते हैं (आधुनिक हिन्दी मराठी मे काव्यशास्त्रीय अध्ययन, पृ १४२, १५३) डॉ बाटवे पुरुषार्थोपयोगित्व की उपयोगिता को स्वीकार नही करते (रस विमर्श, पृ. २४७) आचार्यश्री डॉ नगेन्द्र के पक्षधर दिखाई देते हैं। वे अपना पक्ष मूक माटी मे विविध प्रसगो में स्थापित करते हैं।

समय समय पर रस सख्या पर भी प्रश्नचिन्ह खडा होता आया है। निष्पत्ति और साधारणीकरण मे मूलत आस्वादन का सिद्धान्त रहा है और इसी आधार पर भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद, भट्टनायक का आरोपवाद, शकुक का अनुमितिवाद, अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद, आदि स्थापनाये हुई हैं। इन स्थापनाओ मे भाव जब विभाव, अनुभाव और सचारी भावों से सयुक्त होते हैं तब रस निष्पत्ति होती है।

भरत मुनि द्वारा मान्य नव रसो (श्रृगार, करुण, हास्य, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शात) की गणना में वत्सल, और भक्तिरस जैसे नवीन रसो की भी उद्भावना हुई है। आचार्यश्री ने वात्सल्यरस की स्वतन्त्र सत्ताको अनेक तर्कों से स्थापित किया

है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि उसका अन्तर्भाव न करुणा मे हो सकता है न भक्ति मे और न अध्यात्म मे। उसका प्रयोग तो सहधर्मी सम आचार-विचारो पर ही करता है एक मृदु मुस्कान से, माधुर्य से जिसमे क्षणभगुरता झलकती रहती है (पृ १५७)। इसके बावजूद शान्तरस प्रधान रस के रूप मे मूकमाटी मे प्रस्थापित हुआ है।

भारतीय काव्यशास्त्र मे रस सम्प्रदाय से लेकर ध्वनि सम्प्रदाय तक का इतिहास इस तथ्य का प्रमाण है कि साहित्य के मूल्याकन की कसौटी काव्य रस को ही नही मानी जाती रही है। आज की हिन्दी नयी कविता के सन्दर्भ मे भी यही प्रश्न खडा हो गया है। वैज्ञानिक उपलब्धियो से कवि की कल्पना और भावना ने नया मोड ले लिया है। उसकी सवेदना और अनुभूति मे वैविध्य और भटकाव अधिक दिखाई दे रहा है। इसलिए वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे रस निष्पत्ति पर पुनर्मूल्याकन की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है।

नयी कविता वर्तमान पर केन्द्रित है, व्यक्तिपरक अनुभूति पर आधारित है, द्वन्द्व और असामजस्य से ओतप्रोत है, विकर्षण और व्यग से भरी हुई है अभिनव प्रतीको के प्रयाग ने उसमे बौद्धिकता अधिक ला दी है और भावुकता के स्वर धीमे पड गये है। पर इसका तात्पर्य यह नही कि उसमे "रसो वै स " का आधार सूख गया है। गिरिजाकुमार अज्ञेय भारती नरेश और आचार्य श्री विद्यासागरजी आदि की कवितायें इसका प्रमाण है कि उनके काव्य मे रस परिपुष्ट हुआ है। केदारनाथ सिह मदन वात्स्यायन, अज्ञेय भारती आदि किसी भी नये कवि ने रस की अनिवार्यता को अस्वीकार नही किया है। उनकी दृष्टि मे रस काव्य का प्राण है चामत्कारिकता का उद्भावक है चाहे वह व्यग का क्षेत्र हो या बिम्ब और भक्ति का। यह बात सही है कि परम्परागत रस का अर्थ व्यापकता की माग करने लगा है और रीति अलकार वक्रोक्ति और ध्वनि जैसे सभी तत्त्वो मे अपने को अन्तर्भूत करने के लिए उद्यत हो उठा है। इसलिए कही - कही आज की कवितायें शास्त्रमुक्त दिखाई देने लगती है जिनमे व्यावहारिकपक्ष और युगीन बोध मुखरित हुआ है, चित्तवृत्तियो का विवेचन हुआ है और आत्मिक शान्ति और नयी आनन्दानुभूति की चेतना को नया परिवेश मिला है।

इस नये परिवेश को आचार्य श्री ने -साहित्य शब्द के अर्थ मे पिरोहित किया है और उसकी रसात्मकता सार्थकता तथा अर्थवत्ता को निम्न शब्दो मे आका है -

हित से जो युक्त - समन्वित होता है
वह सहित माना है
और
सहित का भाव ही
साहित्य बाना है,
अर्थ यह हुआ कि
जिसके अवलोकन से
सुख का समुद्भव - सम्पादन हो
सही साहित्य वही है अन्यथा,
सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह
सार-शून्य शब्द-झुण्ड ।
इसे, यू भी कहा जा सकता है कि
शान्ति का श्वास लेता
सार्थक जीवन ही
सृष्टा है शाश्वत साहित्य का।
इस साहित्य को
आखे भी पढ सकती है
कान भी सुन सकते है
इसकी सेवा हाथ भी कर सकते है
यह साहित्य जीवन्त है ना । पृ १११

यहा सार-शून्य शब्द भण्डार कहकर कदाचित् नयी कविता के किन्ही रूपो पर व्यग किया गया है और उसी व्यग में रसानुभूति छिपी हुई है। ऐसे व्यग्यात्मक प्रसग मूक माटी मे अनेक स्थलो पर आये हैं जिनका हम पीछे उल्लेख कर चुके है। इन स्थलो पर वर्ण्य विषय का एक सरस बिम्ब भी उभर उठता है जो रसानुभूति का कारण बन जाता है। ऐसा हर काव्यात्मक बिम्ब रसास्वादन की प्रक्रिया मे साधक सिद्ध होता है। इस दृष्टि से मूक माटी का वर्ण्य विषय रस की व्यावहारिकता और व्यापकता

प्रदान करता है, हल्की फुल्की चीजों से उद्दीपन का काम करा देता है, चित्तवृत्तियो को रसत्व की सीमा तक पहुचा देता है और बिम्बोद्भावन से रस व्यजना मे सघनता ला देता है।

आधुनिक साहित्य शास्त्री पारम्परिक रस-सख्या से आगे बढने की बात करते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रकृति मे सूक्ष्म निरीक्षण के महत्त्व को स्पष्ट करते हूए उसकी रसवत्ता को प्रस्थापित करने का प्रयत्न किया है दो आधार-बिन्दुओ पर खडे होकर-"प्रथम प्रकृति के अलम्बन रूप की प्रतिष्ठा और द्वितीय चिर- सचित साहचर्यजन्य वासना। छायावादी प्रकृति के आलम्बन के माध्यम से प्रकृति और मानव के पारस्परिक प्रेम की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है इसलिए हम प्रकृति रस को स्वीकार करे या नही पर उसके अह महत्त्व को नकारा नही जा सकता।

इसी प्रकार बाबू गुलाब राय ने देशभक्ति रस की स्वतन्त्र सत्ता की सकल्पना की है। उनकी इस सकल्पना के पीछे राजनीतिक कारण अवश्य है पर उसे पृथक् रस के रूप मे स्वीकारा जाये यह बात जल्दी मे गले नही उतरती। आचार्यश्री मे राष्ट्रप्रेम आकण्ठ विद्यमान है पर वे उसे स्वतन्त्र रस के रूप मे स्वीकार करते नजर नही आते। यही बात सख्य रस के विषय मे भी कही जा सकती है। मूक माटी मे इन सभी विषयो ने यथासमय सुन्दर स्थान पाया है, उनका काव्यात्मक वर्णन हुआ है पर वे स्वतन्त्र रस की पहचान नही बना पाये। सच तो यह है कि आधुनिक विद्वानो द्वारा मान्य ये तीनो रस पारम्परिक रसो मे अन्तर्भूत हो जाते है। और फिर मूक माटी का अभिधेय तो साधक के लिए परम विशुद्ध मार्ग प्रस्तुत करता रहा है। अत वहा उनकी स्वतन्त्र सत्ता की चर्चा का प्रश्न ही नही उठता। हा, शान्त रस को प्रधान रस के रूप मे प्रस्थापित करने के लिए अवश्य सफल आयास किया गया है।

बिम्ब योजना

सूक्ष्म और अमूर्त अनुभूतियो को अभिव्यक्त करने के लिए कवि बिम्ब और प्रतीक का सहारा लेता है। इनसे काव्य मे स्पन्दन आ जाता है, सामर्थ्य और वैशिष्ट्य बढ जाता है। बिम्ब शब्द इमेज का हिन्दी रूपान्तर है जिसका अर्थ है मूर्तरूप प्रदान करना, चित्तबद्ध करना, प्रतिच्छायित करना, प्रतिबिम्बित करना आदि। इनका प्रयोग

मनोवैज्ञानिक, सोन्दर्यशास्त्रीय और कलात्मक क्षेत्र में हुआ है। मनोवैज्ञानिक सदर्भ में बिम्ब-योजना इन्द्रिय-बोध, कल्पना और स्मृति से उद्गत होती है। सौन्दर्यशास्त्रीय और कलात्मक सदर्भ में वह कुछ अधिक व्यापक और विशिष्टार्थक हो जाती है। व्यापक अर्थ मे कवि की सम्पूर्ण कृति उसके मानस का एक सम्पूर्ण बिम्ब है और विशिष्टार्थ मे वह भाषा के शाब्दिक और आलकारिक प्रयोग करता है। इसलिए उपमा, रूपक, प्रतीक, चित्र आदि अभिव्यञ्जना के साधनो का उपयोग काव्य मे सघनता के साथ कवि करता रहता है। जब वह सूक्ष्म और अमूर्त रूप को सवेदनात्मक अनुभूति के माध्यम से प्रत्यक्ष करना चाहता है तब वह चित्रात्मकता के समीप बैठ जाता है। पर उस चित्रात्मकता मे भावात्मकता का सन्निवेश एक आवश्यक तत्त्व है। भावो के अन्तर से बिम्बो के बीच भी अन्तर आ जाता है। इसलिए सभी पर्यायवाची शब्दों के बिम्ब समान नही होते नारी के सभी पर्यायवाची शब्द भावगत भिन्नता के कारण रूपगत भिन्नता लिये हुए हैं जैसा मूक माटी मे चित्रित है।

कविता मे बिम्बो का निर्माण सज्ञा, विशेषण और क्रिया तीनो से होता है। विशेषत विशेषण और क्रिया से मुहावरो के द्वारा भी बिम्बो का निर्माण होता है और वस्तु का वर्णन कर दिया जाता है। इसलिए काव्यात्मक बिम्ब रूपक-योजना से अधिक सम्बद्ध हो जाते है। दूसरे शब्दो मे बिम्बो के निर्माण मे अलकारो की भूमिका उल्लेखनीय रहती है। शायद इसीलिए लेविस और हयूम जैसे पाश्चात्य समीक्षको ने तो बिम्ब को काव्य की आत्मा और प्राणशक्ति कहकर उसका मूल्याकन किया है। उसमे कवि के मानस मे वस्तु-चित्र इतनी तन्मयता के साथ बैठ जाता है कि अभिव्यक्ति काल मे वह शब्दचित्र या अर्थचित्र के माध्यम से सशक्त सम्वर मे बाहर निकल पडता है और ऐन्द्रिय गुणो से सयुक्त सवलित होकर वस्तु के सुन्दर रूप को रसात्मक ढग से प्रस्तुत कर देता है। इस प्रस्तुति में कवि के पास भावात्मकता रहती है, आवेग के क्षण रहते हैं, पूर्वानुभूति और स्मृतिया रहती हैं, और दृश्यात्मकता के साथ इन्द्रियो को स्पर्श करता है। ये सभी तत्त्व मिलकर कवि की अभिव्यञ्जना शक्ति को सघन, उर्वर और प्रभविष्णु बना देते हैं, सहज और सचेष्ट कर देते हैं, सौन्दर्यशास्त्र के धरातल पर बैठकर चिन्तन में माधुर्य ला देते हैं।

तब कवि का सौन्दर्य बोध उसे दार्शनिक और सांस्कृतिक पक्ष की ओर खीच ले जाता है, अन्तर्जगत के उल्लास से भरकर वह रहस्यवादी बन जाता है और आध्यात्मिकता से तादात्म्य स्थापित कर वस्तुतत्त्व के विवेचन में वह नया मोड दे देता है।

प्रतीक और बिम्ब परस्पर गुथे हुए हैं। वे वस्तुचित्र की प्रस्तुति के सशक्त माध्यम हैं। प्रतीक रुढ उपमान हैं । धीरे-धीरे उसका बिम्ब सचरित होने लगता है। उसमें चित्रात्मकता, ऐन्द्रियकता, प्रत्यक्षीकरण की प्रवृत्ति, सहज सवेद्यता, अप्रस्तुत विधान की सश्लिष्टता भरी रहती है। कभी-कभी रूपक उन बिम्बो की प्रस्तुति को प्रभविष्णु बना देते हैं साधन के रूप मे। प्राचीन भारतीय काव्य शास्त्र मे इस बिम्बविधा को सादृश्य मूलक अलकारो, लक्षणा और ध्वनि के काव्य व्यापारो मे देखा जा सकता है।

बिम्बो के वर्गीकरण की अनेक दिशाये रही हैं। उनका सम्बन्ध कवि और वस्तु की प्रकृति और विशेषताओ पर आधारित है। इसलिए वे कविता से पृथक् नही किये जा सकते है। काव्य की आन्तरिक शक्ति होने के कारण बिम्बो का वर्गीकरण करना भी सरल नही है। इसके बावजूद विद्वानो ने अपने-अपने ढग से उनका वर्गीकरण किया है। हम उन सब की मीमासा किये बिना ही अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी वर्गीकरण को स्वीकारकर उसे तीन वर्गो मे विभाजित करते है-दृश्य बिम्ब, मानस बिम्ब और सवेद्य बिम्ब ।

दृश्यबिम्ब मे वस्तु का चित्र उभरकर हमारी आखो के सामने आ जाता है। कभी वह दृश्य स्वाभाविक-सा लगता है, कभी क्रियात्मक होता है और कभी अनेक व्यापारो से सवलित। मानसबिम्बो का सबन्ध भावात्मक और बोद्धिक होता है जिसमे कवि की चेतना स्थूल मे सूक्ष्म की ओर वढती है। सवेद्य बिम्ब पचेन्द्रियो की सवेदनात्मक, मानसिक अनुभूति किवा स्मृति पर आधारित रहता है।

उत्तरवर्ती कवि प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से पूर्ववर्ती कवियो से अप्रभावित नही रहते। हिन्दी कवियो का भी बिम्ब विधान प्राचीन सस्कृत - प्राकृत कविओ के बिम्बो का अनुकरण परिष्कृत रूपसे करते नजर आते हैं। मेघदूत के प्रस्तुत पद्य मे इस बिम्ब को देखिये -

हस्ते लीलाकमलमलके बालकुन्दानुविद्धं
नीता लोध्रप्रसवरजसा पाण्डुतामाननेश्री
चूडापाशे नवकुरवकं चारु कर्णे शिरीषं
सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्।

महादेवी वर्मा ने इसी लीला कमल को निम्न प्रकार से आकर्षक बिम्ब-विधान के रूप मे प्रस्तुत किया है।

जो तुम्हारा हो सके लीला कमल यह आज
खिल उठे निरुपम तुम्हारी देख स्मित का प्रात।
जीवन विरह का जल जात।

नीरजा - पृ १८ प्र स

भारतेन्दु युगीन काव्य बिम्ब विधान की दृष्टि से बहुत पीछे है। पारम्परिक बिम्बो का प्रभाव उनपर अधिक है। वे सूखे दृश्य चित्रो को प्रस्तुत करते है जिनमे वस्तु का अधूरा चित्र ही मिलता है, बिम्ब नही दिखाई देता। इसका मूल कारण था कवियो पर मध्य युगीन काव्य का प्रभाव। यह पभाव इतना अधिक था कि खडी बोली का विकास भी अवरुद्ध - सा हो गया। द्विवेदी युग मे यह अवरोध समाप्त हो जाता है और चित्रात्मकता प्रारम्भ हो जाती है। इस चित्रात्मकता मे परिवर्तित भावबोध अवश्य दिखाई देता है और राष्ट्रीयता का मूर्तिकरण, परन्तु स्थूल वस्तुवादी दृष्टि रहने के कारण उसमे सश्लिष्ट बिम्ब-योजना, ऐन्द्रिय सम्वेदना की परिपक्वता, विशिष्ट वैयक्तिकता और सूक्ष्म कल्पनात्मकता नही आ पाई। इस युग के श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त राम नरेश त्रिपाठी, रामचन्द्र शुक्ल आदि प्रमुख कवियो के काव्य बिम्बों मे अभिधात्मकता अधिक है, वर्ण-बोध और गन्धसम्वेदना कम है। इसके बावजूद प्रकृति मे वैयक्तिकता की पुट मिलने लगती है।

छायावादी कविओ मे यह वैयक्तिक अनुभूति और सूक्ष्म कल्पनात्मकता प्रखर हो जाती है। इसलिए भावबिम्बो की अधिकता प्राकृतिक सौन्दर्य की प्रकर्षता, अप्रस्तुत विधान मे नवीनता, पौराणिक बिम्बो मे अभिनवता, निजन्धरी बिम्बो मे प्रतीकात्मकता ऐन्द्रिय बोध में गहनता और सश्लिष्टता, वर्ण बोध की प्रचुरता जैसे तत्त्व सुमित्रानन्दन

पन्त, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला आदि कवियों के काव्य मे प्रचुरता से उपलब्ध है।

छायावाद का बिम्बात्मक प्राचुर्य कल्पनाजाल की अठ-खेलियों में जब अधिक खेलने लगा तो उसका इन्द्रिय-बोध क्षीण-सा होने लगा। नई कविता मे इसलिए बिम्बात्मकता कम है और वक्तृत्व शैली अधिक है। सामान्यीकरण सूक्तिमयता और वाक्यखण्डो की पुनरावृत्ति इस शैली की विशेषताये है। इन विशेषताओ में बिम्बात्मकता को कोई विशेष जगह नही रही। हॉ अपनी द्वन्द्वात्मक अनुभूति को अभिव्यक्त करने के लिए आधुनिक कविओ ने प्रकृति और बिम्ब का उपयोग साधन के रूप मे अवश्य किया है।

प्रगतिवादी कविता सामाजिक अह पर आधारित है। इसलिए वहा वगनवादी यथार्थ और विचार की प्रस्तुति अधिक है। सामाजिक, आर्थिक विषमता के बीज मे पल्लवित-पुष्पित जनाक्रोश और वर्गहीन समाजरचना की अवधारणा मे बिम्ब नही पनप सके। जो कुछ भी बने वे लोकजीवन की यथार्थता के चित्रण से बन सके। अत वस्तु बिम्बो के वीभत्स और भयानक चित्रण बडी सुन्दरता मे अकित हुए है। रामविलास शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल नागार्जुन की कविताये इस दृष्टि मे विशेषत दृष्टव्य है।

प्रयोगवाद और नयी कविता पुन बिम्ब की ओर बढी। उसमे नवीनता के आग्रह पर भावावेग विरहित चमत्कार मूलक बिम्बो की योजना ने भावशून्यता को जन्म दिया । फलत वैज्ञानिक और यांत्रिक बिम्बो का बाहुल्य आया, संश्लिष्ट इन्द्रिय-बिम्बो की सख्या बढी, चाक्षुसंबिम्बीय रग चेतना ने नया रूप पाया और यौन बिम्ब मुखर हुए। इससे छोटी-छोटी कविताओ ने जन्म लिया और औद्योगीकरण और पूजीवादी व्यवस्था की पृष्ठभूमि मे खण्डित और जटिल अनुभूति ने खण्डित बिम्बो का सृजन किया। धीरे - धीरे कविता बिम्बो मे मुक्त होने लगी, उसमे सपाट बयान भरे जाने लगे, भावबिम्बो मे आक्रोश, घृणा भय, अशिष्टता, शृगारिकता आदि मनोभावो का चित्रण स्वच्छन्दता, पूर्वक होने लगा और युवा पीढी नगी वास्तविकता का साक्षात्कार नग शब्दो में करने लगी। इस दृष्टि से अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, नरेश मेहता शमशेरबहादुर सिंग, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, अशोक वाजपेयी ,

धूमिल, कैलाश बाजपेयी, जगदीश चतुर्वेदी को प्रतिनिधि कवि के रूप में देखा जा सकता है। बिम्ब विधा के इस पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट है कि काव्य में कल्पना तत्त्व कवि की सृजन-शक्ति का द्योतक है। प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी ने समान रूप से कल्पना के महत्त्व को स्वीकार किया है। यह कल्पना कवि की अनुभूति और भावों की अनुगामिनी होती है। वह तो आत्मनिष्ठता का प्रतीक है चाहे वह प्रकृति से सम्बद्ध हो या सास्कृतिक चेतना से। कवि अपने सस्कार, जीवन तथा वातावरण के प्रति इतना सजग और सवेदनशील होता है कि वह उसके कल्पना रूप को व्याख्यायित करता चला जाता है। कवि का व्यक्तित्व और उसका आत्मदर्शन उसके हर पक्ष में प्रतिबिम्बित होता है। वह तो वस्तुत समानान्तर प्रवाहित होनेवाली एक अभिनव कार्यशक्ति है जिसका चित्रात्मक उद्घाटन कवि स्वानुभूति की तीव्र वेदना के साथ प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष वस्तुओ के परिपार्श्व मे कर देता हैं। डॉ रामकुमार वर्मा ने रूपनिर्धारण की दृष्टि से कल्पना को चार कोटिओ मे विभक्त किया है-स्वस्थ कल्पना, अतिरजित कल्पना, मानवीकरण प्रेरित कल्पना और आदर्श कल्पना। इनमे मानवीकरण प्रेरित कल्पना का सम्बन्ध उन्होने आध्यात्मिक पक्ष मे जोडा है। और आदर्श कल्पना को धार्मिक राजनीतिक, सामाजिक और व्यक्तिगत कोटि मे विभक्त किया है। इस विभाजन मे कवि की विधायक शक्ति और वस्तुगत तत्त्व की अवगति का निर्धारण किया जा सकता है। ये कल्पनाये कभी स्मृति पर आधारित होती हैं, तो कभी आप्त मान्यताओ या एतिहासिक पौराणिक कल्पनाओ पर तो कभी यह वह मूलक प्रत्यभिज्ञा पर। विभाजन कैसा भी कर ले, पर रचनात्मक, विदग्धता और चित्रात्मकता कल्पना का प्रमुख गुण माना जा सकता है।

मूक माटी मे बिम्ब योजना बडे सशक्त ढग से हुई है। उसमे दृश्य, मानस और सवेद्य तीनो प्रकार के बिम्ब देखे जा सकते है। मूक माटी का प्रारम्भ ही प्राकृतिक सौन्दर्य के दृश्य बोध से होता है जहा सीमातीत शून्य मे निशा का अवसान हो रहा है भानु की निद्रा टूट रही है और सिन्दूरी धूलि - सी दिखाई दे रही है। इसमे कल्पना का आनन्द लीजिए -

लज्जा के घूघट मे
डूबती - सी कुमुदिनी
प्रभाकर के कर छुवन से

बचना चाहती है वह
अपनी पराग को
सराग मुद्राको
पखुरियों की ओट देती है।

अधखुली कमलिनी
डूबते चाद की
चादनी को भी नहीं देखती
आखे खोलकर
ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना
सब के वश की बात नहीं।

मूक माटी, पृ २

वर्षा काल मे झोपडी मे टप-टप पानी गिरना (पृ ३२) और शीतकाल मे हिमपात का देखना कवि को बडा सुहाता है और वह प्रकृति मे बात करता - सा लगता है-

हा ! अब चलती
शीतकाल की बात है
अवश्य ही इसमे
विकृति का हाथ है
पेड-पौधो के
डाल- डाल पर
पात-पात पर
हिमपात है

और, इसी को
हा मे हा मिलाता
प्रकृति के साथ
मलिन मन, कलिन तन
बात करता वात है।
कल-कोमल कायाली
लता लतिकाये ये
शिशिर छुवन से पीली पडती-सी
पूरी जल - जात है।

मूक माटी-पृ.९०

शिशिर ऋतु मे दात नर्तन-स करन लगत है और प्रभाकर की प्रखरता उठती बिखरती-सी लगती है (पृ ९१)। निदाघ ऋतु का उत्प्रेक्षात्मक परिणाम देखिये -

दशा बदल गई है
दशों दिशाओं की
धरा का उदारतर उर
और उरु उदर ये
गुरु-दरारदर बने हैं
जिनमे प्रवेश पाती हैं
आग उगलती हवाये ये
अपना परिचय देती-सी
रसातल- गत उबलते लावा का

नील नीर की झील
नाली - नदियां वे
अनन्त सलिला भी
अन्त सलिला हो
अन्तः सलिला हुई हैं।

इसी क्रम में यहा षड्ऋतुओ का वर्णन आलकारिकता लिये हुए है जो इन्द्रिय बोध से साक्षात्-सा लग रहा है। तृतीय खण्ड मे कल्पना की प्रखरता अधिक दिखती है। वर्षा का वर्णन और देखिये जहा धरती को अपमानित करने चन्द्रमा के निर्देशन में जल अत्यन्त तेजी से आगे बढा शातरजी चाल चलने और धरती पर पैदा करने लगा दल-दल अखण्डता को मिटाने (पृ १९६) ।यही जलधि (पृ १९८) और तीन वदलियो का वर्णन भी मनोहारी है। वर्षा वर्णन (पृ २४१), धरती कण (पृ २८३), बादल दल (पृ २४६),बिजली (पृ २४०), सौर और भूमण्डल (पृ २४९), ओलावृष्टि (पृ २६२), अवा धुआ (पृ २७९) आदि के वर्णन भी एक सजीव दृश्य पैदा कर देते हैं।

स्वाद के ऐन्द्रिय बिम्ब छायावादी काव्य मे कम मिलते हैं। जैसे कामायिनी में मिलता है-- "पवन पी रहा था शब्दो को, निर्जनता की उखडी सास। आचार्यश्री तो त्यागी हैं, विरागी हैं, वे उसी विरागता की बात स्वादेन्द्रिय के विषय मे करते हैं -

अनुचित सकेत की अनुचरी
रसना ही
रसातल की राह रही है।
यानी जो जीव
अपनी जीभ जीतता है,
दु:ख रीतता है उसी का

सुखमय जीवन बीतता है
चिरंजीव बनता है वही
और उसी की बनती
वचनावली
स्व-पर दु:ख निवारिणी
संजीवनी वटी ---

- मूक माटी -- पृ.११६

इसी तरह के सवेद्य दृश्य नेत्र नासा (पृ.११७-१९),वाणी (पृ १३८) के भी देखिये। चाक्षुष बिम्बों मे जैसी सवेदनशीलता दिखाई देती है वैसी ही रग चेतना मे वह सबसे आगे है। बादल के तीन दलों के साथ तीन रगों की मीमासा हुई है -

पहला बादल इतना काला है
कि जिसे देखकर
अपने सहचर साथी से विछुडा
भ्रमित हो भटका भ्रमर दल
सहचर की शका से मानो
बार बार इससे आ मिलता
और निराश हो लौटता है
यानी
भ्रमर मे ही अधिक काला है
यह पहला बादल

दूसरा -दूर से ही
विष उगलता विष धर-सम नीला
नील-कण्ठ, लीला -वाला,
जिसकी अग से
पका पीला धान का खेत भी
हरिताभा से भर जाता है
और
अतिम दल
कबूतर रग वाला है
यूं ये तीनो
तन के अनुरूप ही मन से
कलुषित हैं।

बिम्बयोजना और अलकार सौन्दर्य का यह सुन्दर सामञ्जस्य आचार्यश्री की अमर कृति मूक माटी के पत्रों पत्रो पर अंकित है। यह अकन कही-कही नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, शमशेर बहादुरसिह आदि जैसे नये कवियोसे भी बढकर दिखाई देता है। इस रग चेतना में आध्यात्मिक चेतना का रग अधिक भरा हुआ है। इसलिए उसमें सयतता और माधुर्य अधिक है जो अन्य कवियो में उपलब्ध नही होती।

प्रतीक योजना

ध्वनि में सामान्य अर्थ गौण हो जाता है और कोई विशेष अर्थ अभिव्यञ्जित होने लगता है। कवि जिस विशेषार्थ की ओर संकेत करना चाहता है वह उसकी अनुभूति और चिन्तन पर आधारित होता है। इसलिए प्रतीक का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उस व्यापकता को समास पद्धति में समेटना प्रतीक का काम है। इसलिए प्रतीक में उपमेय का निगरण हो जाता है। मात्र उपमान के माध्यम से वह अप्रस्तुत वस्तु के रूप, गुण और भाव को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न करता है, अदृश्य वस्तु के दृश्य रूप को संकेतित करता है और सादृश्य की अपेक्षा भावव्यञ्जना पर अधिक बल देता है। इस दृष्टिसे चाहे बेवस्टर, वेली और कालरिज जैसे पाश्चात्य विद्वानो की परिभाषाये हो अथवा दण्डी, वामन, भामह, कुन्तक, अभिनवगुप्त आदि भारतीय काव्यशास्त्रियो के मन्तव्य हो, सभी आचार्य समरसता पर जोर देते हैं जो मानवीय सवेदना और स्वानुभूति से उत्पन्न होती हैं। वही उसका साधारणीकरण है।

प्रतीक का सम्बन्ध शब्द शक्ति की ध्वनि शैली से है, व्यगार्थकता से है। चाहे हम उसे वक्रोक्ति कहे या प्रतीयमान अलकार, रूपक कहें या प्रतीक, सर्वत्र वस्तु के अप्रस्तुत रूप पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। यहां इन सारी विधाओ पर बारीकी से विचार करना हमारा अभिधेय नही है। हम मात्र इतना कहना चाहते हैं कि प्रतीक अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम रहा है जिसमें मानवीकरण के माध्यम से अनुभूति - प्रवणता का सुन्दर समावेश रहता है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही प्रतीकों का प्रयोग हुआ है। प्रारम्भ मे किसी विचार, भाव अथवा धारण को व्यक्त करने के लिए चिन्ह का प्रयोग किया जाता था। बाद में अग्नि, वृक्ष आदि को प्रतीक के रूप में लाया गया। धीरे - धीरे अध्यात्म और मनोविज्ञान भी उससे जुड गया। फलत. ब्रह्म ओम्, त्रिमूर्ति आदि की अवधारणा का विकास हुआ। यह विकास धार्मिक, काव्यात्मक, मनोवैज्ञानिक, भाषिक, वैज्ञानिक, तात्त्विक, साहित्यिक, सास्कृतिक आदि जैसे सभी क्षेत्रों में होता गया और चेतन, अचेतन, दृश्य, अदृश्य सभी तत्त्वो को उसने अपने परिकर में समेट लिया। नये-नये प्रतीकों का जन्म होता गया और उनमें नयी उद्भावनायें समाहित होती गई। ये उद्भावनायें सांस्कृतिक, पौराणिक, प्राकृतिक, वैज्ञानिक, दार्शनिक और राजनीतिक प्रतीकों के माध्यम से हो पायी हैं।

प्रतीक परम्परा के साथ मानवीय अनभुति और उसकी अभिव्यक्ति जुड़ी हुई है। इसलिए इसका क्षेत्र बडा व्यापक है। गणित, ज्योतिष, कर्मकाण्ड आदि सारे क्षेत्र प्रतीको के प्रयोग से भरे हुए हैं। पर साहित्य और कला मे उनका विशेष महत्त्व है। प्रतीक का प्रयोग बिना कल्पना और सूक्ष्म निदर्शन से नही होता। समास पद्धति का आश्रय लेकर प्रतीक के माध्यम से अपनी अनुभुति को उजागर किया जाता है। इसमें उपमेय का निगरण हो जाता है। किसी सीमा तक गुण और स्वभाव मे समता दिखाई देने पर प्रतीक का प्रयोग किया जाता है।

वेबस्टर, जार्जवेली, कालरिन आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानो ने प्रतीकों पर सघनता पूर्वक विचार किया है और इसी तरह भारतीय विद्वानो ने भी उसपर गहराई से चिन्तन किया है। उन सभी के चिन्तन से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रतीको मे भावोद्बोधन की अपूर्व क्षमता होती है। उनकी साकेतिकता एक विशिष्ट मूल्य का प्रतिनिधित्व करती है। वे सत्यान्वेषण और सत्य प्रतीति कराने मे अत्यन्त सहायक सिद्ध होते हैं। इस दृष्टि से उन्हे विशेष सकेत चिन्ह के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

कल्पना का उपयोग प्रतीक के समान बिम्ब मे भी होता है पर अन्तर यह है कि बिम्ब मे मूर्तिकरण और चित्रात्मकता की प्रकृति पर विशेष बल रहता है, उसमें समग्रता रहती है जबकि प्रतीक चित्राकन का मात्र सकेत करता है। कल्पना स्थूल विचारो को सूक्ष्मता प्रदान करता है जबकि बिम्ब सूक्ष्म को स्थूल और मूर्त रूप देता है। यद्यपि प्रतीक और बिम्ब अन्योन्याश्रित रहते हैं, दोनो मे उपमान आवश्यक रूप से रहता है पर जब बिम्ब किसी निश्चित अर्थ मे रुढ हो जाते हैं तो उन्हे प्रतीक माना जाता है अर्थात् गतिशील उपमान बिम्ब का निर्माण करते हैं और निश्चित अर्थो में रूढ बिम्ब प्रतीक का। प्रतीक प्रयोग के लिए प्रकृति-दर्शन के क्षेत्र में कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति होना चाहिए, उसमे अभिव्यञ्जना का विशेष गुण होना चाहिए। प्रतीक के लिए सादृश्य की आवश्यकता नही पर उपमान मे सादृश्य का आधार रहना आवश्यक है। प्रतीक मे प्रस्तुत का निरूपण होता है, अर्थ - सकोच होता है, और अर्थ-विस्तार होता है।

इस प्रकार प्रतीक सूक्ष्म अनुभूति को और उसके अकथनीय अंश को कथनीय और प्रेषणीय बनाने का एक सशक्त साधन है। उसमे वस्तु के कुछ तत्त्व प्रच्छन्न रह जाते हैं और

कुछ अभिव्यक्त हो जाते है। यह प्रच्छन्नता और अभिव्यक्ति अपना, रूपक या अन्योक्ति के आधार पर हुआ करती है। उससे उसका अप्रस्तुत और प्रतीयमान अर्थ निर्दिष्ट हो जाता है।

काव्य जगत में उत्कृष्ट बिम्ब प्रतीक का रूप धारण कर लेते हैं पर प्रतीक में चित्रात्मकता अवश्यक नही रहती जबकि बिम्ब विधान बिना चित्रात्मकता के रह नही पाता । सहजानुभूति की मूर्त अभिव्यक्ति प्रतीक के माध्यम से होती है पर सवेदन प्रधान कवि प्रकृति प्रेमी होते है और वे अप्रस्तुतो मे वस्तु सयोजन करते हैं । प्रसाद की दृष्टि में प्रतीक रहस्यानुभूति को मूर्त बनाने और सवेदना को आकार देने का माध्यम है जबकि पन्त उसका सम्बन्ध मानव चेतना के विकास के साथ करते हैं। डॉ रामकुमार वर्मा ने प्रतीक को शब्दशक्ति ध्वनि की शैली माना है । प्रतीक के प्रति इन अवधारणाओं से पता चलता है कि साधारणत प्रतीक को अप्रस्तुत के साथ बैठा दिया जाता है । उपमा, रूपक, अप्रस्तुत, रूपकातिशयोक्ति, प्रतीक आदि अलकारो मे किसी न किसी रूप में प्रतीक अप्रस्तुत के रूप मे रहता है अवश्य पर प्रतीक मे जो अर्थवत्ता और कलात्मकता रहती है वह इन अलकारो मे नही रहती। प्रसाद के प्रतीक मुख्यत प्रकृतिदत्त हैं, निराला के साधनात्मक, पन्त के ध्वन्यात्मक और महादेवी के रहस्यात्मक और स्वप्नपरक हैं । छायावादी ये प्रतीक अधिका शत अप्रस्तुत अथवा उपमान मूलक हैं जिनमें अनेकार्थकता और लाक्षणिकता अभिव्यञ्जित हुई है।

बिम्ब और प्रतीक अभिव्यञ्जना को और भी प्रभावक बना देती है। भावपक्ष और कलापक्ष इसी के प्रतिरूप है । इनसे कथ्य और शिल्प की सश्लिष्टता तथा अनुभूति की सघनता अभिव्यक्त हो जाती है। चामत्कारिकता काव्य का मुख्य अग है और वह तब तक प्रभावक नही होता जब तक काव्यानुभूति को व्यक्त करने का सशक्त साधन उसकी प्रतिभा निश्रित न हो ।

भारतेन्दु युगीन कविता परम्परा से जडी हुई थी । द्विवेदी युग में वह परम्परा टूटती नजर आती है और नयी प्रवृत्तिया अकुरित होती दिखायी देती हैं। राष्ट्रीयता, पुनरुत्थानवादी एव सुधारवादी चेतना ने कवि के मन मे रूढि युक्त होने के भाव भरे और छायावाद ने उसमे सूक्ष्मता, स्वच्छन्दता और ध्वन्यात्मकता का अकन किया । औद्योगीकरण और नगरीकरण ने काव्यानुभूति के लिए नया क्षेत्र दिया। छायावादोत्तर काल की इस प्रवृत्ति

मे व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन मिला, पूजीवादी और समाजवादी व्यवस्था पनपी, नारी आकर्षण ने मुक्तरूप लिया, हालावादी प्रवृत्ति बढी, प्रगतिवादी चेतना अकुरित हुई, प्रयोगवादी वृत्ति को प्रेरणा मिली और नयी कविता का जन्म हुआ, नये उपमानों ने स्थान पाया, बिम्ब और प्रतीक काव्य के आधार बने, और जीवन की विसगतियों को उजागर किया गया। आधुनिक हिन्दी कविता मे विषय की अधिकता और विविधता इतनी अधिक है कि उसे विषय का ठीक चुनाव करना कठिन हो जाता है । सामाजिक और सास्कृतिक गतिशीलता ने कवि को नयी मानसिकता दी, वैयक्तिक, सामाजिक और राजनीतिक सुधारणा का सकल्प जागा, यथार्थवादिता के प्रति लगाव हुआ और ऐसे विषयो पर कविताये लिखी जाने लगी जिनपर कविता लिखने की बात कभी पूर्ववर्ती कवियो ने सोची भी नही होगी। ऐसी कविताओ मे व्यक्तिवादी स्वर तीव्र हो गया, उससे अह फूटने लगा और तरह तरह का आक्रोश व्यक्त होने लगा। पर यह तथ्य दृष्टव्य है कि कवि जगत मे इस समूचे युग मे आध्यात्मिकता एक ऐसा विषय रहा है जो कभी सूख नही पाता । यह बात अलग है कि यह आध्यात्मिकता कभी बौध्दिक स्तर पर ओढी गई है पर किसी न किसी रूप मे वह कवि हृदय में टिकी अवश्य रही है । प्रतीक काव्यात्मक सौन्दर्य को द्विगुणित करता है भावसप्रेषण कर । भावसप्रेषण के क्षेत्र मे प्रतीक का इतिहास बहुत पुराना है। वैदिक, जैन और बौद्ध चिन्तको ने इनका बहुत प्रयोग किया है। इन प्रयोगो के आधार पर हम स्थूल रूप से उन्हें दो भागो मे विभाजित कर सकते हैं १ परस्परागत प्रतीक, और २ नवीन प्रतीक । नवीन प्रतीको को पाच भागो मे बाटा जा सकता है - १ सास्कृतिक प्रतीक - पौराणिक ऐतिहासिक अथवा धार्मिक प्रतीक, २ प्राकृतिक प्रतीक - लौकिक और आध्यात्मिक अभिव्यक्ति के लिए। ३ वैज्ञानिक प्रतीक, ४ दार्शनिक प्रतीक ५ राजनीतिक प्रतीक, ६ मौन प्रतीक, और ७ वैयक्तिक प्रतीक

इन प्रतीको मे आचार्यश्री विद्यासागरजी ने पौराणिक और प्राकृतिक प्रतीको का विशेष प्रयोग किया है । पौराणिक प्रतीको में लक्ष्मणरेखा, राम, रावण (पृ ९८) का प्रयोग प्रतीक के रूप में मूक माटी मे हुआ है पर इससे अधिक नही । सर्वाधिक प्रयोग तो प्राकृतिक प्रतीको में हुए हैं। जिनके माध्यम से कवि ने आध्यात्मिक चेतना जागृत करने में सफलता पाई है। मूक माटी के ये प्रतीक इस प्रकार देखिये -

मूक माटी यह एक ऐसा आध्यात्मिक रूपक काव्य है जिसमें माटी रूप मुमुक्षु आत्मा का मंगलकलश रूप मोक्ष प्राप्ति तक का चरम विकास बड़ी विदग्धता से वर्णित हुआ है। माटी मे उपादान शक्ति है। उसकी इस शक्ति का पूर्ण आभास कुम्भकार रूप गुरु को हो जाता है। कुम्भकार माटी की सकरित अवस्था को दूरकर विभावों को समेटकर मौलिक मृदुरूप में पहुंचा देता है। कुम्भकार को माटी की उपादान शक्ति पर पूर्ण विश्वास है। उसे वह मगलकलश तक पहुचाने का प्रयत्न करता है। उषाकाल में जो मान और अप्रमाद का प्रतीक है। सरिता ससार का और धरती मां अन्तश्चेतना के प्रतीक हैं। अधखुली कमलिनी और उषा के कार्यकलाप ईर्ष्या के प्रतीक हैं, जो कुम्भकार - गुरु के उपदेश से अपनी ईर्ष्या छोड़कर सहयोग का वातावरण प्रस्तुत करते है । मृदु माटी रूप आत्मा सरिता रूप ससार मे अनादिकाल से तिरस्कृता-सी पड़ी हुई है, कर्म-पुद्गलो से आबद्ध और अज्ञानता से सनी हुई। उषा रूप ज्ञान के प्रकाश से उसका अज्ञान छट जाता है। ज्ञान-रश्मि से प्रकाश फैलता है और मुक्ति कामना जागृत होती है जो जिज्ञासा और सकल्प का प्रतीक है। सकल्पी दृष्टि का आभास मुमुक्षु आत्मा सरिता-तट की माटी अपनी धरती मा से करा देती है और धरती मा उसे अश्वस्त करती है यह कहकर कि अनगिनत सभावनायें बीज मे रहती हैं उत्थान पतन की, अकुरित होकर वह विशाल काय धारण कर लेता है। बस, इस रहस्य को तू समझ ले और आस्था पूर्वक अपना जीवन बदल ले (पृ ७-८)। धरती मा का यह उपदेश सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए था जहा साधक अपनी शक्ति को पहचान लेता है और साधना के स्वर उसके अन्त करण में गुजित होने लगते हैं।

आस्था और सकल्प को सजीव बनाने के लिए सत्सगति आवश्यक हो जाती है। जैसी सगति होगी वैसी मति होगी। साथ ही उसे स्वय को साधना के साचे में ढालना होगा। स्वय के पुरुषार्थ के बिना मुक्ति कहा? आत्मबोध की अनुभूति बिना सम्यग्दर्शन कहा ? धरती मा के स्नेहिल उपदेश ने माटी को उत्साहित किया और माटी का सकल्प दृढ से दृढतर होता गया। यही संकल्प जीवन की प्रभात यात्रा है, उसका स्वर्णिम अध्याय है। मृदुमाटी के सकल्प भेदभावों को परखकर धरती मा को अपार सुख अर आनन्द का अनुभव होता है उसी तरह जिस तरह एक ममता भरी मां को अपने होनहार बेटे के विकास की घड़ियों को देखकर होता है।

माटी की उपादान शक्ति को प्रस्फुटित और फलदायी बनाने के लिए किसी निमित्त की आवश्यकता होती है। वह निमित्त कुम्भकार कुशल शिल्पी के रूप में आ जाता है। कुम्भकार गुरु का प्रतीक है जो स्वय चरित्रनिष्ठ होता है, स्थितप्रज्ञ और हितमितभाषी होता है। वह मृदु माटी को कुदाली रूप उपदेश से तितर-वितर करता है, उसकी परीक्षा लेता है। कुदाली के घावो से उसपर कुछ भी विकृत भाव न देखकर कुम्भकार उसे शिल्प के रूप मे स्वीकार कर लेता है और मगलाचरण पूर्वक उसे मगलकलशतक पहुचाने की प्रक्रिया शुरु कर देता है। इस बीच माटी भी अपनी अतीत स्मृति की करुण गाथा गाती है, पुराने जीवन की स्थिति का स्मरणकर अश्रु प्रवाहित करती है जो इसका प्रतीक है कि साधक को जब सही मार्ग और सही मार्ग दृष्टा मिल जाता है तो वह आल्हादित होकर अपना वखान करने लगता है। गुरु भी उस गाथा को सुनकर भावोद्रेक हो उठता है और माटी का बनाने की सकल्पना को दृढ कर लेता है।

माटी क्षमा और सहिष्णुता का प्रतीक है। और मुक्त गधे का उपयोग इस वृत्ति को ध्वनित करता है कि व्यक्ति बिना कुछ खर्च किये अपना काम निकालना चाहता है। माटी की धार्मिकता हृदयद्रावकता और साधारणीकरण तब दिखता है जब वह गधे के पीठ के घाव से रिसते हुए द्रव का आभास करती है। रज्जुसे उसका बाधा जाना धर्मबन्धन का प्रतीक है। उपाश्रय उस योगशाला की ओर सकेत करता है जहा गुरु अपने शिल्पो को सम्यग्दर्शन का पाठ पढाकर जीवन का निर्माण करता है। ओलो की वर्षा का प्रसग अशुभ लेश्या, गन्धवान पवन, सद्भावो का सघात तथा पौधे पर लगा फूल शुभ भाव का प्रतीक है।

उपाश्रय मे लाकर कुम्भकार उस मिट्टी मे मिले ककडो को अलग करता है, उसके विभागो को दूर करता है। उसमे जल मिलाकर उसे मृदु बना दिया जाता है जो उपदेश को अन्तर्भूत करने की दशा का सकेत है। ककर वैभाविक परिणतियोका प्रतीक है जो ककर होते हुए भी उस अवस्था को स्वीकार नही करते बल्कि उल्टे प्रश्न करते हैं। ऐसे

लोगों में माटी के समान माटी में साथ रहकर भी नमी कहां आती ? फिर भी माटी कंकरो की अभ्यर्थना पर उन्हें सयम पर चलने की सलाह देती है।

कुम्भकार माटी को फुलाने की प्रक्रिया शुरु करता है। सर्वप्रथम वह बाल्टी को कुए मे डालता है। बाल्टी एक प्रतीक है आराधना का और रस्सी के बीच गाठ आना प्रतीक है व्यवधान के आने का जिसे कुम्भक प्राणायाम के माध्यम से दूर किया जा सकता है। गाठ मिथ्यात्वादि परिग्रह का प्रतीक है। उसका खोलना और खुल जाना सरल नहीं है। उसके लिए आवश्यकता है एक अहिसक और सयमी गुरु की, जो स्वय निर्ग्रन्थ हो, वीतराग हो। कूप ज्ञान सागर का प्रतीक है और मछली उस व्यक्ति का जो मिथ्या दृष्टि से ग्रसित होकर कूप-मण्डूक-सा बना हुआ है। बाल्टी एक शरण है जो दृढ सकल्पी मछली को मिथ्यात्व से बाहर लाने का काम करती है। दूसरी मछलिया उसके इस कार्य पर सतोष और प्रसन्नता व्यक्त करती हैं। यहा काटा क्रोध और मान जैसे विकार भावो का प्रतीक है और मिट्टी की बोधनवृत्ति उसके विनयशील स्वभाव का। बाल्टी से बाहर खुले वातावरण मे पहुचकर बाल्टी से उचटकर माटी की गोद में गिर जाती है जहा माटी -और मछली का सुन्दर सवाद किया गया है। उस सवाद मे माटी मछली को सबोधित करती है और शिल्पी कुम्हार को कषाय के उपशमन रूप सल्लेखना देने की सलाह देती है। यह दो भव्यात्माओ के मिलन का प्रतीक है।

मूक माटी को सृजनशील जीवन का प्रारभ शब्द बोध से आत्मबोध की ओर बढता है। पानी रूप सद्भाव के मिश्रण से माटी मे चिकनापन रूप आद्रता-निर्विकार भाव आता जाता है। और द्वेषिल भाव रूप रूखापन दूर होने लगता है। इसी बीच माटी के अन्दर टूटे काटे का रूपक खडा कर दिया जाता है। जिसमे बदले की भावना अकुरित होती दिखती है। माटी यह देख उसे सहलाती है, समझाती है, यही फिर बीच मे गुलाब के पौधे को रूपक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जो निर्ग्रन्थ वेष काटो का ताल है इसकी सूचना देता है। काटा भी बोध पाकर निवृत्त हो जाता है प्रतिशोध के भाव से।

इधर शिल्पी कुम्भकार माटी को पैरो से रौदकर घडे लायक तैयार करता है। माटी शान्ति पूर्वक यह सब सहती चली जाती है जो परीषह और उपसर्ग सहन करने का प्रतीक है। माटी के कुचलने के भाव से कुम्हार हतप्रभ होता दिखता है तब माटी आस्था और सम्यग्दर्शन की बात करती है, चेतना को सही दिशा देती है । यहां भावो में आलोडन-विलोडन का अच्छा चित्रण है। बाद मे मिट्टी के लौदे को चाक पर रखा जाता है जो ससार-चक्र का प्रतीक है। शिल्पी के उपयोग से मिट्टी घडे का आकार लेने लगती है। यहां कविने पदार्थ की उत्थान -पतन की कथा को रूपक के माध्यम से कह दिया कि मान से विमुख होने पर उत्थान होता है और रति सहगत ज्ञान होने पर व्यक्ति का पतन होता है।

घडा तैयार हो जाता है साधना के माध्यम से जिसे बजाकर उस केखरे-खोटे की पहचान की जाती है। यह भी एक रूपक ही है। कुम्हार की कुम्भ पर चित्रकारिता होती है। घड के कर्णस्थान पर ९९ और ९ की सख्या उतारी जाती है। प्रथम सख्या अक्षय स्वभावा और आत्मतत्त्व उद्‌बोधिका के रूप मे स्वीकारी गई है। ससार निन्यानवे का चक्कर माना जाता है। ६३ की सख्या का चित्रण भी इसी तरह प्रतीकात्मक है। इसी तरह कलश पर सिंह और श्वान का चित्र बनाया जाता है। सिंह स्वतन्त्रता और स्वाभिमान का प्रतीक है और श्वान इसमे बिल्कुल विपरीत स्वभावी है। इसी तरह कुम्भ पर कछुआ और खरगोश के भी चित्र रहते हैं जो साधना की विधि को प्रतीकात्मक ढग से समझाते हैं। ही और भी अक्षर क्रमश एकान्तवाद और अनेकान्तवाद के रूप को व्यक्त करते है। 'मर हम और दो गला' जैसे चित्रित शब्दो की भी प्रतीकात्मकता को यहा स्पष्ट किया गया है।

कुम्भ के तपने की अब प्रक्रिया प्रारभ होती है। यहा पार्थिव आग्नेय और जलीय तत्त्वो मे सघर्ष होता है जो क्रमश आत्मा धरती और प्रतिरोधक शक्ति के प्रतीक है। जलीय अश बिना तप रूप अग्नि के जा नही सकता । तप के बिना साधना पूरी नही होती । इसी सदर्भ मे यहा ऋतुओ का सुन्दर वर्णन है और द्रव्य की परिभाषा का मार्मिक चित्रण है।

कुम्भकार कुछ समय के लिए प्रवास मे चला जाता है । कवि उसकी अनुपस्थिति में जलधि, प्रभा नारी आदि का रूपकात्मक वर्णन करता है। बदलियों (अज्ञान) में बिखराव आने के कारण धरती और प्रभा का मिलन होता है। फलत: मेघमाला से मुक्ताओं

की वर्षा होती है जिसे उठाने के लिए जनता और राजमण्डली हाथ फैलाती है। पर मुक्ता को छूते ही उन्हें बिच्छु के डंक जैसी वेदना होने लगती है। धन के प्रति आसक्ति का यह प्रतीकात्मक फल है। राजा भी दु खी होता है। सात्विक कुम्भकार इसी बीच आ जाता है और भक्तिवश प्रार्थनाकर उससे क्षमा-याचना करता है।

इस बीच भीषण प्रकोप होता है जो मानसिक सघर्ष का प्रतीक है। यह शिल्पकार की सात्त्विकता है कि फिर भी यह विचल नही होता। यह शिल्पकार की सात्त्विकता है कि फिर भी वह विचल नहीं होता। कुम्भ और कुम्भकार एक दूसरे की आत्मा की परिपक्व अवस्था पर प्रसन्नता व्यक्त करते हैं। फिर भी अभी कुम्भ की परीक्षा तो शेष है ही। उसे अवा मे पकने रखा जाता है जो यम-नियमो की साधना का द्योतक है। आग जल्दी पकडने के उद्देश्य से बबूल आदि की लकडिया रखी जाती हैं। उनसे धूम निकलता है जो तप रूप अग्नि से दग्ध विभावो का प्रतीक है। फलत कुम्भ की काया में अभूतपूर्व परिवर्तन आया जो कुम्भ के व्यक्तित्व का प्रतीक है। यहां अग्नि और कुम्भ का सवाद है जिसमें ससार की क्षणभगुरता पर प्रकाश डाला गया है। कुम्भकार स्वप्न देखता है - अवा पक गया है। वह अवा से ज्यो - ज्यो राख फावडे से अलग करता है त्यो - त्यो कुम्भ का मनोरम रूप दिखाई देने लगता है जो कर्म से मुक्त होने की अवस्था का सूचक है। वह मगलकलश बनने की ओर आगे बढता है। सेठ उसे खरीदने के लिए उसकी परीक्षा करता है। खरीदकर उसे ओकार आदि लिखकर सजाता है। मगलकलश बनाकर साधु को आहार देने के लिए उसका उपयोग करता है। स्वर्णकलश को इससे ईर्ष्या होती है जो धनमद का प्रतीक है। यहा माटी की विशेषता का उल्लेख किया है कवि ने। उसने कहा कि स्वर्णकलश (धन) का पैर पाप से सना रहता है ईर्ष्या से जला रहता है। वह माटी का ही उच्छिष्ट रूप है पर माटी स्वय दया से भीगती है और औरो को भी भिगाती है, उसमे अकुरित बीज लहलहाता है, समता का पाठ पढाता है। चिन्तक कवि ने इन दोनो के अतर को दीपक और मशाले का रुपक देकर भी स्पष्ट किया है। दीपक सयमशील, मितव्ययी, नियमित, स्व-पर प्रकाशक और समग्रतासे साक्षात्कार करने वाला होता है पर मशाल इसके विपरीत होती है दुराशयी, अतिव्ययी और भयभीतकारी। माटी की इन विशेषताओ के कारण ही आचार्य श्री ने अपने काव्य मे रूपकतत्त्वो मे उसे शीर्षस्थ स्थान दिया।

झागे, स्फटिकमणि आदि पात्रो से माटी का सवाद कराया कवि ने इस प्रतीक रूपक के साथ कि सात्त्विक और प्रकृति वालों के बीच ऐसे विवाद होते ही है, मच्छर और मत्कुण के माध्यम म कवि ने धार्मिको की भी तीव्र आलोचना की। सेठ की ज्वर शान्ति के सदर्भ मे प्राकृतिक चिकित्सा को व्यावहारिक और अहिसक बताया माटी के उपयोग के माध्यम से। स्वर्णकलश पुन. ईर्ष्या से जलने लगता है, गजदल उसको शान्त करता है। धीरे धीरे अतकवाद समाप्त होने लगता है । फिर भी तीव्र वर्षा होती है जिससे पेड पौधे बहन लगते है। कुम्भ के सहारे सेठ का परिवार वर्षा के वेग को पार कर लेता है। सेठ के शान्तिपूर्ण वचनो को सुनकर आतकवाद ने अपने हथियार डाल दिये और दल के प्रत्येक सदस्य ने एक-दूसरे को आदर के साथ सहारा दिया। इस तरह आतकवाद का अत और आनन्दवाद का श्रीगणेश हुआ। सभी तट पर वापिस आ गये ।

माटी के इस रूपक म कवि ने यह सिद्ध करना चाहा कि उपादान कारण- कार्य का जनक है पर निमित्त की कृपा भी अनिवार्य है। माटी उपादान है और कुम्भकार निमित्त है, गुरू है। गुरू रूप कुम्भकार के साहचर्य से मिट्टी की उपादान शक्ति अपने आपको मगलकलश जैसी चरम उत्कर्षावस्था तक पहुचाने मे सक्षम हो जाती है। यही स्थिति हर पदार्थ के साथ सबद्ध है । माटी शुद्ध प्राकृतिक प्रतीक है जिसका प्रयोग आचार्यश्री विद्यासागर जी ने अपनी कृति मूक माटी मे अनेक सन्दर्भो मे किया है। इस प्रतीक को हम हिन्दी म आधुनिक कवियो के द्वारा प्रयुक्त प्राकृतिक प्रतीको के साथ विशेष विचार कर सकते है ।

छायावादी कवियो का प्रकृति स बडा प्रेम रहा है। इसलिये उनके काव्यो म प्राकृतिक प्रतीक बहुत मिलते है। कुछ इस प्रकार है - झझा ज्योत्स्ना, बादल, बिजली उषा मुकुल मोती मछली जल लहर तट, सर सरि, सीपी पतझड फुलझडी, कुसुम भ्रमर, क्यारी पर्वत पाषाण निशा आलोक, अन्धकार कटक, झरना, तरी, तूफान, मधुमास, पतझड सूर्य चन्द्रमा किरण दल, विहग कोकिल बुलबुल, पराग, तारक, शिखर, सोनजुही, शेफाली, कमल, वडवाग्नि, सागर चातक झाड, निर्झर हिमालय, सौरभ, शशि पावस, ग्रीष्म यूथी, मल्लिका, मधु, मकरन्द, पतवार नलिनी, तुहिन, कण, जुगनू, क्षितिज, कुन्द, गगा दिवस, सन्ध्या, पक, ज्वाला, शिखा, सावन आदि इन प्रतीको मे छायावादी कवियो के वैयक्तिक अनुभव गुथे हुए हैं। व चाहे आध्यात्मिक

रहस्यवादी अनुभूतिओ के हो या अतृप्त यौन आकाक्षाओं के। यहां काम प्रतीक ही स्वप्न प्रतीको एवं आध्यात्मिक प्रतीकों में परिवर्तित हो गये हैं।

छायावाद और प्रयोगवाद के बीच का हिन्दी काव्य प्रतीक विधान की दृष्टि से अधिक सम्पन्न नही कहा जा सकता। उत्तरछायावादी गीतकाव्यो मे प्रतीको की न केवल सख्या कम है अपितु उनका प्रतीकार्थ भी स्थूल, सरल एवं एकायामी है। उसमे वीणा, तार, धूल फूल, दीपक, शलभ भ्रमर आदि अनेक ऐसे प्रतीक रूढ प्रतीकार्थो में प्रयुक्त हुए है जो या तो युग के सिद्ध प्रतीक हैं या छायावादी कविता मे रूढ हुए हैं। जीर्णपत्र ज्वालामुखी, सूर्योदय, मछली गुलाब, कुकुरमुत्ता, धरती, तूफान, पानी, अगूर चट्टान अनेकानेक प्राकृतिक प्रतीको का सुन्दर प्रयोग प्रयोगवादी कविता मे दिखाई देता है।

नये कवियो का भी मुख्य स्रोत प्रकृति ही है। गुलाब फूल, कमल नदी चादनी, काला मेघ सॉप साप ताल बरगद पुरवाई, धूप, आसमान, अग्निशिखा हिमप्रस्तर, उषा तिमिर निशा निर्झर, झील पानी बाध धार, पोखर, बवण्डर, पक्षी पृथ्वी, सागर नाव सूरज, मछली, आदि सैकडो प्राकृतिक प्रतीको का प्रयोग नयी कविता मे मिलता है।

नयी कविता मे प्रकृति के अनेक उपादान प्रतीक बनकर आये हैं मूर्त और अमूर्त दोनों रूपो मे। नये कवियो ने प्रकृति प्रतीको से आध्यात्मिक अभिव्यञ्जना का काम नही लिया जबकि आचार्यश्री ने उनका प्रयोग आध्यात्मिक विषयको ही स्पष्ट करने मे किया है। इसलिए उनकी तुलना करने का प्रश्न ही नही उठता। फिर भी हम विषय को समझ तो सकते ही है। प्रकृतिग्रहीत प्रतीको मे अज्ञेय भारती नरेश भारत भूषण भवानीप्रसाद मिश्र जगदीश गुप्त गिरिजाकुमार माथुर आदि के प्रतीको का विशेष मूल्य है। अज्ञेय इस क्षेत्र मे सर्वोपरि हैं। उनके कुछ प्रमुख प्रतीक है। सूर्य तारा चन्द्र मछली पल्लव पतग दीपक, मरु बादल झरना, लहर नदी सागर घास, सरोवर धारा कमल मानसर सूरजमुखी, अम्बर मेघ, अलका आदि। इनमे अज्ञेय ने मछली प्रतीक का प्रयोग इस प्रकार किया है।

अभी अभी जो
उजली मछली
भेद गई है

सेतुपर खडे मेरी छाया
(चली गई है कहां।) खड़ा सेतु पर हू मैं !
देख रहा हूं अपनी छाया

अरि, ओकरुणामय, प्रभामय, पृ १४,

यहा 'उजली मछली' सत्यानुभूति का सेतु उस स्थल का प्रतीक है जहा पर खडे होकर व्यक्ति कुछ ज्ञान प्राप्त करता है। आचार्यश्री ने मछली का प्रतीक प्रथम अध्याय मे मिथ्यात्वी के रूप मे प्रयुक्त किया है जिसमे बाल्टी से निकालकर उसे मिथ्यात्व से मुक्त करने की सकल्पना की गई है।

जल मे जनम लेकर भी
जलती रही यह मछली
जल से, जलचर जन्तुओ से
जड मे शीतलता कहा, मा,
चन्द पलो मे
इन चरणों मे जो पाई ।। मूक माटी पृ ८५, ६६ भी देखे।

इसी तरह बाल्टी (पृ ६५), बादल (पृ ९७), गुलाब (प ९८), शूल-फूल (पृ ९० १०१ २८६-८) ललित लताये (पृ १००), आदि प्रतीको का भी देखिए और उन्हे उनकी आध्यात्मिकता की ओर झुकते पाइये।

बबूल का प्रयोग प्रतीक रूपमें दु खद वस्तु नीच एव हानि कारक व्यक्ति, आभार आदि विभिन्न अर्थों को स्पष्ट करने के लिए किया गया है।

१ कल्पवृक्ष मे क्यो बबूल का भ्रम तेरे मन आया ?

रामचरित चिन्तामणि - रामचरित उपाध्याय - पृ ४२

२ कोमल कल्पवृक्ष को मानो कटकवृक्ष बबूल,
प्रेम फूल के रस पराग को गिनो द्वेष विष मूल।
मित्र यह बडी तुम्हारी भूल ।।

भारतगीत - श्रीधर पाठक, पृ ५३

३ लगाते रहे सदैव रसाल कभी भी बोये नहीं बबूल।

मर्मस्पर्श - हरि औध -पृ ८८

आचार्यश्री का बबूल भी जन्म से ही अपनी प्रकृति को कड़ी मानता है, पुण्य की परिधि उससे बिछुडी है, अपराधी / निरपराधी को वह पीटता है, अनर्थ करता है, निर्बल को सताता है, इसके बावजूद आचार्यश्री ने उसके पश्चात्ताप को दूरकर दूसरे के जीवन को सुधारने मे निमित्त मानने का आग्रह किया है। यह उनकी गुणग्राहिता और साधुता का प्रतीक है।

वचन कहता है शिल्पी कि
नीचे से निर्बल को ऊपर उठाते समय
उसके हाथ मे पीडा हो सकती है,
उसमे उठाने वाले का दोष नहीं
उठने की शक्ति नहीं होना ही दोष है
हा, हाँ।
उस पीडा मे निमित्त पडता है उठाने वाला
बस, इस प्रसग मे भी यही बात है।
कुम्भ के जीवन को ऊपर उठाना है
और इस कार्य में
और किसी को नही
तुम्हे ही निमित्त बनना है ।।
- मूक माटी, पृ २७२-३

फूल और शूल का प्रतीक वर्णन भी कम आकर्षक नही है जो आध्यात्मिकता की बात करता है। पद और उरग का प्रतीक भी देखिये जहा पद वालो के प्रति तीखा व्यग किया गया है। तथ्य यह है कि समूचा मूक माटी महाकाव्य प्रतीक के माध्यम से जीवन के सूत्र को सवलित करना चाहता है। इस सदर्भ मे हम मूक माटी के मूक विशेषणपर भी विचार कर ले।

मूक विशेषण की सार्थकता

प्रतीक सम्प्रेषण की प्रक्रिया का प्रभावक अग है जिसमे अतर्क्य अनुभूति, तरल सवेदना और भाव जगत की जीवन दृष्टि भरी रहती है। वह कविता की भीतरी और बाहरी

सरचना के बीच एक ऐसा सन्तुलन प्रस्थपित करता है जो अर्थ गाभीर्य से अधिक अर्थ की पूर्णता पर अधिक ध्यान केन्द्रित करता है। वह काव्य मे प्रयुक्त हो जाने पर जटिल और सश्लिष्ट बन जाता है क्योकि उसे सकेतार्थ के साथ साथ काव्योपादन के रूप मे भी मूर्तिमान बनना पडता है। रबिन्द्रनाथ श्रीवास्तव का यह कथन इस सदर्भ मे सटीक लगता है जब वे कहते हैं -- "काव्य प्रतीक मात्र शीशा या खिडकी केसमान नही होता जिसके सहारे बाहर के ससार को देखा या समझा जाना सभव है, वरना वह दर्पण के समान ही होता है जिसके भीतर कला ससार स्वय प्रतिबिम्बत होता रहता है"[1]। मूक माटी का भी कला ससार ऐसा ही है। जहा प्रतिपाद्य स्वयमेव अभासित हुए बिना नही रहता ।

मूक माटी मे मूक विशेषण है और माटी विशेष्य है। विशेषण के विषय मे न्याय मीमासा, व्याकरण, दर्शन, काव्यशास्त्र एव आधुनिक शैली विज्ञान मे बहुत कुछ लिखा गया है जिसपर यहा विचार करना आवश्यक नही है। हा, कात्यायन का मत अवश्य उल्लेखनीय है जहा उन्होने विशेषण विशष्य भाव पर प्रकाश डाला है। विशेषण विशेष्ययोरुभय "विशेषणत्वादुभयोश्चविशेष्यत्वा दुपसर्जना प्रमिद्धि "[2]। इसके अनुसार विशेषण-विशेष्य मे विवक्षा के आधार पर दोनो के विशेष्य होने की सम्भावना व्यक्त की गई है। मूक माटी मे भी यही स्थिति दिखाई देती है। जब माटी प्रधान रूप मे विवक्षित होती है तो मूक विशेषण और माटी विशष्य बन जाते है। पर जब माटी का साहचर्य भाव-बोधक को माटी तक ही नियमित कर देता है तो माटी विशेषण और मूक विशेष्य बन जाता है और ऐसी स्थिति मे मूक अबोध और असहाय तत्त्व का प्रतीक हो जाता है। मूक माटी का कवि यथास्थान इन दोनो रूपो को उद्घाटित करता है पर इनमे भी मूक विशेषण और माटी विशेष्य के रूप मे अधिक अभिव्यञ्जित हुए है। क्योकि गुण और द्रव्य में द्रव्य की ही प्रधानता मानी जाती है। बोली स्तर पर उसके लिग विज्ञान पर प्रश्न अप्रासगिक ही होगा। वह एक अविकारी विशेषण है जो विशेष्य के लिग का अनुकरण नही करता। वह तो गुण-सूचक विशेषण का काम करता है जो विशेष्य माटी के अन्तर्वर्ती स्वभाव एव धर्म की सूचना देता है।

---

१ ससर्गगत काव्य ससार · आलोचना, ४२,१९७७, स नामवर सिह, पृ ३१

२ माहाभाष्य, २-१-५७/१ तुलनार्थ देखे -स्वयम्भू स्तोत्र-६४ विशेष-वाच्यस्य विशेषण वचो यतो विशेष्य विनियम्यते च यत् ।

कवि की रचनाधर्मिता भ्राभिप्राय विशेषण की उपस्थिति में अधिक खिलती है। उसके रहने से वह प्राकृतिक सौन्दर्य को चामत्कारिक अलकारो से शब्दायित करता है और प्रकाशित कर देता है विशेष्य की उस सार्थक गुणवत्ता को जो अपने आप में अनुपम और सशक्त रहती है। आचार्यश्री की मूक माटी में ऐसे ही प्रयोग को रेखाकित किया गया है जो परिकर और एकावली अलकारो से एक वैशिष्ट्य स्थापित कर देता है।

मूक माटी का 'मूक' विशेषण अतीन्द्रिय अनुभवो को व्यञ्जित करता है। यह एक ऐसा अमूर्त विशेषण है जो माटी की विशेष अवस्था की ओर सशक्त ढग से सकेत करता है। मूक माटी जैसा प्रयोग हिन्दी साहित्य मे देखने मे नही आता। नरेश मेहता का "चिताजली-सी माटी सनी देह" और केदारनाथ सिह का "मूक सन्देशे" जैसे प्रयोगो को किसी सीमा तक यहा रखा जा सकता है। हिन्दी कवियो ने मौन विशेषण का प्रयोग कर अमूर्त विशष्य की मानसिकता पर प्रकाश डाला है। उदाहरणार्थ गिरिजाशकर माथुर ने मौन का सामान्य अर्थ मे प्रयोग किया है और मन की उदासी को वातावरण पर प्रक्षिप्त किया है -

मौन है वातावरण
ज्यो मौन है मन
मौन है वह सिन्धु-स्वर मेरा पुराना
दब रही आवाज मन की देह की भी
- मुहूर्त ज्वलित श्रेयो धूप के धान

शमशेर ने मौन सन्ध्या का मुख, मौन कमल, मौन दर्पण मौन आगन आदि के प्रयोगो से अन्त प्रकृति और बाह्य प्रकृति के अन्तरग समीकरण को अभिव्यक्त किया है -

मौन सन्ध्या का दिये टीका
रात
काली
आ गयी।
सामने ऊपर उठाये हाथ-सा

पथ बढ़ गया ।

घिर गया है समय का रथ कुछ और कवितायें

इसी तरह उन्होंने "मौन आगन" का प्रयोगकर पारदर्शी धूप के परदे का चित्रणकर मा की उदासी में जीवन्त विश्व की सृष्टि की है -

धूप कोठरी के आइने में खडी
हंस रही है पारदर्शी धूप के पर्दे
मुस्कराते मौन आगन में
मोम सा पीला बहुत कोमल नभ
आज बचपन का उदास मा का मुख
याद आता है ।

- धूप कोठरी के आइने में खडी कुछ और कविताये

भारत भूषण अग्रवाल का मौन विशेषण अधियारे के माध्यम से जीवन की चेतना को उन्मीलित करता है -

तू भी ओ अप्रस्तुत मन
टेर दे
घुटते तिमिर को स्वरो से विखेर दे ।
अभी पल झपते ही
मौन अधियारे - से
तेरे अनगिनती अपरिचित
सहयोगी
प्रतिध्वनि उठायेगे
गायेगे ।

स्वर ही किरण है ओ अप्रस्तुत मन

कुवर नारायण न पगु मिट्टी के माध्यम म दुर्निवार पार्थिव आकर्षण एव भौतिक खिचाव को रूपायित किया है -

आत्मा व्योम की ओर उठती रही
देह पगु मिट्टी की ओर गिरती रही

कहा वह सामर्थ्य
जिसे दैवी शरीरों मे गाया जाता है ।

नीली सतह पर - चक्रव्यूह

'गूगा प्रतीक' के माध्यम से उन्होंने असाम्नायावस्था एव निर्मम निस्सगता को रूपायित किया है मूक माटी जैसा-

सामने एक गूगा प्रतीक
निर्वाक शिला वह मूर्ति अचल
असमर्थ रहस्य चिन्ह केवल
नीचे पूर्ववत् लहराता था
प्रलयकर जल ।

- नचिकेता का सवाद आत्मजयी

इसी प्रकार धर्मवीर भारती की मौन हवाये, सर्वेश्वर ख्याल सक्सेना का मौन दीप, मौन घटिया, केदारनाथ अग्रवाल का मौन दिन, मौन शाम, मौन पत्थर, मौन मशाल की यातना, त्रिलोचन का मौन कली, मौन मूरतो का भी उल्लेख किया जा सकता है । प्रसाद को विरोधाभास अलकार अधिक प्रिय था इसलिए उन्होने मूक शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप मे न कर "मूक की घण्टाध्वनि " मे विरोधाभास को व्यक्त करने के लिए किया है । आचार्यश्री के प्रयोग मे ऐसा विराधाभास नही है प्रत्युत उसमे विधेयात्मकता झकृत होती है - उसकी वाणी मूक हो गई और भूख मन्द हो आई (पृ १३८) । अज्ञेय आदि शीर्षस्थ कवियो मे भी मूक शब्द का प्रयोग मिलता है पर इतनी अर्थवत्ता वहाँ नही दिखती है जो मूक माटी काव्य मे है ।

भाषा शैली

कविता सश्लिष्ट हुआ करती है इसलिए उसके किसी पक्ष का विश्लेषण करने पर भी हम उसके समग्र रूप तक पहुच सकते हैं । हिन्दी साहित्य की भाषा कही सस्कृतनिष्ठ है तो कही उर्दूनिष्ठ । द्विवेदी युग में दोनों प्रवृत्तिया मिलती हैं । बोलचाल की भाषा का भी प्रयोग कवियो ने किया है पर यहा सवेदना या काव्यानुभूति अधिक नही

दिखाई देती । छायावादी काव्य इस दृष्टि से परिपक्वता लिये हुए है । उसमें लाक्षणिकता तादात्म्यकता, चित्रात्मकता, दुरूहता, बिम्बात्मकता, नयी अर्थवत्ता चामत्कारिकता जैसे तत्त्व भरे हुए हैं।

छायावादोत्तर काल में इन छायावादी काव्यगत विशेषताओं से मुक्त होने का प्रयास हुआ। इसलिए काव्य भाषा को बोलचाल की भाषा के निकट रखने का प्रयत्न किया गया । उर्दू शब्दो का प्रयोग कम और तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिक होने लगा । लक्षणा-व्यजना शक्तियो का उपयोग कम हो गया, प्रगतिवादी निराला की कुकुरमुत्ता कविता इसका अच्छा उदाहरण है । उसमें गद्यात्मकता अधिक आ गई पर छायावादी काव्य भाषा का भी प्रभाव वहां दिखाई देता है ।

प्रयोगवादी कवियो में वैयक्तिकता और विशिष्टता का आधिक्य हाने के कारण कविता में भाषा वैविध्य दिखने लगा । 'तार सप्तक' में कविता को प्रयोग का विषय माना गया । नये नये शब्दो का प्रयोग शुरु हो गया । अग्रेजी शब्द भी कविता मे घुस गये । शब्दालकार के स्थानपर अर्थव्यञ्जना पर ध्यान केन्द्रित हो गया । नयी कविता मे बिम्बात्मकता पर बल दिया गया, चित्रात्मकता उभरी । 'तीसरा सप्तक' सामने आया । छठे सातवे दशक तक आते आते कवि की सवेदना बदल गई, नगे और अश्लील शब्दो का खुलकर प्रयोग होने लगा । सौमित्र मोहन और निर्भय मल्लिक की कविताये इसके साक्षात् उदाहरण हैं। समूह सस्कृति का यह खासा प्रभाव लक्षित होता है । समाज की गतिशीलता के साथ ही काव्यभाषा की गतिशीलता का बढ जाना स्वाभाविक ही है ।

आचार्यश्री की भाषा सस्कृतनिष्ठ है, अलकार गर्भित है, तत्सम शब्दो के बाहुल्य रहने से कठिन हो गयी है । फिर भी इसमे उर्दू शब्दो का प्रयोग हुआ है । जैसे होश जोश, महसूस यकीन, एहसास, जमाना, माहौल, जोरदार, अफसोस कशमकश, नाजुक, नापाक आदि। इनके अतिरिक्त निरी, लेटा निभाडी, करवटे, पल्ला, करछुल, अनगिन, रेतिल, लाड़-प्यार, गाठ, टपटप, स्टारवार, गुरवेल, आदि जैसे प्रचलित शब्दो ने काव्य में जीवन्तता ला दी है। काकतालीय न्याय, परिशेष न्याय आदि शास्त्रीय न्यायो का उल्लेखकर अपनी विदग्धता का भी उन्होने परिचय दिया है ।

शब्दों का प्रयोग भाव और अवस्था के अनुसार किया गया है। माधुर्य, ओज आदि गुणों के माध्यम से वर्ण विन्यास आकर्षक हो गया है। रसों की प्रकृति के अनुकूल शब्दों का चयन हुआ है। उनमें अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना का भी प्रयोग दृष्टव्य है। अभिधा के प्रयोग ने हर कथन को स्पष्टता दी है। लाक्षणिक और ध्वनिगत प्रयोगों ने 'मूक माटी' के प्रतीकों को नया आयाम दिया है और कवि को छायावादी कवियों के बहुत आगे प्रस्थापित कर दिया है।"

मूक माटी में माटी जैसा पतित और शोषित तत्त्व किस प्रकार स्वयं की स्थिति पर निर्मुक्त ढंग से विचार करता है और अपनी वेदना को अपनी माँ के समक्ष इस आशय से प्रस्तुत करता है कि उसकी यह (पतितावस्था-मिथ्यात्व अवस्था) कब और कैसे दूर होगी ? यह जिज्ञासा स्वात्मोत्थान का मूल अंग है, श्रावक की सही दशा का प्रतीक है। इस जिज्ञासा में श्रावक की भावदशा को खोजा जा सकता है। देखिये -

स्वयं पतिता हूं
और पतिता हूं औरों से,
अधम पापियों से
पद दलिता हूं मां।
सुख मुक्ता हूं। दुःख युक्ता हूं।
तिरस्कृत त्यक्ता हूं मां!
इसकी पीडा अव्यक्ता है
व्यक्त किसके सम्मुख करूं
इस पर्याय की इति कब होगी ?
इस काया की च्युति कब होगी ?
बता दो मां --- इसे।
इसका जीवन यह उन्नत होगा या नहीं ?
अनगिनत गुण पाकर अवनत होगा या नहीं ?
कुछ उपाय करो मां!
कुछ उपाय हरो मां!

- मूक माटी पृ ४-५

"स्वभाव से ही प्रेम है हमारा। और स्वभाव में ही क्षेम है हमारा" कहकर कवि माटी की प्रकृति को सामने रखता है और कहता है कि पुरुष का प्रकृति में ही रमना मोक्ष है, सार है (पृ. ९३)। यहां भावावेश भी दृष्टव्य है। इस प्रकृति का अन्यत्र परिचय जो दिया है उसमें माटी की अन्यतम विशेषता समता का प्रकाशन करना कवि का अभिधेय दिखाई देता है।

अब अपनी प्रकृति का परिचय क्या दूं ?
"जो कुछ है, खुला है" , यू कुम्भ ने कहा।
यह घट घूंघट से परिचित हुआ भी कब ?
अच्छादन के नाम से
इस पर आकाश भर तना है
चाव, बचाव, सब कुछ
इसी की छाव में है।
पास यदि पाप हो तो छुपाऊ
छुपाने का साधन जुटाऊ
औरो की स्वतन्त्रता यह
यहां आ लुटती नहीं कभी,
न ही किसी से अपनी मिटती है।
किसी रग - रोगन का मुझपर प्रभाव नहीं
सदा सर्वथा एक-सी दशा है मेरी
इसी का नाम तो समता है
इसी समता की सिद्धि के लिए
ऋषि महर्षि सन्त साधु जन
माटी की शरण लेते हैं
यानी, भू-शयन की साधना करते हैं।
और
समता की सखि, मुक्ति वह
सुरों, असुरों, जलचरों

और कषायों को नहीं
ममता-सेवी पुत्रों को करती है।

—मूक माटी पृ. १७७-७८

माटी का मानवीकरण प्रस्तुतकर कवि ने माटी को और भी जीवन्त बना दिया है (पृ.१४)। माटी और स्वर्ण के बीच संवाद उपस्थितकर कवि ने माटी की और भी अन्तरिकता का परिचय दिया है -

माटी स्वयं भीगती है दया से
और, औरों को भी भिगाती है।
माटी मे बोया गया बीज
समुचित अनिल-सलिल पा
पोषक तत्त्वों से पुष्ट-पूरित
सहस्र गुणित हो फलता है।

माटी की मूकता और उसकी उपादान शक्ति यह अभिव्यञ्जित करती है कि व्यक्ति में, हर आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति है। बशर्ते वह बहिरात्मा से अन्तरात्मा की ओर मुड जाये, अहंकार और ममकार का विसर्जनकर उस जीवन धारा को स्वीकार कर ले जो पूरा प्राकृतिक है, स्वाभाविक है। हर बीज में अनगिनत संभावनाये छिपी हैं, निजता की स्वानुभूति में वे संभावनाये अभिव्यक्त हो जाती हैं, जिज्ञासा से ज्ञान की ओर उसका विकास होता है, आस्था और नियम से वह परमात्म-अवस्था की ओर बढ जाता है। और पाता है एकदिन उस परम विशुद्ध अवस्था को, मंगलकलश के स्वरूप को जिसे सभी प्रणाम करते हैं, वन्दना करते हैं।

अलंकार विधान और सौन्दर्य चेतना

अलंकारो का सुन्दर प्रयोग कवि की प्रतिभा और क्षमता का एक सुन्दर निदर्शन है। उसकी सौन्दर्य चेतना का पुष्पित अभिव्यंजन है। कभी वह बाल रवि-रश्मियों का आनन्द लेता है तो कभी रिम-झिम बरसती नन्ही-नन्ही बूंदो की फुहार के साथ प्रकृति की रम्य धरा पर विचरण करता है, कभी माटी की चेतना पर गहराई से चिन्तन करता हुआ नदी, नाले, समुद्र, निर्झर को मानस-पटल पर लाता है तो कभी दुर्गम झाड़ियों, जंगलों,

शैलों और सरोवरो में आदमी को बैठाकर आध्यात्मिक जागरण की सीख देता है और बीज मे सुप्त सम्भावना को उजागर करता है। अपने उन प्रभावक शब्दों से जिनमें उसकी सौन्दर्य चेतना झलकती दिखती है एक विशिष्ट आत्मिक अनुभूति के साथ।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में इस सौन्दर्य चेतना का प्रयोग भारतेन्दुकाल के बाद क्रमश अधिक होता गया है। द्विवेदी युग में अनुप्रास का प्रयोगकर कवियो ने भाषा को मधुर बना दिया। छायावाद काल में उसमे तादात्मकता और ध्वन्यात्मकता का प्रवेश हुआ, यमक, वक्रोक्ति, प्रहेलिका आदि अलकारो की सार्थकता बढी, अर्थालकारो मे प्रगाढता आई, अप्रस्तुत-विधान को नया क्षितिज मिला, सूक्ष्म सौन्दर्य-चेतना का विकास हुआ, सादृश्य साधर्म्य मे चमत्कृति आई, और वैयक्तिक सवेदना को मूर्तरूप देने के लिए मानवीकरण का प्रचुर प्रयोग हुआ। उत्तर छायावादी गीत-कविता अर्थालकर-शून्य दिखाई देती है। वहा न सवेदना है और न सौन्दर्य बोध। प्रयोगवाद मे अप्रस्तुत विधान अवश्य कुछ अधिक प्रभावक हुआ है। नयी कविता तक आते आते परम्परागत उपमान अदृश्य से हो गये । उसमें मात्र बौद्धिक आयास दिखाई देता है, रागात्मकता और कल्पनात्मकता कम साठोत्तर कविता तो सपाटबयानी का प्रारूप बन गई। उसमे अप्रस्तुत विधान अदृश्य से हो गये। पर परम्परागत अलकारों के स्थान पर प्रतीक और बिम्बों की प्रधानता हो गई। धीरे धीरे पुन अलकार प्रियता बढती दिखाई देती है और उसमे सौन्दर्य चेतना झाकने लगती है।

सौन्दर्य चेतना

सौन्दर्य चेतना कलाकार की प्राथमिक स्वीकृति है। प्रसादका "सौन्दर्य विवेक" निराला का "तटस्थ भावन" और पन्त का "अन्तर्मन का सगठन" इसी सौन्दर्य चेतना के अभिन्न सूत्र हैं जो उनके समग्र काव्य साहित्य मे उपलब्ध होते हैं। इनमे पन्त का झुकाव आध्यात्मिक सौन्दर्य से अधिक सम्बद्ध लगता हैं। यह आध्यात्मिक सौन्दर्य अन्तर्जगत की विशुद्धि पर आधारित होता है। महादेवी भी इसी आध्यात्मिक किवा रहस्यात्मक अनुभूति के सौन्दर्य का पक्ष लेती है। यह छायावादी सौन्दर्य चेतना प्रकृति और नारी के इर्द गिर्द घूमती है जहा कवियों ने प्रकृति सुदरी पर प्रकृति और नारी के रूप और क्रिया व्यापारों का आरोपण किया है और कही-कही नारी रूप पर प्रकृति-सौन्दर्य का। मानवीकरण और अप्रस्तुत विधान के कारण यह सौन्दर्यांकन कहीं सूक्ष्म और कहीं मासल हो गया है

। पन्त के सौन्दर्य चित्रण को निराला ने "वेश्या-सौन्दर्य" की संज्ञा दी है। उनकी दृष्टि से एक दिव्य सौन्दर्य भी होता है जो अतीन्द्रिय धरातल पर स्वर्गीय आभा की बिखेरता है। पन्त ने इसे भावसौन्दर्य या अतीन्द्रिय सौन्दर्य कहा है। प्रसाद ने भी आन्तरिक सौन्दर्य की बात की है। इसके बावजूद छायावादी सौन्दर्य चेतना में कल्याण की भावना निहित नही दिखाई देती है।

आचार्यश्री की काव्य कृति के हर शब्द कल्याण चेतना से भरे हुए हैं और कल्पना से उनमे नये नये रग उभारे गये हैं। भास्कर का वर्णन देखिये

सिन्धु मे बिन्दु-सा
मा की गहन गोद मे शिशु-सा
राहु के गाल में समाहित हुआ भास्कर।
दिनकर तिरोहित हुआ-सा
दिन का अवसान-सा लगता है
दिखने लगा दीन-हीन दिन
दुर्दिन से घिरा दरिद्र गृही - सा
मूक माटी, पृ २३८

राहू द्वारा प्रभाकर के निगलने का वर्णन बडा मनोहरी है -

कुटिल व्याल चाल वाला
कराल - गाल गालवाला
साधु-बल से रहित हुआ
बाहु-बल से सहित हुआ।
वराह - राह का राही राहु
हिताहित - विवेक - वंचित
स्वभाव से क्रूर क्रुद्ध हुआ
कोलाहल किये -बिना
बस, साकूत ही
निगलता है प्रताप-पुंज प्रभाकर को ।
- वही , पृ २३८

बादलों से घिर जाने पर वातावरण कैसा बन जाता है, किस तरह इन्द्रधनुष आता है बिना इन्द्र के, यह कल्पना देखिये -

घनों के ऊपर बिछन छा गया
भू-कण सघन होकर भी
अघ से घेर अनघ रहे
घनों के कण अनघ कहाँ ?
अघों के भार, सौ-सौ प्रकार
सो भयभीत हो भाग रहे,
और भूकण ये भूखे - से
काल बनकर
भयंकर रूप ले
जलकणों के पीछे भाग रहे हैं।
इस अवसर पर इन्द्र भी
अवतरित हुआ अमरों का ईश
परन्तु उसका अवतरण गुप्त रहा
दृष्टिगोचर नहीं हुआ वह,
केवल धनुष दिख रहा ,
कार्यरत इन्द्रधनुष ।

सौन्दर्य चेतना की गहराई आकने के लिए मूक-माटी के इन उदाहरणो को भी देखिये - धरती की विशेषता पृ १९०, १९३, २५३, सागर विशेषता (पृ १९३-४-९६), सेठ की दशा (पृ ३००, ३५०), उफनता दूध (पृ २१९), वर्षा (पृ २४४), धरती की कीर्ति (पृ. २६२), बिजली का कोधना-ओला वृष्टि (पृ २४८, २५०-१), सौर और भूमण्डल (पृ २४९), श्रीफल चोटी (पृ ३११), स्वर्णिम मुद्रा (पृ २३७), कपोल कुण्डल (पृ ३३८), राहुकल्पना (पृ २३४), राहुकार्य (पृ २३८), पक्षौदल (पृ ३३९-६०), धूलिकण (पृ. २४२), प्रकृति-चित्रण-निदाघ-सूर्य -चन्द्रमा (पृ १९०-३), वर्षा (पृ १९६), वदली (पृ १९९, २०८, २३३), सागर - समुद्र (पृ. २२४), बडवानल

(पृ २२५), बादल (पृ २२७), तीन जलधर (पृ.२२८-३०), प्रभाकर से सघर्ष (पृ २३०), गुलाब (पृ २५५), कांटा (पृ.२५६), पवन (पृ.२५७), वसुधा (पृ.१८९), जलधि (पृ.१८९,१९९), स्वप्न (पृ २९५), सरगम (पृ ३०५-८), स्वस्तिक (पृ.३०९), क्रोध बादल के साथ (पृ २५२), पुष्प पवन मेल (पृ ३०९), बादल की कृतघ्नता (पृ १६७), ओलावृष्टि (पृ २६२), सूरज (पृ २६५), अवा धूम (पृ.२७९), अग्नि (पृ २८१), रंग चेतना (पृ २२७-८), नीलिमा (पृ १), गन्ध (पृ.३), आंखें रजकण (पृ ३६०), प्रभात (पृ १९), वसन्त आदि ऋतुऐं (पृ १७७-९), संप्रेषण विशेषता (पृ ४५),उपाश्रम विशेषता, फूलमाला (पृ ७६), हितदान (पृ.९०), नेत्रमुख रसना-नासा (पृ ११७-१९), मौन (पृ ११९,१२१,१२९), चन्दन तरु लिपटी नागिन-सी (पृ १३०), वाणी मूक हो गई (पृ १३८), कलिका की संभावनायें (पृ १४०-१), स्वर सगीत (पृ १४५-६), आत्मकथा (पृ १४६), माँ की ममता (पृ १४८,२६५), पवन पथ (पृ १५१-२) करुणा की दार्शनिकता (पृ १५४), करुणा और शान्तरस का पार्थक्य (पृ १५५-६), ससार (पृ १६१), प्रकृति और माटी (पृ ३९३), माटी समता का प्रतीक (पृ ३७५-८), मशाल और माटी दीपक (पृ ३६६-७), कुम्भ प्रार्थना (पृ ३७१-२), माटी का स्वागत क्यों (पृ ३६३), माटी और स्वर्ण (पृ ३६४-६६), माटी की विशेषता (पृ ८,९३, ९४), आस्था (पृ १०), माटी का मानवीकरण (पृ १४), प्रकृति का मानवीकरण (पृ २२१), शिल्पी कुम्भकार (पृ २७-२८,२५५, २७३), ओंकार और णमोकार (पृ.२७५,२८,३९८,-४००), ध्यान (पृ ४०३), परमार्थ (पृ २५३), प्रभात (पृ १९), सरितातट (पृ २०, ३), क्षीरसागर की पावनता (पृ ८१), सल्लेखना (पृ.८७), करुणा नहर की भांति (पृ १५४), तपन तपस्या (पृ १७७-८), मुनिचर्या साधु की आहार प्रक्रिया (पृ ३७३), साधु विशेषतायें (पृ ३२६,३३०), भ्रामरी वृत्ति (पृ ३३४), साधना (पृ ३९०), वांस पंक्ति (पृ ४२४), आधुनिक समाज (पृ.७१, ८१,८२,२७१-२, १५१-२), आतंकवाद (पृ २५०-१), प्राण दण्ड कहां तक ठीक (पृ.४३०-३१), सरिता और सागर (पृ ११२), सिंह और संस्कृति (पृ.१७१), पादतन्त्र (पृ.१०८-९), स्वप्न (पृ २९५), मंत्र प्रयोग दशा (पृ.४३७), माटी और स्वर्ण (पृ.३६५), माटी और झारी (पृ.३७४), धनिक और मच्छर (पृ.३८५), मत्कुण (पृ ३८८), दमन साधना

(पृ.३९१), पुरुष और प्रकृति वासना (पृ.३९३-४), कला (पृ ३९६), ध्यान (पृ ४०१), प्रकृति चित्रण (पृ ४२३-२८), चक्रवात (पृ.४६६), आदि।

इन उद्धरणों मे आचार्यश्री की उपमान योजना और अलकार विन्यास प्रभावशाली ढंग से आया है। उपमान मितव्ययिता के माध्यम से कथ्य को प्रभविष्णु बना देता है। समस्त अलकारों मे उपमान (अप्रस्तुत) की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती है। उसका सम्बन्ध मात्र उपमा अलकार से ही नहीं अपि तु सादृश्य मूलक अलकारो से भी हैं। उपमा के साथ उपमान की विद्यमानता रहती है। इसलिए इसमें उपमामूलक सभी अलकार गर्भित हो जाते हैं। इसलिए रुय्यक का यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि उपमेव च प्रकार - वैचक्ष्येण अनेकालकार बीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्ट - काव्यालकार । भारतीय काव्यशास्त्र मे इसलिए उपमा का क्षेत्र अधिक व्यापक है। पर पाश्चात्य काव्यशास्त्र रूपक को अधिक महत्त्व देता है। इसमें कोई विशेष अन्तर नही है। ये दोनो ही काव्य के प्राण तत्त्व है। रस, अलकार, ध्वनि, व्यजना आदि सभी उपमान और रूपक के माध्यम से काव्य को प्रभावोत्पादक बना देते है। और साधरणीकारण तथा प्रेषणीयता की दृष्टि से काव्य-सौन्दर्य की रीढ सिद्ध होते हैं।

उपमान का आधार होता है साम्य, साधर्म्य और प्रभाव साम्य। इनमे रूपसाम्य और धर्मसाम्य का प्रभाव क्षेत्र अधिक व्यापक है। इनसे स्थूल मे सूक्ष्म और सूक्ष्म से स्थूल भावो की अभिव्यञ्जना होती है। इस अभिव्यञ्जना मे उपमान कभी परम्परागत होते हैं तो कभी युगीनता से समाविष्ट होते हैं नवीन होते हैं। इनमे प्रकृति से उपमान अधिक ग्रहण किये जाते हैं और फिर कुछ ऐसे उपमान होते है जो दैनन्दिन मे दिखाई देते हैं। छायावादी कविता मे प्राकृतिक उपमानो का प्रयोग अधिक हुआ है। नयी कविता मे पारम्परिक उपमानो के प्रति उतना लगाव नही है जितना नवीन उपमानो की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया है। सप्रेषणीयता की दृष्टि से यह आवश्यक भी था।

आचार्यश्री ने दोनों प्रकार के उपमानों का प्रयोग किया है। मोम, पापड, मुक्तात्मा, वनवासी, पाषाण खण्ड, घाव, छेद, घोसले, रस्सी, भूकण, हलवा, लकडी, बिजली, की कौंध, तप्त, लोह, मिट्टी का तेल, दीपक, मशाल, भाल, कूडा-कचडा, दात चना, श्रीफल, जटा, दर्पण प्रभाकर, जलाशय, सिंह, पवन, पादप, नदीप्रवाह, जलपान, स्वस्थ ज्ञान, शव, शिव, बबूल , कुम्भ, गुलाब, ताजी महक, पाखुरी, फूल, काटा, स्टारवार, पूर्णविराम,

उपग्रह, ईट, पत्थर, मर्कट, जलकण, धरती कुआ, सूर्य ग्रहण, पक्षोदन, शिशु, गुब्बे, गुरवेल, राहु, ज्वालामुखी, बडवाजल, बदली, मरघट, दोगला, सिंह, श्वान, आभरण, माटी, लौंदा, सिंदूरी आंखें, मखमल, लेखनी, पौधा, कुकुम, सिंदूर, मछली, कुटिया, कोठी, फेन, नागिन आदि नवीन उपमानो के माध्यम से विषय को नयी अनुभूति और नयी दिशा दी है। मेरु, जलधि, सूर्य, चन्द्रमा, चक्र, आदि जैसे परम्परागत उपमानो का भी यद्यपि सशक्त ढग से उपयोग किया गया है पर जो प्रभावात्मकता नये उपमानो के प्रयोग में आई है वह परम्परागत उपमानो के प्रयोग में नहीं दिखाई देती है।

शब्दालंकार

अलकारो का प्रयोग कवि साधन के रूप में करता है तो उसका काव्य सौन्दर्य अधिक झलकता है और यदि साध्य के रूप मे करता है तो आयास के कारण वह उतना प्रभावक नही हो पाता। यह प्रभावकता शब्द और अर्थ दोनो के माध्यम से होती है। अनुप्रास को छोडकर शब्दालकारो का प्रयोग आधुनिक कविता मे नगण्य और महत्त्व हीन है। द्विवेदी युग मे अलकारो का प्रयोग हरिऔध, श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी आदि कवियों मे अधिक मिलता है। यमक का विशेष प्रयोग रामचरित उपाध्याय के काव्य मे हुआ है। छायावादी कवियो मे पन्त ने "ग्रन्थि" मे यमक का अच्छा प्रयोग किया है। इसके बाद तो उसका प्रयोग अदृश्य सा हो गया। पर आचार्यश्री ने इसका प्रयोग पुन प्रारम्भ किया। उदाहरणार्थ -

सार-जनी रजनी दिखी
कभी शशि की हंसी दिखी
कभी-कभी खुशी-हसी दिखी
कभी सुरभि कभी दुरभि
कभी सन्धि कभी दुरभिसन्धि
कभी आंखे कभी अन्धी
बन्धन - मुक्त कभी बन्दी।।
कभी - कभी मधुर भी वह
मधुरता से विधुर दिखा

कभी - कभी बन्धुर भी वह
बन्धुरता से विकल दिखा।।

- मूक माटी पृ.१८३

इसी तरह यमक का उदाहरण और भी देखिये -

दल दल में बदल जाती है
करा अदया और दया के बीच
चेतना की सचेत रीत मिल रही है
मान का अवमान कब हो ।।

पुनरुक्ति अलकार देखें -

उजली - उजली जल की धारा
युगों- युगों से भवों- भवों से
और अब तो पानी-पानी होगा
तपा-तपाकर जला-जलाकर
राख करना होगा ।

अनुप्रास एक सहज धर्म है जो भाषा को मधुर और सगीतमय बना देता है । मैथिलीशरण ने प्रारंभिक रूप मे इसका प्रयोग किया । वैसे द्विवेदी युग के कवि अनुप्रास का प्रयोगकर भाषा को मधुर बनाने मे सफल रहे हैं। "चारु चन्द्र की चचल किरणे" इसका एक अच्छा उदाहरण है । पर छायावाद में उसमे ध्वन्यार्थ व्यञ्जना आई । पन्त की ध्वन्यार्थ व्यञ्जना सतही तौर पर अधिक दिखाई देती है जबकि निराला अर्थ व्यञ्जना पर बल देते है। आधुनिक हिन्दी कविता मे लाटानुप्रास का प्रयोग दिखाई नही देता । पर आचार्यश्री के काव्य मे अनुप्रास तो हर पन्ने पर छाया हुआ है, साथ ही लाटानुप्रास भी कम नही है। उदाहरणत अनुप्रास देखें :

किसलय ये किसलिए
किस लय मे गीत गाते हैं
किस वलय मे से आ
किस वलय में क्रीत जाते हैं

और अन्त - अन्त में क्या इनके किस लय में गीत गाते हैं
किसलय ये, किस लिए
किस लय में गीत गाते हैं ।

- मूक माटी पृ.२४१-२

जो सरपट सरक रही है
अपार सागर की ओर
धरा-धूल से आ धूमिल हो
दल दल में बदल जाती है ।

लाटानुप्रास - इनका प्रयास चलता है सर्वप्रथम
प्रभाकर की प्रभा को प्रभावित करने का
प्रभाकर को बीच में ले
परिक्रमा लगाने लगीं
कुछ ही पलों मे
प्रभा तो प्रभावित हुई
परन्तु,
प्रभाकर का पराक्रम वह
प्रभावित-पराभूत नहीं हुआ। पृ-२००

श्लेष - बादल दल छट गये हैं
काजल- पल कट गये हैं,
वरना लाली क्यों फूटी है,
सुदूर --- । प्राची मे ।। पृ ४४०
'मर हम मरहम बने' । पृ १७४
'मै दो गला' । पृ. १७५

इन शब्दालंकारों को नादमूलक अलंकार भी कहा जाता है। बाद में सहज स्वाभाविक संगीत योजना रहती है जिससे श्रोता का चित्त चमत्कृत हो उठता है, आल्हादित हो उठता है और सवेदनशील मन भावावेग में नृत्य-सा करने लगता है ।

अर्थालंकार

अर्थालंकार में उपमा मूलक अलंकारो की प्रधानता रहती है। औपम्यमूलक अलंकारों का आधिक्य भी है। अप्रस्तुत के माध्यम से वहाँ बहुत कुछ कह दिया जाता है। भारतेन्दु युग मे अलंकारो का प्रयोग कम हुआ है। द्विवेदी युगीन काव्य में उनका प्रयोग मिलता है अवश्य पर शास्त्रबद्धता अधिक दिखाई देती है। यद्यपि वहां परम्परागत उपमानो का भी प्रयोग हुआ है पर उनमें चित्रात्मकता और क्रिया - व्यापार - व्यञ्जना अधिक प्रभावशाली हो गई है। प्रसाद और निराला के उपमानों में पन्त और महादेवी की अपेक्षा मांसलता अधिक है।

धीरे धीरे सशय से उठ
बढ अपयश से शीघ्र अछोर
नभ के उर मे उमड मोह से
फैल लालसा से निशि भोर।

वादल, सुमित्रानदन पंत, पृ १३२

सिसकते, अस्थिर मानस से
बाल, बादल-सा उठकर आज
सरल अस्फुट उच्छ्वास ।
अपने छाया के पखो मे
मेरे आसू गूथ, फैल गम्भीर मेघ-सा
आच्छादित कर ले सारा आकाश ।

- पल्लव - पन्त पृ ५५

प्रयोगवादी कवितामें परम्परागत उपमान लगभग लुप्त से हो गये और उनका स्थान नये उपमानो ने ले लिया है जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इन उपमानों मे एक ओर बौद्धिकता नजर आती है तो दूसरी ओर विचित्रता भी । साठोत्तरी कविता में यह अप्रस्तुत विधान विरत हो जाता है और प्रतीकों और बिम्बो की प्रधानता आ जाती है जिसमे मानवीकरण उभरकर सामने आता है ।

आचार्यश्री विद्यासागरजी साधर्म्यमूलक अलंकारों का प्रयोगकर छायावादी कवियों की पंक्ति में बैठ गये। उनके उपमान परम्परा मूलक न होकर नये हैं और उनमें अर्थवत्ता भी है।

उपमा - हरियाली को हरनेवाली
मृग मरीचिका से भरी
सुदूर तक फैली मरुभूमि में
सागर-मिलन की आस भर ले
वलहीन सपाट-तट वाली
सरकती पतली-सरिता-सी ।। पृ ३५१
हीरा बने और खरा बने कञ्चन - सी
फूल दलों - सी पूरी फूली माटी है ।।

मालोपमा - पर - पर दया करना
बहिर्दृष्टि - सा
मोह- मूढता सा
स्वपरिचय से वंचित - सा
अध्यात्मसे दूर प्राय लगता है ।

उत्प्रेक्षा - लज्जा के घूंघट में, डुबती - सी कुमुदिनी
प्रभाकर के कर-छुवन से बचना चाहती है वह
अपनी पराग को, सराग मुद्रा की
पाखुरियों की ओट देती है । पृ.२
रजत - पालकी में विराजती
पर, ऊबी सी .
लज्जा - सकोचवती - सी
राजा की रानी यात्रा के समय
रनवास की ओर निहारती - सी ।। पृ.४२

रूपक - स्वयं रज - विहीन सूरज ही,
सहस्र करों को फैलाकर
सुकोमल किरणांगुलियों से
नीरज की बंद पांखुरियों-सी
शिल्पी की पलकों को सहलाता है - पृ २६५

हरीताभ की साडी, मां माटी के माथे पर पद निक्षेप आदि सैकडों स्थानों पर रूपकालकार का प्रयोग हुआ है। बादल को लेकर भी रूपक का प्रयोग हुआ है । नरेश मेहता भारत-भूषण अग्रवाल आदि कवियो की कविताओ में जिस प्रकार पूर्ण रूपक मिलता है, आचार्यश्री ने भी उसका प्रयोग किया है, कही अधिक आकर्षण के साथ --

अपन्हुति - सीसम के श्यामल आसन पर
चादी की चमकती तश्तरी मे
पडा पडा केसरिया हलुवा
जिस हलुवे में एक चम्मच
शीर्षासन के मिस
अपनी निरुपयोगिता पर
लज्जित मुख को छुपा रहा है ।

अन्योक्ति - अरे पथभ्रष्ट बादलो !
बल का सदुपयोग किया करो,
छल-बल से
हल नहीं निकलने वाला कुछ भी ।
कुछ भी करो या न करो
मात्र दल का अवसान ही हल है। पृ २६१

उल्लेख - फूल - दलों सी पूरी फूली माटी है
माटी का यह फूल नहीं
चिकनाहट स्नेहिल अंग पर
आदिम रूप मूलक है,

और, रूखेपन का,
हेयिल भाव का
अभाव रूप उन्मूलन है।

सन्देह - सत्य का आत्म - समर्पण
और वह भी असत्यके सामने ?
हे भगवान्
यह कैसा काल आ गया,
क्या असत्य शासक बनेगा अब ?
क्या सत्य शासित होगा ?
हाय रे जौहरी के हार में
आज हीरक- हार की हार। पृ ४६)

प्रश्नालकार - चेतन की इस सृजन-शीलता का भान किसे है ?
चेतन की इस द्रवणशीलता का ज्ञान किसे है?
इसकी चर्चा भी कौन करता है रुचि से ?
कौन सुनता है मति से ?
और इसकी अर्चा के लिए किसके पास समय है?
आस्था से रीता जीवन यह धार्मिक वतन है मा। पृ ४६९

तुल्ययोगिता - गति या प्रगति के अभाव मे
आशा के पद ठण्डे पडते हैं
धृति, साहस, उत्साह भी
आह भरते है।

परिकर - दया-करुणा निरवधि है करुणा का केन्द्र वह
सद्-सामर्थ्य चेतन है पीयूष का केतन है।

समासोक्ति - बदले का भाव वह दलदल है
कि जिसमें बडे बडे बैल क्या
बलशाली गजदल भी
बुरी तरह फस जाते हैं।

काव्यलिंग - साधना के क्षेत्र में
स्खलन की संभावना
बनी ही रहती है बेटा ।
स्वस्थ प्रौढ पुरुष क्यों न हो ।
कोई लगे पाषाण पर
पद फिसलता ही है ।

यथासंख्य - वासना का विलास मोह है
दया का विकास मोह है
एक जीवन को बुरी तरह जलाती है,
भयकर है, अगार है
एक जीवन को पूरी तरह जिलाती है
शुभकर है, शृंगार है ।

दृष्टान्त - बिना अध्यात्म दर्शन का दर्शन नहीं
लहरो के बिना सरोवर वह रह सकता है, रहता भी है ।
पर हा, बिना सरोवर लहर नहीं

आचार्यश्री के मूक माटी महाकाव्य में से कतिपय अलकारों की यह बानगी है जिसे पढकर पाठक उस काव्य की श्रेणी और कथ्य का अनुमान लगा सकता है । यहां मानवीकरण भी अपनी भव्यता के साथ प्रयुक्त हुआ है । कवि ने व्यापक स्तर पर अलकारो का प्रयोग किया है जिनकी सूक्ष्म कल्पनाये अमूर्त उपमानो के माध्यम मे साकार होती सी दिखाई देती हैं। जीवन के विभिन्न पक्षों को इनमे उद्घाटित किया गया है और दैनिक जीवन के उपकरणो को उपमान रूप में प्रयुक्तकर उस अभिव्यक्ति मे और भी जीवन्तता ला दी है । नयी कविता मे अध्यात्म के द्वार बन्द से है पर मूक माटी में अध्यात्म के ही द्वार खुले हैं । अत उद्देश्य की भिन्नता से प्रभावात्मकता मे भी भिन्नता है । मूक माटी की प्रभावात्मकता को प्रस्थापित करने मे कवि की सौन्दर्य चेतना का महत्त्वपूर्ण योगदान है ।

।। सम्पूर्ण ।।

संदर्भ ग्रन्थसूची

आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ	डॉ नगेन्द्र
आधुनिक बोध और आधुनिकीकरण	डॉ रमेश कुन्तल
आधुनिकता और सृजनात्मक साहित्य	डॉ इन्द्रनाथ मदान
छायावाद का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन	डॉ कुमार विमल
तार सप्तक	स. अज्ञेय
दूसरा सप्तक	स. अज्ञेय
तीसरा सप्तक	स अज्ञेय
नई कविता कथ्य एव विमर्श	डॉ अरुण कुमार
छायावादोत्तर कविता में समाज-समीक्षा	अनिल राकेशी
समसामयिक हिन्दी कविता विविध परिदृश्य	डॉ. गोविन्द रजनीश
समकालीन कविता की भूमिका	डॉ विश्वम्भर नाथ उपाध्याय
नई कविता का मूल्यबोध	डॉ शशि सहगल
मिथक और साहित्य	डॉ नगेन्द्र
रस गगाधर	पण्डित जगन्नाथ
साहित्य दर्पण	विश्वनाथ कविराज
सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व	डॉ कुमार विमल
निराला काव्य का अध्ययन	डॉ भगीरथ मिश्र
आधुनिक साहित्य मूल्य और मूल्यांकन	डॉ. निर्मला जैन
प्रगतिवाद और समानान्तर साहित्य	रेखा अवस्थी
आधुनिक हिन्दी कविता का अभिव्यजना शिल्प	डॉ. हरदयाल
प्रतीक शास्त्र	परिपूर्णनन्द वर्मा
आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद	डॉ चन्द्रकला

काव्यबिम्ब और कामायनी की बिम्ब योजना	डॉ पचशीला भुवालका
महादेवी वर्मा	डॉ गुर्टू
गजानन माधव मुक्तिबोध	लक्ष्मणदत्त गौतम
आधुनिक हिन्दी कविता में अलंकार विधान	डॉ जगदीश नारायण त्रिपाठी
दिनकर की काव्य भाषा	डॉ तिवारी
पंत का काव्य	डॉ प्रेमलता बाफना
शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त	डॉ गाविन्द त्रिगुणायत
प्रसाद के काव्य का शास्त्रीय अध्ययन	सुरेन्द्रनाथ मिह
जायसी की बिम्ब योजना	डॉ सुधा सक्सेना
कबीर साधना और साहित्य	डॉ प्रताप सिह चौहान
अज्ञेय की काव्य चेतना	डॉ कृष्ण भावूक
हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास	डॉ वीरेन्द्र सिह
प्रगतिवादी काव्य	डॉ उमेश चन्द्र मिश्र
जैन दर्शन	डॉ महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य
जैन दर्शन और सस्कृति का इतिहास	डॉ भागचन्द्र जैन "भास्कर"
भगवान महावीर और उनका चिन्तन	डॉ भागचन्द्र जैन "भास्कर"
जैनिज्म इन बुद्धिस्ट लिटरेचर	डॉ भागचन्द्र जैन "भास्कर"
जैन रहस्यवाद	डॉ पुष्पलता जैन
हिन्दी जैन काव्य और प्रवृत्तियाँ	डॉ. पुष्पलता जैन
जैन सांस्कृतिक चेतना	डॉ पुष्पलता जैन
मूक माटी काव्यशास्त्रीय निकष	प्रो शीलचन्द्र जैन
आधुनिक युग में नवीन रसोंकी परिकल्पना	सुन्दर लाल कथूरिया, दिल्ली, १९७६
समीक्षा शास्त्र के भारतीय मानदण्ड	रामसागर त्रिपाठी, दिल्ली, १९७०

शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त,	गोविन्द त्रिगुणायत, दिल्ली, १९८०
आधुनिकता : साहित्य के सन्दर्भ में	गंगा प्रसाद विमल, दिल्ली, १९६८
प्रतीक शास्त्र	परिपूर्णानन्द वर्मा, लखनऊ, १९६४
सृजन और सम्प्रेषण	सच्चिदानन्द वात्स्यायन, दिल्ली, १९८७
हिन्दी महाकाव्य : सिद्धान्त और मूल्यांकन	देवीप्रसाद गुप्त, जयपुर १९६८
हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास	वीरेन्द्र सिंह, प्रयाग १९६५
हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण	किरण कुमारी गुप्त, प्रयाग सं २०१४
आधुनिक कविता का अभिव्यञ्जना शिल्प	डॉ हरदयाल इलाहाबाद १९७८
सन्त काव्यधारा	परशुराम चतुर्वेदी किताबमहल, १९८१
कबीर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व	सरनाम सिंह जयपुर
तुलसी साहित्य में बिम्ब-योजना	सुशीला शर्मा, दिल्ली, १९७२
जायसी की बिम्ब योजना	सुधा सक्सेना, दिल्ली, १९६६
नया काव्य : नये मूल्य	ललित शुक्ल दिल्ली, १९७१
छायावादी काव्य में सौन्दर्य दर्शन	सुरेशचन्द्र त्यागी, मेरठ, १९७६
काव्य बिम्ब और कामायनी की बिम्बयोजना	धर्मशीला मुवलका जयपुर, १९७२
निराला की काव्यभाषा	शकुन्तला शुक्ल वाराणसी १९८०
पन्त का काव्य	प्रेमलता बाफना, देहरादून १९६९
दिनकर की काव्यभाषा	यतीन्द्र तिवारी कानपुर, १९७२
आधुनिक हिन्दी कवियों के काव्य सिद्धान्त	सुरेशचन्द्र गुप्त, दिल्ली १९६०
गजानन माधव मुक्तिबोध	लक्ष्मणदत्त गौतम दिल्ली, १९७२
आधुनिक हिन्दी कविता में अलंकार	विधान, कानपुर, १९६२
अज्ञेय की काव्यचेतना	दिल्ली, १९७२
प्रगतिवादी काव्य	शचन्द्र मिश्र, कानपुर १९६६

ग्रन्थ

आधुनिक हिन्दी साहित्य की मानवतावादी भूमिकाएँ	देवश ठाकुर मेरठ, १९७४
रत्नकरण्ड श्रावकाचार	आचार्य समन्तभद्र दिल्ली
सर्वार्थसिद्धि	आचार्य पूज्यपाद दिल्ली
तत्त्वार्थ वार्तिक	आचार्य अकलंक, दिल्ली
सागारधर्मामृत	पण्डित आशाधर दिल्ली
महापुराण	आचार्य जिनसेन, दिल्ली
प्रवचनसार	आचार्य कुन्दकुन्द दिल्ली
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	आचार्य कार्तिकेय रायचन्द्र ग्रन्थमाला १९६०
सूत्रकृतांग	शीलांक वृत्तिसहित भावनगर
नियमसार	आचार्य कुन्दकुन्द आगास
वरांगचरित	आचार्य जटासिंहनन्दि, सोलापुर
उपासकाध्ययन	आचार्य सोमदेव दिल्ली
दशवैकालिक	लाडनूं
अष्टपाहुड	आचार्य कुन्दकुन्द, महावीरजी
धवला	आचार्य पुष्पदन्त भूतबलि, सोलापुर
आवश्यक निर्युक्ति	भवनगर
प्रतिष्ठापाठ	आचार्य जयसेन
द्रव्यसंग्रह	देहली १९८३
यशस्तिलकचम्पू	आचार्य सोमदेव
आभामण्डल	आचार्य महाप्रज्ञ, लाडनूं
कसायपाहुड	मथुरा
अनागार धर्मामृत	पण्डित आशाधर, दिल्ली
मूलाचार	आचार्य वट्टकेर, दिल्ली
ज्ञानार्णव	आचार्य शुभचन्द्र, आगास
पञ्चास्तिकाय	बम्बई